अपभ्रंश और हिन्दी में जैन-रहस्यवाद

डा० वासुदेव सिंह
एम० ए०, पी-एच० डी०

संवत् २०२२]

[मूल्य १२·००

प्रकाशक
समकालीन प्रकाशन
वाराणसी

(विश्वविद्यालय अनुदान आयोग की सहायता से प्रकाशित)

प्रथम संस्करण, १००० प्रतियाँ

मुद्रक
काशी विद्यापीठ मुद्रणालय
वाराणसी-२

पूज्य पिता

श्री हेमसिंह जी

को
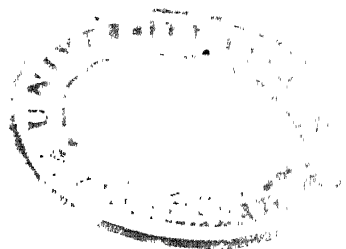
भूमिका

'रहस्यवाद' शब्द का प्रयोग हिन्दी में नया ही है। यह अंग्रेजी के 'मिस्टीसिज़्म' शब्द के तौल पर गढ़ लिया गया है। ऋषियों और सन्तों ने कहा है कि यह एक ऐसी अनुभूति है जो अनुभव करने वाला ही जान पाता है, जिस बोल-चाल की भाषा का हम नित्य प्रयोग करते हैं वह उसे अभिव्यक्त करने में असमर्थ है, क्योंकि वह भाषा जिस बाह्य जगत की यथार्थता को व्यक्त करने के लिए बनी है, वह उस श्रेणी के अनुभव का विषय नहीं है। यह एक प्रकार का ऐसा सम्वेदन है जो तदव्यावृति के द्वारा कुछ-कुछ बताया तो जा सकता है, लेकिन स्पष्ट रूप से प्रकट नहीं किया जा सकता। वह स्वसंवेदन ज्ञान है। इसी स्वसंवेद्य का अपभ्रंश रूप 'सुसंवेद' था, जो परवर्ती काल के संतों तक आते-आते 'सुछवेद' से बढ़ता हुआ 'सूक्ष्मवेद' बन गया। यह आध्यात्मिक अनुभूति है। सभी मतों के पहुँचे हुए सिद्ध कहते हैं कि यह गूंगे का गुड़ है, उसे प्रकट करने में मन, बुद्धि, वाणी सभी असमर्थ हैं। जैन साधकों ने भी अपने ढंग से इस बात को कहने का प्रयास किया है। आयुष्मान् श्री बासुदेव सिंह ने अपभ्रंश और हिन्दी में लिखी गयी जैन सिद्धों की वाणियों में इस चरम आध्यात्मिक अनुभूति का अध्ययन किया है। मुझे प्रसन्नता है कि उनका प्रयत्न समादृत होकर प्रकाशित हो रहा है। इस विषय पर हिन्दी में ही नहीं, अन्य भाषाओं में भी कम ही काम हुआ है। बहुत से लोग तो यह सुनकर ही आश्चर्य करते हैं कि जैन धर्म से भी रहस्यवाद का कोई सम्बन्ध हो सकता है। परन्तु जो लोग ऐसा सोचते हैं, वे सुनी-सुनाई बातों के आधार पर जैन धर्म के सम्बन्ध में धारणा बनाए होते हैं। वस्तुतः दर्शन के तर्कसंगत विश्लेषण के द्वारा आध्यात्मिक अनुभूति को समझने का प्रयत्न दुराशा मात्र है। दर्शन केवल इंगित भर करता है। हर दर्शन के पहुँचे हुए द्रष्टा अन्ततोगत्वा उसी परम सत्य का साक्षात्कार करते हैं। उस अनुभूति को व्यक्त करने में वाणी समर्थ नहीं होती, केवल इंगित मात्र से वह कुछ बता पाती है। जैन मरमी सन्तों की आध्यात्मिक अनुभूति अन्य सन्तों के समान ही थी।

आयुष्मान् डा० बासुदेव सिंह जी ने जैन मरमी सन्तों की इन आध्यात्मिक अनुभूतियों के रसास्वादन का अवसर देकर सहृदय मात्र को आनंदित किया है। मैं हृदय से इस कृति का स्वागत करता हूँ।

हजारीप्रसाद द्विवेदी
टैगोर प्रोफेसर आफ इण्डियन लिट्रेचर
तथा
अध्यक्ष, हिन्दी विभाग,
पंजाब विश्वविद्यालय, चण्डीगढ़-३

चण्डीगढ़
१०-६-६५ ई०

प्राक्कथन

'अपभ्रंश और हिन्दी में जैन-रहस्यवाद' मेरे पी-एच० डी० की उपाधि के लिए स्वीकृत शोध-प्रबन्ध का मुद्रित रूप है। 'रहस्यवाद' शब्द अनेक शताब्दियों से बहुचर्चित रहा है तथापि आज भी रहस्यमय बना हुआ है। इसे किसी भी सर्वमान्य परिभाषा में बाँधा नहीं जा सका है। रहस्यवाद के नाम से विभिन्न युगों में, विभिन्न देशों के साधकों और चिन्तकों ने, विभिन्न साधना प्रणालियों और विचारों को जन्म दिया है। किसी ने प्रकृति की उपासना को रहस्यवाद कहा, तो अन्य ने प्रिय-प्रेमी रूप में आत्मा-परमात्मा की प्रणय-दशा का चित्रण ही रहस्यवाद समझा; किसी ने रहस्यवाद के नाम से अस्पष्ट और अटपटी वाणी में दूरारूढ़ कल्पनाओं को जन्म दिया, तो अन्य ने सहज सरल ढंग से ब्रह्म की अनुभूति को रहस्यवाद बताया; किसी ने रहस्यवाद के द्वारा प्रज्ञा-उपाय और कमल-कुलिश साधना का प्रचार किया, व्यभिचार और काम-वासना को खुलकर बढ़ावा दिया, तो अन्य ने चित्त शुद्ध करके, मन को नियन्त्रित करके, बाह्य विधानों की अपेक्षा आन्तरिक भाव से देह-देवालय में स्थित परमात्मदेव के दर्शन की बात कही; किसी ने हठयोग की साधना द्वारा शरीर को तपाकर गलाने में ही रहस्यवाद माना, तो अन्य ने सहज भाव से विषय त्याग करके परमात्मा का अनुभव रहस्यवाद का लक्षण घोषित किया। इस प्रकार रहस्यवाद शब्द का निरन्तर अर्थ-सीमा-विस्तार होता रहा। अपने देश में रहस्य-परम्परा अति प्राचीन काल से पाई जाती है। उपनिषद् इस विचार धारा के आदि स्रोत बताए गए हैं। इसके पश्चात् योगियों, तान्त्रिकों, सिद्धों, नाथों और हिन्दी, मराठी आदि भाषाओं के सन्तों में अविच्छिन्न रूप से यह साधना-पद्धति कई शताब्दियों तक प्रवहमान रही। मध्यकाल में इस पद्धति को विशेष बल मिला। वस्तुतः हम मध्ययुग को रहस्य साधना का युग कह सकते हैं।

जैन दर्शन अन्य दर्शनों से मूलतः भिन्न है। संसार, आत्मा, परमात्मा, कर्म, मोक्ष आदि के सम्बन्ध में उसकी धारणाएँ अन्य साधना-सम्प्रदायों से भिन्न हैं। अतएव जैन-रहस्यवाद का आरम्भ और विकास भी दूसरे ढंग से हुआ है। लेकिन यह एक सर्वविदित सत्य है कि सम-सामयिक विचारक किसी न किसी रूप में एक दूसरे को प्रभावित करते रहते हैं। कोई भी सिद्धान्तवादी अपने को कितना ही शुद्ध और निर्लिप्त बनाए रखने की चेष्टा क्यों न करे, वह जाने अनजाने दूसरों से प्रभावित अवश्य होता है। सभी देशों के दर्शन और संस्कृति के इतिहास इसके साक्षी हैं। अतएव जैन-रहस्यवाद

भी अपने मूल स्वरूप को पूर्णतया सुरक्षित न रख सका। कालान्तर में वह भी सिद्धों, नाथों और हिन्दी सन्त कवियों की रहस्य भावना के बहुत निकट आ गया, यद्यपि उसके मोटे-मोटे सिद्धान्त अपने अवश्य बने रहे। इसी तथ्य का अध्ययन प्रस्तुत प्रबन्ध का विषय है।

इस अध्यन में पाँच खण्ड हैं, जो बारह अध्यायों में विभक्त हैं। प्रथम खण्ड में दो अध्याय हैं। प्रथम अध्याय पृष्ठभूमि का कार्य करता है। उसमें रहस्यवाद के मूल-जिज्ञासा, प्रत्यक्षानुभूति और अन्तर्ज्ञान-की चर्चा है। साथ ही औपनिषदिक रहस्य भावना और रहस्यवादी काव्य की अविच्छिन्न परम्परा को भी संक्षेप में बताया गया है। इसी परम्परा के एक अंग रूप में जैन-रहस्यवाद के अध्ययन की भी बात कही गई है। दूसरे अध्याय में यह प्रश्न उठाया गया है कि क्या जैन दर्शन में रहस्यवाद सम्भव है? कई विद्वान् जैन दर्शन को नास्तिक दर्शन मानते हैं और नास्तिक रहस्यवादी नहीं हो सकता। मैंने यह स्पष्ट किया है कि जैन दर्शन नास्तिक नहीं है। वह ईश्वर की सत्ता में विश्वास रखता है। हाँ, आत्मा-परमात्मा के सम्बन्ध में उसकी धारणाएँ, अन्य दर्शनों से भिन्न अवश्य हैं। यही नहीं, जैन तीर्थंकर, विशेषरूप से ऋषभदेव, नेमिनाथ, पार्श्वनाथ, महाबीर आदि, संसार के प्रमुख रहस्यदर्शी हो गए हैं।

द्वितीय खण्ड में जैन रहस्यवादी कवियों और काव्यों की चर्चा है। इसमें एक प्रकार से जैन रहस्यवादी काव्य के ऐतिहासिक पक्ष का विवेचन है। वस्तुत: जैन काव्य के प्रति हिन्दी साहित्यकारों ने घोर उपेक्षा का व्यवहार किया है। हिन्दी साहित्य के किसी भी इतिहास लेखक ने उनके उचित मूल्यांकन की चिन्ता नहीं की। यह बड़े खेद की बात है कि मात्र धार्मिक रचनाकार कहकर उनको साहित्यकारों की पंक्ति से निकाल दिया गया।

यद्यपि मेरा क्षेत्र अपभ्रंश और हिन्दी (१८वीं शती तक) के जैन कवियों का अध्ययन है तथापि मैंने प्राकृत के कुन्दकुन्दाचार्य और स्वामी कार्तिकेय का भी साहित्यिक परिचय दे दिया है। कुन्दकुन्दाचार्य जैनों के आदि कवि हैं। वे सभी के प्रेरणा स्रोत हैं। उनके सभी ऋणी हैं। अपभ्रंश के योगीन्दु मुनि और मुनि रामसिंह के सम्बन्ध में प्राप्त सामग्री का निरीक्षण-परीक्षण करके मैंने नए निष्कर्ष निकाले हैं। इनके अतिरिक्त अपभ्रंश के आनन्दतिलक, लक्ष्मीचन्द और महयंदिण आदि कई कवि मुझे खोज में प्राप्त हुए, अतएव नए हैं। हिन्दी जैन कवियों में बनारसीदास, भगवतीदास, रूपचन्द, आनन्दघन, यशोविजय, भैया भगवतीदास, पाण्डे हेमराज, द्यानतराय आदि काफी प्रसिद्ध रहे हैं। लेकिन इनमें से किसी पर अभी तक विस्तार से नहीं लिखा गया था। अनेक कवियों की प्रामाणिक जीवनी का भी कोई आधार सुलभ नहीं था। अतएव मुझे इसके लिए अनेक शास्त्र-भाण्डारों में भटकना पड़ा और हस्तलिखित ग्रन्थों का अध्ययन करना पड़ा। इससे मुझे इन कवियों की कई नई पुस्तकें प्राप्त हुईं और इनके जीवन के सम्बन्ध में भी प्रामाणिक सामग्री मिली। साथ ही ब्रह्मदीप जैसे कुछ नए कवि भी प्रकाश में आए।

(")

तृतीय खण्ड में सिद्धान्त विवेचन है। इसमें चार अध्याय हैं। चौथे अध्याय में नय-द्वय पर विचार किया गया है। जैन दर्शन व्यवहार-नय और निश्चय-नय नामक दो नयों में विश्वास करता है। व्यवहार-नय या बाह्य दृष्टि से पदार्थों में जो भेद और अनेकता दिखाई पड़ती है, निश्चय-नय या पारमार्थिक दृष्टि से उसी में एकत्व की प्रतीति होने लगती है। व्यावहारिक दृष्टि से जीव पाप-पुण्य करता है, कर्म-बंधन में फँसता है। लेकिन निश्चय-नय से आत्मा न पाप करता है और न पुण्य। वह न सत्कर्म में प्रवृत्त होता है और न दुष्कर्म में। पाँचवें अध्याय में द्रव्य व्यवस्था का विवेचन है। जैन दर्शन षड्द्रव्यों को मानकर चलता है। जीव चेतन द्रव्य है, शेष पाँच-पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल-अचेतन द्रव्य हैं। ये द्रव्य ही संसार की स्थिति और गति के कारण हैं। इनके वास्तविक स्वरूप को समझना साधक का प्रथम कर्तव्य है।

छठे अध्याय में जैन साधकों द्वारा आत्मा के स्वरूप-कथन पर विचार किया गया है। आत्मा का स्वरूप कैसा है? आत्मा और शरीर में क्या अन्तर है? आत्मा की कितनी अवस्थाएँ हैं? आत्मा और परमात्मा तथा आत्मा और कर्म में क्या सम्बन्ध हैं, इन प्रश्नों को इस अध्याय में उठाया गया है। इसके अतिरिक्त इसमें यह स्पष्ट किया गया है कि परमात्मा का वास शरीर में ही है, वह अनेक नामों से सम्बोधित किया जा सकता है तथा ब्रह्मानुभूतिजनित आनन्द अनिर्वचनीय है। जैन मान्यता के अनुसार परमात्मा नाम की कोई भिन्न सत्ता नहीं है। आत्मा ही कर्म-कलंक-वियुक्त होकर परमात्मा बन सकता है। प्रत्येक आत्मा परमात्मा बनने पर भी किसी दूसरी शक्ति में अन्तर्भुक्त नहीं हो जाता, अपितु उसका स्वतंत्र अस्तित्व बना रहता है। इस प्रकार परमात्मा अनेक हैं।

सातवें अध्याय में मोक्ष अथवा परमात्मपद-प्राप्ति के साधनों की चर्चा की गई है। यतः प्रत्येक आत्मा ही परमात्मा बन सकता है, अतएव यह जानना आवश्यक है कि आत्मा परमात्मा कैसे बन सकता है? उसके मार्ग में कौन-कौन से अवरोध हैं? उनका प्रतिक्रमण कैसे सम्भव है? मेरे विचार से अध्यात्म पथ के पथिक को एतदर्थ दो प्रमुख सोपानों को पार करना पड़ता है। प्रथमतः उसे सांसारिक पदार्थों की क्षणिकता का ज्ञान आवश्यक है। वह यह मान ले कि विषय सुख अन्ततः दुखदायी, अतएव त्याज्य हैं। अतः वह पचेन्द्रिय और मन पर नियन्त्रण प्राप्त करे, वाह्य अनुष्ठान की अपेक्षा आन्तरिक शुद्धि पर जोर दे, पुस्तकीय ज्ञान की सीमाओं को जानकर अन्तर्ज्ञान या अतीन्द्रिय ज्ञान का सहारा ले तथा पाप-पुण्य दोनों को हानिकर समझते हुए, दोनों का परित्याग कर दे। दूसरे, सद्गुरु का शिष्यत्व स्वीकार करे। वही गुरु जो अध्यात्म पथ पर जा चुका है, शिष्य को सच्चा रास्ता बता सकता है। वह गोविन्द से भी बड़ा है। गुरु महत्व के अतिरिक्त रत्नत्रय अर्थात् सम्यक्दर्शन, सम्यक्ज्ञान और सम्यक्चरित्र की उपलब्धि भी आवश्यक है। चतुर्थ खण्ड में जैन रहस्यवाद और अन्य साधना मार्गों का तुलनात्मक अध्ययन है। इसके आठवें अध्याय में जैन काव्य और सिद्ध साहित्य की तुलना है। बौद्ध धर्म किस प्रकार महायान,

मन्त्रयान, वज्रयान और सहजयान के रूप में विकसित होता हुआ, नए-नए तत्वों को ग्रहण करता गया, किस प्रकार चौरासी सिद्धों-विशेष रूप से सरहपा, कण्हपा आदि-ने मध्यकालीन साधना को व्यापक रूप से प्रभावित किया, इसी की चर्चा इस अध्याय का विषय है। जैन कवि योगीन्दु और सिद्ध सरहपाद समवर्ती थे। दोनों भिन्न-भिन्न सम्प्रदायों के होते हुए भी एक ही सत्य पर पहुंचे थे। दोनों की शब्दावली और वर्णन शैली बहुत कुछ समान थी।

नवें अध्याय में जैन काव्य और नाथ योगी सम्प्रदाय की तुलना है। नाथ सिद्ध हठयोगी थे। वे शिव शक्ति के सामरस्य की बात करते थे। जैन कवियों पर इनकी विचार पद्धति का भी प्रभाव पड़ा था। मुनि रामसिंह ने, जो गोरखनाथ के समकालीन थे, उनके अनेक शब्दों को ग्रहण कर लिया था।

दसवें अध्याय में जैन काव्य और हिन्दी सन्त काव्य का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। हिन्दी सन्त काव्य, विशेष रूप से कबीर, पर विचार करते हुए विद्वानों ने अनेक प्रकार के निष्कर्ष निकाले हैं। कबीर के काव्य में बाह्य-विधान-खण्डन की प्रवृत्ति को देखकर कुछ लोगों ने कबीर पर अनेक प्रकार के आरोप लगाए हैं। किन्तु ज्यों-ज्यों कबीर के पूर्ववर्ती सिद्ध, नाथ और जैन काव्य का अध्ययन होता जा रहा है, त्यों-त्यों यह स्पष्ट होता जा रहा है कि कबीर ने जो कुछ कहा, वह संकीर्ण विचार से नहीं अथवा वैसी बातें सर्वप्रथम कहने वाले कबीर नहीं थे, अपितु उनके बहुत पहले लगभग छः-सात सौ वर्षों से उसी प्रकार के विचार व्यक्त होने लगे थे। वस्तुतः कबीर के विचार मध्य कालीन धर्म साधना का सच्चा प्रतिनिधित्व करते हैं। इधर कुछ लोगों ने कबीर पर सिद्धों और नाथों का प्रभाव अवश्य स्वीकार किया है। लेकिन इस अध्ययन से यह भी स्पष्ट हो गया है कि कबीर जैन कवियों, विशेष रूप से योगीन्दु मुनि और मुनि रामसिंह, से काफी प्रभावित थे। इन तीनों में अद्भुत विचार-साम्य है। यही नहीं, कबीर ने भी जैन रहस्यवादी मुनियों को प्रभावित किया था। सन्त आनन्दघन के प्रेरणा स्रोत कबीर ही प्रतीत होते हैं। यदि आनन्दघन की रचनाओं से उनका नाम निकालकर कबीर का नाम जोड़ दिया जाय तो उनमें और कबीर की रचनाओं में कोई अन्तर नहीं परिलक्षित होगा। इसी प्रकार बनारसीदास और संत सुन्दरदास, जो समकालीन थे, एक ही प्रकार की बातें करते हुए दिखाई पड़ते हैं।

ग्यारहवें अध्याय (खंड ५) में मध्यकालीन धर्म साधना में प्रयुक्त कतिपय शब्दों का इतिहास दिया गया है। सहज, समरस, महासुख, नाम-सुमिरन, अजपा, निरंजन, अवधू आदि कुछ ऐसे शब्द हैं, जिनका प्रयोग सिद्ध, नाथ, जैन और हिन्दी सन्त कवि और आचार्य करते रहे हैं। लेकिन एक विचित्र बात यह है कि इन शब्दों के अर्थ हर सम्प्रदाय में इच्छानुसार बदल दिए गए हैं। वस्तुतः इन कतिपय शब्दों में मध्यकालीन धर्म साधना का पूरा इतिहास केन्द्रित हो गया है।

बारहवें अध्याय में पूरे अध्ययन के निष्कर्ष हैं। नए परिणामों का सार है। प्रबन्ध की मौलिकता पर दो शब्द हैं। अन्त में एक परिशिष्ट संलग्न

है, जिसमें खोज में प्राप्त अपभ्रंश और हिन्दी की लगभग १५ नई रचनाओं के हस्तलेखों से उद्धृत अंश दिए गए हैं।

मेरे इस शोध कार्य की एक लम्बी कहानी है। यह कार्य सन् १९५७ में काशी हिन्दू विश्वविद्यालय से आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के निर्देशन में प्रारम्भ हुआ था। लेकिन दुर्भाग्यवश सन् १९६० ई० के मई-जून मास में पूज्य द्विवेदी जी को काशी हिन्दू विश्वविद्यालय छोड़ना पड़ा। अतएव मेरे कार्य में कुछ समय के लिए बाधा उत्पन्न हो गई। मुझे ऐसा लगा कि योग्य निर्देशक के अभाव में अब मेरा कार्य अधूरा ही रह जाएगा। किन्तु पूज्य द्विवेदी जी और श्रद्धेय डा० मुन्शीराम शर्मा की कृपा से मैं समस्त कठिनाइयों को पार कर सकने में सफल हो सका।

मेरे मार्ग में दूसरी बाधा विषय सामग्री सम्बन्धी थी। मेरा विषय ऐसा है जिस पर अभी तक कोई विशेष उल्लेखनीय कार्य नहीं हुआ है। पूरा का पूरा जैन काव्य प्रायः उपेक्षित ही रहा है। किसी भी अधिकारी विद्वान् ने इस विषय से सम्बन्धित किसी प्रश्न पर विस्तार से विचार नहीं किया है। अतएव मेरे सामने समस्या थी कि कार्य कैसे प्रारम्भ किया जाय? लेकिन पूज्य द्विवेदी जी ने मार्ग दर्शन किया। उनके आदेश से मैंने जैन विद्वानों से सम्पर्क स्थापित करना प्रारम्भ किया। आज मुझे यह कहने में अत्यन्त हर्ष और गौरव का अनुभव हो रहा है कि मैंने जिन जैन और जैनेतर विद्वानों से जिस प्रकार की सहयोग की कामना की, उसकी पूर्ति तत्क्षण हो गई। ऐसे महानुभावों में पं० चैनसुखदास जी न्यायतीर्थ (अध्यक्ष, दिगम्बर जैन संस्कृत कालेज, जयपुर) का नाम सर्वप्रथम उल्लेखनीय है। उनकी कृपा से न केवल जैन रहस्यवाद की स्थूल रूपरेखा का ही आभास मिला, अपितु उन्होंने मेरे लिए जयपुर के लगभग सभी हस्तलिखित ग्रन्थों के भाण्डारों को भी सुलभ कर दिया। जयपुर में काफी समय तक रहकर, मैंने वहाँ के आमेर शास्त्र-भाण्डार, दिगम्बर जैन मन्दिर बड़ा तेरह पंथियों का शास्त्र-भाण्डार, छावड़ों के मन्दिर का शास्त्र-भाण्डार, बधीचन्द मन्दिर का शास्त्र-भाण्डार, लूणकरण जी पाण्डया मन्दिर का शास्त्र-भाण्डार और ठोलियों के मन्दिर का शास्त्र-भाण्डार देखा। इनसे मुझे अपने विषय की काफी हस्तलिखित सामग्री उपलब्ध हो सकी। इस कार्य में मुझे जयपुर स्थित 'श्री दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र श्री महाबीर जी' नामक संस्था के अधिकारी श्री कस्तूरचन्द कासलीवाल से भी पर्याप्त सहायता मिली।' उक्त दोनों सज्जनों के प्रयास से मुझे जैन साहित्य सम्बन्धी दो प्रमुख पत्रिकाओं 'वीरवाणी' और 'अनेकान्त' की पुरानी फाइलें भी देखने को मिल गईं। एतदर्थ मैं आप दोनों को हार्दिक धन्यवाद देता हूं। जैन साहित्य के प्रमुख उद्धारक श्री अगरचन्द नाहटा ने भी अपने बीकानेर स्थित 'अभय जैन ग्रन्थालय' में सुरक्षित हस्तलिखित ग्रन्थों की सूचना देकर मेरे कार्य में सहायता दी। अतएव वह मेरे धन्यवाद के पात्र हैं। मुझे इस सम्बन्ध में राजाराम कालेज, कोल्हापुर के श्री ए० एन० उपाध्ये और प्राकृत जैन विद्यापीठ, मुजफ्फरपुर के संचालक तथा जैन साहित्य के अधिकारी विद्वान डा० हीरालाल

जैन से भी बहुमूल्य सुझाव प्राप्त हुए। अतएव मैं आप दोनों महानुभावों को हृदय से धन्यवाद देता हूँ। काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में जैन दर्शन के प्रोफेसर श्री महेन्द्र कुमार न्यायाचार्य से भी मुझे समय-समय पर समस्याओं के समाधान प्राप्त होते रहे। खेद है कि वे अकाल ही काल कवलित हो गए और मेरे कार्य को प्रकाशित होते न देख सके। यदि मुझे काशी में भदैनी स्थित श्री स्याद्वाद महाविद्यालय के प्रधानाचार्य पं० कैलास चन्द्र शास्त्री अपने विद्यालय का पुस्तकालय सुलभ न कर देते, तो दुर्लभ जैन ग्रन्थों की प्राप्ति कदापि सम्भव न होती। एतदर्थ मैं उनको तथा पुस्तकालय के अध्यक्ष श्री अमृतलाल को किन शब्दों में धन्यवाद दूं? मैं उनका आभारी हूँ। मैं काशी नागरी प्रचारिणी सभा के अधिकारियों का भी आभार स्वीकार करता हूँ, जिनकी कृपा से सभा के पुस्तकालय के सारे खोज विवरण, पाण्डुलिपियाँ, और पत्र-पत्रिकाओं की पुरानी फाइलें सुलभ हो सकीं। ये सभी सज्जन हमारे धन्यवाद के पात्र हैं।

मैं पूज्य आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी को धन्यवाद देने की धृष्टता नहीं कर सकता। न मेरे इस शोध कार्य में ही, अपितु पूरे व्यक्तित्व के निर्माण में श्रद्धेय द्विवेदी जी का वरद हस्त रहा है। मैं उनका चिर ऋणी हूँ। पूज्य डा० मुन्शीराम जी शर्मा ने जिस स्थिति में कृपाकर, अधूरे कार्य को पूरा करने में सहायता दी, वह उनके सहज प्राप्य सरल स्वभाव की सामान्य विशेषता है। मैं आपके समक्ष नत शिर हूँ।

इस प्रबन्ध के प्रकाशन में काशी विद्यापीठ, मुद्रणालय के व्यवस्थापक श्री शिवमूर्ति पाठक ने जो तत्परता दिखाई है, उसके लिए वह तथा उनके अन्य सहयोगी कार्यकर्ता हमारे धन्यवाद के पात्र हैं।

हिन्दी विभाग
काशी विद्यापीठ, वाराणसी
फाल्गुन पूर्णिमा, सम्वत् २०२२

वासुदेव सिंह

विषय-सूची

(खण्ड १)

	पृष्ठ संख्या
प्रथम अध्याय–प्रास्ताविक	१–८
रहस्यवाद का मूल-जिज्ञासा	३
उपनिषद्-मूल स्रोत	४
रहस्यवाद की अविच्छिन्न परम्परा	६
द्वितीय अध्याय–क्या जैन दर्शन में रहस्यवाद सम्भव है ?	८–२१
आस्तिक और नास्तिक दर्शन	१०
जैन दर्शन की आस्तिकता—आत्मा और परमात्मा	११
रहस्यवाद का तात्पर्य	१३
जैन तीर्थङ्कर प्रमुख रहस्यवादी	१६
आठवीं शताब्दी के बाद धर्म-साधना का नया स्वरूप	१९

(खण्ड २)

तृतीय अध्याय–जैन रहस्यवादी कवि और काव्य	२२–१२८
जैन कवियों की उपेक्षा के कारण	२२
रहस्यवादी काव्य रचना का आरम्भ	२३
कुन्दकुन्दाचार्य	२८
कार्तिकेय मुनि	३४
योगीन्दु मुनि	३७
मुनि रामसिंह	४७
आनन्दतिलक	५६
लक्ष्मीचन्द	६०
महयंदिण मुनि	६२
छीहल	६६
बनारसीदास	६९
भगवतीदास	८६
रूपचन्द्र	९१
ब्रह्मदीप	१०१
आनंदघन	१०३
यशोविजय	१११
भैया भगवतीदास	११३
पाण्डे हेमराज	१२२
द्यानतराय	१२४

(खण्ड ३)

चतुर्थ अध्याय–मूल्यांकन की दो दृष्टियाँ–व्यवहार-नय और निश्चय-नय १३०–१३८
नय-द्वय १३०
व्यवहार-नय १३१
निश्चय-नय या परमार्थ-नय १३१
व्यवहार-नय की सीमाएँ १३३
नय-द्वय का प्रयोजन १३५
जैनेतर साहित्य में समान दृष्टि-द्वय १३६
पंचम अध्याय–द्रव्य व्यवस्था १३९–१४६
द्रव्य का तात्पर्य १३९
द्रव्य-भेद १४०
जीव १४१
पुद्गल द्रव्य १४२
धर्म द्रव्य और अधर्म द्रव्य १४३
आकाश द्रव्य १४४
काल द्रव्य १४४
षष्ठ अध्याय–जैन कवियों द्वारा आत्मा का स्वरूप-कथन १४७–१७१
आत्मा का स्वरूप १४७
आत्मा और शरीर में अंतर १५०
आत्मा की अवस्थाएँ १५२
जैनेतर सम्प्रदायों में आत्मा की अवस्थाओं का वर्णन १५५
आत्मा ही परमात्मा १५८
आत्मा और कर्म १५९
आस्रव-संवर-निर्जरा १६१
मोक्ष १६२
परमात्मा का वास शरीर में १६५
एक ब्रह्म के अनेक नाम १६७
ब्रह्मानुभूति जनित आनन्द १७१
सप्तम अध्याय–मोक्ष अथवा परमात्म-पद प्राप्ति के साधन १७२–१९८
सांसारिक पदार्थों की क्षणिकता का ज्ञान १७२
विषय सुख का त्याग १७५
पंचेन्द्रिय नियन्त्रण १७५
मन १७६
बाह्य अनुष्ठान १७९
पुस्तकीय ज्ञान १८४
पुण्य-पाप १८६

गुरु का महत्व १८८
रत्नत्रय-सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान, सम्यक् चरित्र १९२
रत्नत्रय ही आत्मा १९५
रत्नत्रय ही मोक्ष १९६
स्वसंवेदन ज्ञान १९७
चित्तशुद्धि पर जोर १९८

(खण्ड ४)

अष्टम अध्याय–जैन काव्य और सिद्ध साहित्य १९९–२०९
बौद्ध धर्म का विकास–महायान १९९
महायान और तन्त्र-साधना २००
मन्त्रयान २०१
वज्रयान २०१
वज्रयान और सहजयान २०२
चौरासी सिद्ध २०४
सिद्ध साहित्य और जैन काव्य २०६
नवम अध्याय–जैन काव्य और नाथ योगी सम्प्रदाय २१०–२२१
योग का अर्थ २१०
योग की परम्परा २११
नाथ सम्प्रदाय और सहजयानी सिद्धों से उसका सम्बन्ध २१२
नाथ सिद्ध और उनका समय २१३
नाथ सिद्धों का प्रभाव २१५
नाथ साहित्य और जैन काव्य २१५
हठयोग की साधना २१६
शिव-शक्ति २१८
अन्य समानताएँ २१९
निष्कर्ष २२१
दशम अध्याय–जैन काव्य और हिन्दी सन्त काव्य २२२–२३९
संत कवि २२२
संत कवि और पूर्ववर्ती साधना मार्ग २२२
संत कवि और जैन कवि २२३
योगीन्दु मुनि, मुनिराम सिंह और कबीर २२४
जैनों का परमात्मा और कबीर का ब्रह्म २२७
कबीर और संत आनन्दघन २२९
आत्मा-परमात्मा प्रिय-प्रेमी के रूप में २२९
ब्रह्म का स्वरूप २३३
अनिर्वचनीयता २३४
माया २३५

बनारसीदास और सन्त सुन्दरदास — २३६
अन्य सन्त कवि — २३९

(खण्ड ५)

एकादश अध्याय-मध्यकालीन धर्म साधना में प्रयुक्त कतिपय शब्दों का इतिहास — २४०-२६५
सहज — २४०
समरस और महासुख — २४८
नाम सुमिरन और अजपा जाप — २५१
निरंजन — २५५
अवधू — २६०
द्वादश अध्याय-उपसंहार — २६६-२६८
परिशिष्ट-खोज में प्राप्त नई रचनाओं के हस्तलेखों से उद्धृत अंश — २६९-२९६
अपभ्रंश—
आणंदा—आनन्दतिलक — २७१
दोहाणुवेहा—लक्ष्मीचन्द — २७४
दोहापाहुड़—महयंदिण मुनि — २७७
आत्मप्रतिबोध जयमाल—छीहल — २८१
हिन्दी—
श्री चूनरी—भगवतीदास — २८२
स्फुट पद - रूपचद — २८४
दोहापरमार्थ—रूपचंद — २८५
अध्यात्म सवैया - रूपचंद — २८७
खटोलना-गीत रूपचद — २८८
मनकरहा रास—ब्रह्मदीप — २८९
स्फुट पद—ब्रह्मदीप — २९०
समाधितत्र—जसविजय उपाध्याय — २९१
उपदेश दोहा शतक—पाण्डे हेमराज — २९२
अध्यात्मपंचासिका दोहा—द्यानतराय — २९४
फुटकल पद—द्यानतराय — २९५
संदर्भ ग्रन्थ सूची — २९७-३०४
अनुक्रमणिका — ३०५-३१४
नामानुक्रमणिका — ३०५
ग्रन्थानुक्रमणिका — ३११

प्रथम खण्ड

प्रथम अध्याय

प्रास्ताविक

"अगर उनकी (जैनों की) रचनाओं के ऊपर से "जैन" विशेषण हटा दिया जाय तो वे योगियों और तांत्रिकों की रचनाओं से बहुत भिन्न नहीं लगेंगी। वे ही शब्द, वे ही भाव और वे ही प्रयोग घूम फिर कर उस युग के सभी साधकों के अनुभव में आया करते थे।"

—आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी

प्रास्ताविक

रहस्यवाद का मूल—जिज्ञासा

मानव स्वभाव से जिज्ञासु है। वह आदि काल से चरम सत्य को जानने की चेष्टा करता रहा है। उसमें विश्व के आदि और अवसान की जिज्ञासा निरन्तर प्रवहमान रही है। सृष्टि चक्र की धुरी कहाँ है? उसका चालक कौन है? परम सुख की प्राप्ति कैसे की जा सकती है? इन प्रश्नों ने प्रत्येक देश के मनीषियों का ध्यान चिरकाल से उलझा रक्खा है और व्यक्ति अपनी सम्पूर्ण शक्ति से इसको सुलझाने में प्रयत्नशील रहा है। मनुष्य की वह जिज्ञासा जो उसे सूक्ष्म तत्वों की ओर उन्मुख करती है—जीवन की उत्पत्ति, लक्ष्य आदि को जानने के लिए प्रेरित करती है—अध्यात्म दर्शन की जननी होती है। अध्यात्म तत्व के जिज्ञासु, तत्वदर्शी ऋषियों के पास जाकर प्रश्न पूछते थे कि 'किसके जान लिए जाने पर यह सब कुछ जान लिया जाता है?'[1] 'आत्मा नित्य है अथवा अनित्य?'[2] यह अध्यात्म अथवा विश्व परिज्ञान की भावना मानव की दो भिन्न प्रवृत्तियों के संगठन एवं विरोध से विकसित हुई है, जिसमें से एक विज्ञान की ओर ले जाती है और दूसरी 'रहस्यवाद' की ओर। सामान्यतया व्यक्ति प्रत्येक वस्तु को अपने बौद्धिक मापदण्ड से आँकना चाहता है। किन्तु मनुष्य का अनुभव बतलाता है कि बौद्धिक विवेचन में ही मानव जीवन की चरितार्थता नहीं है। 'और भी गहराई में कुछ

---

१. कस्मिन्नु भगवो विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवतीति (मुंडक १, १, ३)।

२. येयं प्रेते विचिकित्सा मनुष्येऽस्तीत्येके नायमस्तीति चैके (कठ० १।२।२०)।

और है, जो उपरले स्तर के आवरणों से भिन्न है। वह न तो इन्द्रियार्थों की प्राप्ति से सन्तुष्ट होता है, न मानसिक स्तर की तृप्ति से आश्वस्त होता है और न बौद्धिक विश्लेषण से परितृप्त होता है। उसकी प्यास कुछ और ही तरह की है।"[1] इस पिपासा की शान्ति न तर्क से हो सकती है, न मन से, न इन्द्रियों से और न विश्लेषणात्मक प्रवृत्ति से। इनसे भी परे एक सत्ता है, जिसे हम अध्यात्म सत्ता कह सकते हैं। जहाँ हमारी समस्त शक्तियाँ असामर्थ्य प्रकट करती हैं, जब हमारा ऐन्द्रिक व्यापार नैराश्योन्मुख होने लगता है, तब हम अध्यात्म सत्ता अथवा अन्तर्ज्ञान के ही सहारे विश्व रहस्य को खोलने में समर्थ होते हैं। बर्ट्रान्ड रसेल नामक प्रमुख दार्शनिक ने इसी तथ्य की ओर संकेत करते हुए लिखा है कि "प्रकाश के क्षण का प्रथम और प्रत्यक्ष परिणाम, ज्ञान के एक ऐसे मार्ग की सम्भावना में विश्वास है, जिसे दैवीज्ञान, परिज्ञान या अन्तर्ज्ञान कहा जा सकता है और जो इन्द्रियज्ञान, तर्क और विश्लेषण से भिन्न है"।[2] भारतीय दृष्टा ऋषि और वेदान्ती भी इसी शक्ति अथवा वृत्ति के अस्तित्व की घोषणा प्राचीन काल से करते आ रहे हैं। इसे वे साक्षात् ज्ञान, अनुभव ज्ञान अथवा अपोरक्षानुभूति कहते हैं। गीता में श्रीकृष्ण ने अर्जुन से 'दिव्यचक्षु' की बात कही है, जो सम्भवत: उसी ज्ञान की ओर संकेत है :—

न तु मां शक्यसे द्रष्टुमनेनैव स्वचक्षुषा।
दिव्यं ददामि ते चक्षुः पश्य मे योगमैश्वरम्॥

(अध्याय ११, श्लोक ८)

उपनिषद् मूल स्रोत

प्राचीन तत्वदृष्टा ऋषियों को इसी शक्ति के द्वारा परमतत्व की उपलब्धि होती थी। उपनिषदों में कई बार आया है कि वह चरम तत्व केवल अध्यात्म-योग अथवा सहजानुभूति के द्वारा ज्ञातव्य है, स्थूल इन्द्रियों अथवा बुद्धि से कभी प्राप्त नहीं हो सकता। मुंडकोपनिषद के अनुसार ब्रह्म न आँखों से, न वचनों से, न तप से और न कर्म से गृहीत होता है। विशुद्ध सत्व धीर व्यक्ति उसे ज्ञान

---

१. प्रो० रामपूजन तिवारी—सूफ़ीमत साधना और साहित्य (भूमिका, पृ० ग—ले० डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी)।

2. The first and most direct outcome of the moment of illumination is belief in the possibility of a way of knowledge, which may be called revelation or insight or intution as contrasted with sense, reason and analysis. Bertrand Russell—Mysticism and Logic, Page 16. Penguin Books, Reprinted 1954.

के प्रसाद से साक्षात् देखते हैं।[1] इसी प्रकार केनोपनिषद् में कहा गया है कि 'न वहाँ चक्षु जाते हैं, न वाणी और न मन।'[2] अन्य उपनिषदों में भी इसी तथ्य की पुष्टि स्थान-स्थान पर मिलती है :—

'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह' (तैत्तरीय० ४, १)

× × ×

नैव वाचा न मनसा प्राप्तुं शक्यो न चक्षुषा।
अस्तीति ब्रुवतोऽन्यत्र कथं तदुपलभ्यते॥

(कठ० २, ३, १२)

जिस अपरोक्षानुभूति अथवा अन्तर्ज्ञान की चर्चा ऋषियों द्वारा की गई थी, परवर्ती आत्मदर्शी सिद्धों और सन्तों ने उसी के सहारे 'परमसुख' की प्राप्ति का प्रयास किया और जैनाचार्यों ने भी उसी का अवलम्ब ग्रहण किया। सिद्धों ने सहजानुभूति अथवा 'सहज साधना' पर जोर दिया, 'ऋजुमार्ग'[3] पर चलने के लिए प्रोत्साहित किया, 'सहज स्वभाव'[4] को अमृत रस बताया। जैन आचार्यों ने 'सहज स्वरूप'[5] से रमण द्वारा 'शिव' प्राप्ति का मार्ग बताया। आगे चलकर निर्गुणियाँ संतों ने 'सहज-सरोवर में उठने वाली प्रेम-तरंगों में अपने प्रिय के संग झूलने वाले आत्मा का वर्णन किया।'[6]

इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि प्रारम्भ से ही अध्यात्म क्षेत्र में एक शाखा ऐसी रही है, जो वाह्यज्ञान किंवा बौद्धिक व्यायाम के चक्कर में न पड़कर, स्वानुभूति और स्वसंवेद्य ज्ञान पर विश्वास करती रही है। यहीं से रहस्यवाद का जन्म समझना चाहिए। वैसे यह 'रहस्य' शब्द अवश्य

---

१. न चक्षुषा गृह्यते, नापि वाचा नान्यैर्देवैस्तपसा कर्मणा वा।
ज्ञान प्रसादेन विशुद्ध सत्वस्ततस्तु तं पश्यते निष्कलं ध्यायमानः॥
(मुंडक० ३, १, ८)

२. न तत्र चक्षुर्गच्छति न वाग्गच्छति न मनो (केन० १, ३)

३. उजु रे उजु छाड़िहि मा लेहु रे बंक।
णिअहि बोहि मा जाहु रे लाङ्क।
—राहुल सांकृत्यायन, पुरातत्वनिबंधावली (पृ० १७०)

४. सहज सहावा हलें अमिअ रस, कासु कहिज्जइ कीस–सिद्ध सरहपादकृत दोहाकोश (राहुल सांकृत्यायन, पृ० १८)

५. सहज सरुवइ जइ रमहि तो पावहि सिवसन्तु–योगीन्ददेव, योगसार, पृ० ३९०, दोहा नं० ८७

६. दादू सरवर सहज का तामें प्रेम तरंग।
तंह मन झूले आतमा, अपने साईं संग॥
—डा० पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल–हिन्दी काव्य में निर्गुण सम्प्रदाय, पृ० १४६ से उद्धृत।

विवाद का विषय बना रहा है। आज से कुछ वर्षों पूर्व हिन्दी साहित्य में इस शब्द को लेकर पर्याप्त मतवादों की सृष्टि भी हो चुकी है। कुछ विद्वान् 'रहस्यवाद' को एक विदेशी सिद्धान्त मानते रहे हैं और सूफियों को इसका जनक मानने के पक्ष में रहे हैं। उन्होंने इसाई सन्तों को भी सूफियों से प्रभावित माना है। कुछ लोगों ने यह भी कहा कि 'मेसोपोटामियां या बाबिलन के बाल, ईस्टर प्रभृति देवताओं के मन्दिर में रहने वाली देवदासियाँ ही धार्मिक प्रेम की उद्गम हैं।'[1] किन्तु इस प्रकार के कथन अधिक युक्तियुक्त एवं तर्कसङ्गत नहीं प्रतीत होते हैं। वस्तुत: 'रहस्य' शब्द अति प्राचीन न होते हुए भी, सांकेतित सिद्धान्त निश्चय ही पुरातन और भारतीय है, भले ही वह 'गुह्य' साधना अथवा अन्य पर्यायवाची संज्ञाओं से अभिहित किया जाता रहा हो। वेदान्त में तो स्पष्टत: अध्यात्म विद्या की गुह्यता के प्रमाण मिलते हैं। श्वेताश्वतर उपनिषद् में एक स्थान पर कहा गया है कि उपनिषदों में परम गोपनीय पूर्वकल्प में प्रचोदित अध्यातम विद्या का उपदेश दिया गया है :—

'वेदान्ते परमं गुह्यं पुराकल्पे प्रचोदितम्' (श्वेता० ६, २२)

गीता में श्रीकृष्ण ने स्थान-स्थान पर अध्यात्मज्ञान की 'गुह्यता का संकेत किया है और अन्त में तो स्पष्ट रूप से कह दिया है कि यह ज्ञान 'गुह्यतिगुह्यतर' है :—

'इति ते ज्ञानमाख्यातं गुह्यातिगुह्यतरं मया'

'गुह्य' और 'रहस्य' शब्द समानार्थक हैं, इस पर दो मत नहीं हो सकते। स्वयं उपनिषद् शब्द ही 'रहस्यात्मकता' का द्योतक है, जिसका अर्थ होता है 'रहस्यमय पूजापद्धति।'[2]

रहस्यवाद की अविछिन्न परम्परा

अत: मेरा अपना विचार तो यह है कि जिस समय रामचन्द्र शुक्ल जैसे प्रकाण्ड पण्डित और समर्थ विवेचक रहस्यवाद को विदेशी विचारधारा और 'देशी वेष में विदेशी वस्तु' कहकर विरोध कर रहे थे, उस समय उनकी दृष्टि में

---

१. जयशंकर प्रसाद—काव्यकला तथा अन्य निबन्ध, पृष्ठ ४७, भारती भंडार, लीडर प्रेस, इलाहाबाद, तृतीय सं०, सं० २००५ वि०।

2. Indian Writers use the term (Upanishad) in the sense of secret doctrine or Rahsya. Upanishadic texts are generally referred to as Paravidya, the great secret.–Prof. A. Chakravarti —Indroduction to Samayasar of Kund Kund—Bhartiya Gyana Pith, Kashi, Ist Edition, May 1950, Page XLIY—XLY.

अपनी प्राचीन औपनिषदिक् परम्परा नहीं थी। आपने प्रमुख रूप से अपने समय के उन नवयुवक कवियों का विरोध एवं निन्दा की, जो रहस्यवाद के नाम पर अस्पष्ट और दूरारूढ़ कल्पनाएं करके अटपटे और अर्थहीन काव्य की सर्जना कर रहे थे अथवा आंग्ल भाषा के ब्लैक, ईट्स सदृश स्वच्छन्दतावादी कवियों का अन्धानुकरण कर रहे थे। वैसे सिद्धान्ततः आपने भी स्वीकार किया है कि "हिन्दी काव्य क्षेत्र में उसकी (रहस्यवाद की) प्रतिष्ठा बहुत दिनों पहले से बड़े हृदयग्राही रूप में हो चुकी है।······कबीर आदि निर्गुण पन्थियों और जायसी आदि सूफी प्रेम मार्गियों ने रहस्यवाद की जो व्यंजना की है, वह भारतीय भावभंगी और शब्दभंगी को लेकर।"[1] शुक्ल जी के उपर्युक्त कथन से रहस्यवाद की प्राचीनता और भारतीयता दोनों सिद्ध होते हैं। इससे यह भी संकेत मिलता है कि कबीर आदि निर्गुणी सन्तों पर परोक्ष रूप से उपनिषद् का और प्रत्यक्ष रूप से सिद्धों, नाथों और (परवर्ती) जैन कवियों का प्रभाव था। कम-से-कम वह इन्हीं आत्मवादियों की परम्परा में आते हैं, इतना तो निश्चित ही हो जाता है।

यह 'रहस्यवाद' अथवा 'गुह्य ज्ञान' उस साधना के लिए प्रयुक्त होता था, जो समस्त बाह्य आडम्बरों का विरोध करती थी, जिसने ब्राह्मणों के द्वारा प्रवर्तित यज्ञ, बलि, जप, तप आदि क्रिया कलापों को पाषण्ड और दिखावा मात्र कहकर सारहीन सिद्ध कर दिया था और जिसने सच्चे आत्मस्वरूप की प्राप्ति और पहचान के लिए चित्त शुद्धि पर जोर देने का प्रस्ताव रक्खा था। उपनिषद् साहित्य में ज्ञान की इसी शाखा को, जिसे 'सहजानुभूति या स्वसंवेद्यज्ञान' कहते हैं, प्राथमिकता दी गई है। इस धारणा के अनुसार एक निर्लिप्त, निर्विकार शुद्धात्म तत्व है, जो सर्वत्र परिव्याप्त है। अखिल विश्व के कण-कण में उसकी सत्ता विद्यमान है। किन्तु 'पद्मपत्रमिवाम्भसा' वह सभी से निर्लिप्त है। वह अणु से भी सूक्ष्म और महान् से महान् है। प्रत्येक जीवधारी में उसका निवास है।[2] शरीर में ही उसकी अवस्थिति होने के कारण बाहर उसकी खोज करना निरर्थक है। वह सर्वभूतान्तरात्मा एक होकर भी अपने को अनेक रूपों वाला कर लेता है और अवर्ण होने पर भी अनेक वर्ण धारण कर लेता है।[3] वह पगहीन होने पर भी गतिशील है, कर्णविहीन होकर भी श्रवण शक्ति रखता है, नेत्रहीन होकर भी सर्वदृष्टा है, सर्वव्यापी है और सर्वशक्तिमान है।[4] उस परमसत्ता की शाब्दिक

---

१. रामचन्द्र शुक्ल–चिन्तामणि (भाग २) पृष्ठ १४९।

२. इहैवान्तः शरीरे सोम्य सपुरुषः (प्रश्न० ६, २)।

३. य एको वर्णो बहुधा शक्तियोगाद्वर्णाननेकान्निहितार्थो दधाति (श्वेता० ४.१)

४. अपाणिपादो जवनो ग्रहीता, पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्कर्णः।
स वेत्ति वेद्यं न च तस्यास्तिऽवेत्ता, तमाहुरग्र्यं पुरुषं महान्तम्॥
(श्वेता० ३, ३, १९)

अभिव्यक्ति भी नहीं हो सकती। वह मन और वाणी का अविषय है। इसी कारण समस्त शास्त्रों का ज्ञाता भी उसके स्वरूप से अनभिज्ञ रहता है। अतएव उसकी प्राप्ति में पुस्तकीय ज्ञान सहायक नहीं हो सकता।[1] श्रीकृष्ण ने इसीलिए गीता में कहा था "मैं न वेदों द्वारा प्राप्य हूं, न तप, दान अथवा यज्ञ द्वारा······"[2] परिणामतः गुरु की अनुकम्पा को भी प्राथमिकता दी गई। उसकी ब्रह्म की कोटि में गणना हुई।

इस विराट ब्रह्म के लिए यह भी कहा गया है कि वह बुद्धि का अविषय है। स्थूल बौद्धिक ज्ञान मात्र से उसकी प्राप्ति सर्वथा असम्भव है। वह अतीन्द्रिय है। अतः न नेत्रों द्वारा देखा जा सकता है, न वाणी द्वारा उसका वर्णन हो सकता है। सभी प्रकार के तप और कर्म भी विफल हो जाते हैं। विशुद्ध सत्व व्यक्ति सच्चे ज्ञान के प्रसाद से उस निष्कल आत्म-तत्व का साक्षात्कार कर सकते हैं। अतः चित्त शुद्धि परम आवश्यक तत्व है। प्रत्येक साधक को अपने चित्त को समस्त कामनाओं, आकांक्षाओं एवं विकारों से दूर करना पड़ता है। निर्मल चित्त व्यक्ति का मन आरसी के समान स्वच्छ हो जाता है, जिसमें शरीरस्थ ब्रह्म अथवा शुद्धात्मा की झलक स्पष्ट रूप से दिखाई पड़ने लगती है।

उपनिषद् के इस अध्यात्म दर्शन का भारतीय धर्म साधना पर व्यापक प्रभाव पड़ा। काव्य और दर्शन के क्षेत्र में इस सिद्धान्त की धारा अप्रतिहत गति से अनवरत रूप में प्रवाहित होती रही है। प्रत्येक समय में एक अथवा अनेक आत्मदर्शी सन्तों द्वारा उपनिषद् के आत्म-तत्व का विश्लेषण, विवेचन और ज्ञापन होता रहा है। परवर्ती सन्तों द्वारा इसका विविध रूप में उपयोग किया गया है। सिद्ध साहित्य, नाथ साहित्य और सन्त साहित्य पर इसका व्यापक प्रभाव देखा जा सकता है। एक प्रकार से उपनिषद् साहित्य में वर्णित ब्रह्म-तत्व की व्यापकता, आत्मतत्व की अनिर्वचनीयता, चित्त शुद्धि पर जोर, बाह्याडम्बर-विरोध और सहजसाधना आदि ही वे आधार शिलाएँ है, जिन पर उपर्युक्त साहित्य के भवन का निर्माण किया गया है। इन मतों की स्थापन-शैली में चाहे जो भी अन्तर हो अथवा यत्र तत्र नवीन बात ही क्यों न कही गई हो, किन्तु मूल रूप में सब दर्शन उपनिषद् के ऋणी हैं, इसे कोई अस्वीकार नहीं कर सकता।

---

१. नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो: न मेधया न बहुना श्रुतेन्।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूंस्वाम्॥
(मुण्डक ३, २, ३)

२. नाहं वेदैर्न तपसा न दानेन न चेज्यया।
शक्य एवं विधो द्रष्टुं दृष्टवानसि मां यथा। (गीता ११, ५३)

जैन धर्म और साधना का यद्यपि स्वतन्त्र अभ्युदय और विकास हुआ है, उसकी मूलभूत धारणाएं भी अपनी हैं तथापि उपनिषद् के प्रभाव से वह अछूता नहीं रह सका है। यह अवश्य सत्य है कि जैनमत आत्मा और परमात्मा में कोई अन्तर नहीं मानता। उसके अनुसार प्रत्येक आत्मा ही विकार शून्य होने पर परमात्मा बन जाता है। ब्रह्म की कोई भिन्न स्वतन्त्र सत्ता भी जैनमत को स्वीकार्य नहीं है तथापि अनेक दृष्टिकोणों से दोनों दर्शनों में समता है। इसे हम विस्तार से आगे चलकर देखेंगे। अतएव 'जैन रहस्यवाद' विषय पर कुछ कहने के पूर्व उपनिषद् साहित्य की इस पृष्ठभूमि से परिचित होना नितान्त आवश्यक है।

द्वितीय अध्याय

क्या जैन दर्शन में रहस्यवाद संभव है ?

●

आस्तिक और नास्तिक दर्शन

जैनकाव्य में 'रहस्यवाद' विषय पर विचार करने के पूर्व इस शंका का समाधान आवश्यक है कि जैनमत में रहस्यवाद सम्भव है या नहीं ? अनेक विद्वानों ने इसकी संभावना का निषेध करते हुए कहा है कि जैन धर्म एक नास्तिक धर्म है। वह ईश्वर या परब्रह्म की सत्ता में विश्वास नहीं करता। निरीश्वरवादी, रहस्यवादी हो ही नहीं सकता। मध्यकाल के धार्मिक विचारों को दो भागों में बाँट दिया गया था—आस्तिक और नास्तिक। इन शब्दों की व्याख्या भी कई प्रकार से की जाती थी। 'आस्तिक' से तात्पर्य उस सम्प्रदाय से समझा जाता था जो वेद और ईश्वर की सत्ता में विश्वास करते थे और इन दोनों की सत्ता को न मानने वाली विचारधाराएँ 'नास्तिक' कहलाती थीं। मनु ने वेद निन्दक को नास्तिक माना था तो उनके टीकाकार कुल्लूक भट्ट ने परलोक में विश्वास न करने वाले को। सातवीं शताब्दी के बाद इस प्रवृत्ति का अधिक जोर बढ़ गया था। प्रायः एक मत दूसरे मत की निन्दा करने और हीनता सिद्ध करने हेतु उसे अवैदिक और नास्तिक की उपाधि प्रदान कर दिया करता था। नास्तिक सम्प्रदायों में चार्वाक, माध्यमिक, योगाचार, सौत्रांतिक, वैभाषिक और जैनमत की गणना के अतिरिक्त, मीमांसा और सांख्य आदि निरीश्वरवादी सम्प्रदायों का नाम लिया जाता था।[1]

१. देखिए, आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी—मध्यकालीन धर्म साधना, पृ० १५, साहित्य भवन लिमिटेड, इलाहाबाद, प्र० सं०, १९५२।

वस्तुतः इस प्रकार का वर्गीकरण सारपूर्ण नहीं दिखाई पड़ता। इस विभाजन के मूल में आत्मश्लाघा और परनिन्दा की भावना ही प्रमुख रूप से कार्य करती थी। यही कारण है कि पाशुपतों और माहेश्वरों को 'नास्तिक' सिद्ध करने वाले शंकराचार्य को भी इसी आक्षेप का शिकार होना पड़ा था। जैनमत वेद को भले ही न मानता हो, अपने सिद्धान्तों की पुष्टि के लिए वेदों की दुहाई भले ही न देता हो, किन्तु उसे निरीश्वरवादी अथवा परलोक में विश्वास न करने वाला मत नहीं कहा जा सकता। डा० मंगलदेव शास्त्री ने उपर्युक्त वर्गीकरण की निस्सारता सिद्ध करते हुए लिखा है कि "यह वर्गीकरण निराधार ही नहीं, नितान्त मिथ्या भी है। आस्तिक और नास्तिक शब्द "अस्ति नास्ति दिष्टं मतिः" (पा० ४।४।६०) इस पाणिनि सूत्र के अनुसार बने हैं। मौलिक अर्थ उनका यही था कि परलोक (जिसे हम दूसरे शब्दों में इन्द्रियातीत तथ्य भी कह सकते हैं) की सत्ता को मानने वाला 'आस्तिक' और न मानने वाला 'नास्तिक' कहलाता है। स्पष्टतः इस अर्थ में जैन और बौद्ध दर्शनों को नास्तिक कहा ही नहीं जा सकता। इसके विपरीत हम तो यह समझते हैं कि शब्द प्रमाण की निरपेक्षता से वस्तुतत्व पर विचार करने के कारण दूसरे दर्शनों की अपेक्षा उनका अपना एक आदरणीय वैशिष्ट्य ही है।"[1]

जैन दर्शन की आस्तिकता-आत्मा और परमात्मा

जैन मत में ईश्वर या परमात्मा के उस स्वरूप को नहीं स्वीकार किया गया है, जो वेदों को मान्य है अथवा ब्राह्मण ग्रंथों मे जिसकी चर्चा है। किन्तु उपनिषद् का 'एक ब्रह्म' यहाँ आकर अनेक परमात्मा के रूप में पर्यवसित हो गया है। जैन दर्शन यह मानता है कि प्रत्येक आत्मा में यह शक्ति है कि वह परमात्मा बन जाय। उसमें आत्मा की तीन अवस्थायें अथवा भेद माने गए हैं—बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा। यह आत्मा की किसी जाति के वाचक न होकर अवस्था विशेष के ही बोधक हैं। बहिरात्मा उस अवस्था का नाम है जिसमें आत्मा अपने को नहीं पहचानता, देह तथा इन्द्रियों द्वारा स्फुरित होता हुआ, उन्हीं को अपना सर्वस्व मानने लगता है। अन्तरात्मा उस अवस्था विशेष का नाम है जिसमें यह जीवात्मा अपने को पहचानने लगता है, देहादि को अपने से भिन्न मानने लगता है, परन्तु पूर्णज्ञानी या पूर्णविद् नहीं बन जाता। परमात्मा, आत्मा की उस विशिष्ट अवस्था का नाम है जिसे पाकर यह जीव पूर्ण विकास को प्राप्त होता है और पूर्ण सुखी, पूर्ण ज्ञानी बन जाता है। इस प्रकार अवस्था या पर्याय की दृष्टि से आत्मा की त्रिविधता है, स्वरूप या द्रव्य की दृष्टि से नहीं।

---

१. प्रो० महेन्द्रकुमार—जैनदर्शन की भूमिका (डा० मंगलदेव शास्त्री) पृष्ठ १२, प्रकाशक : जैन ग्रंथ माला, काशी, विजयादशमी, सं० २०१२

'मोक्खपाहुड़' में श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने 'परमात्मा अथवा 'आत्मा' के इसी स्वरूप का वर्णन करते हुए लिखा है :—

"तिपयारो सो अप्पा परमंतरबाहिरो हु देहीणं।
तत्थ परो झाइज्जइ अंतोवाएण चयहि बहिरप्पा ॥४॥
अक्खाणि बहिरप्पा अन्तर अप्पा हु अप्पसंकप्पो।
कम्मकलंकविमुक्को परमप्पा भण्णए देवो ॥५॥"

अर्थात् आत्मा तीन प्रकार का है—अन्तरात्मा, बहिरात्मा और परमात्मा। अन्तरात्मा के उपाय से बहिरात्मा का परित्याग करके परमात्मा का ध्यान करो। इन्द्रियों के स्पर्शनादि के द्वारा विषय ज्ञान कराने वाला बहिरात्मा होता है। इन्द्रियों से परे मन के द्वारा देखने वाला, जानने वाला 'मैं हूं' ऐसा स्वसंवेदन गोचर संकल्प अन्तरात्मा होता है। पुनः द्रव्य कर्म (ज्ञानावरणादिक) भावकर्म (रागद्वेषमोहादिक) नोकर्म (शरीर आदि) कलंक मल रहित अनंतज्ञानादिक गुण सहित परमात्मा होता है। आपने परमात्मा की विशेषताओं का उल्लेख करते हुए पुनः कहा है कि परमात्मा मल रहित, शरीर रहित, इन्द्रिय रहित, केवल ज्ञानी, विशुद्ध, परम पद में स्थित, सब कर्मों को जीतने वाला, कल्याणकारी, शाश्वत और सिद्ध है :—

मलरहिओ कलचत्तो अणिंदियो केवलो विसुद्धप्पा।
परमेट्ठी परमजिणों सिवंकरो सासओ सिद्धो ॥६॥

इस प्रकार जैनमत में परमात्मा के अस्तित्व की कल्पना प्रारम्भ में ही कर ली गई थी, भले ही उसकी संख्या एक न होकर अनेक हो, भले ही वह नियामक और भिन्न वस्तु न स्वीकृत होकर, आत्मा का ही विकसित और शुद्ध, निर्विकार रूप माना गया हो। श्री चन्द्रधर शर्मा ने तो लिखा है कि आगे चलकर "वर्धमान महावीर ने परमात्मा का स्थान ले लिया और उन्हें 'शुद्धात्मा' कहा गया। वे इन्द्रिय, वाणी और विचार से परे हो गये और अनिर्वचनीय शुद्ध चैतन्यस्वरूप धारण कर लिया, जिन पर किसी भी प्रकार के विकार का प्रभाव नहीं पड़ सकता। जिस प्रकार समस्त जल समुद्र से मेघ द्वारा आता है, नदियों के रूप में बहता है और अन्ततः नदियों के द्वारा सागर में मिल जाता है, इसी प्रकार समस्त सापेक्षिक दृष्टिकोण परमतत्व से उद्भूत होकर उसी में लय हो जाते हैं।"[१] और प्रसिद्ध दार्शनिक डा० राधाकृष्णन ने तो यहाँ तक कह डाला है कि "मेरे विचार से जैन तर्कवाद ब्रह्मवादी आदर्शवाद की ओर ले जाता है और जहाँ तक जैन इसे अस्वीकार करते हैं, वे अपने तर्क के प्रति स्वयं झूठे बन जाते हैं।"[२] मुझे इस विवाद में यहाँ पड़ने की आवश्यकता नहीं, किन्तु इतना

१. Shri Chandra Dhar Sharma—Indian Philosophy—Page 72.

२. "In our opinion the Jain logic leads us to a monistic idealism and so far as the Jains shrink from it, they are untrue to their logic."—Dr. S. Radhakrishnan—Indian Philosophy, Page 805.

तो निर्विवाद रूप से स्वीकृत है कि जैनमत प्रारम्भ से परमात्म-तत्व में विश्वास करता है। इस सिद्धान्त के अनुसार सामान्यतः आत्मा नाना प्रकार के 'अजीव' पदार्थों से ग्रस्त रहता है, जिसे पारिभाषिक शब्दावली में 'पुद्गल' कहते हैं। आत्मप्रदेश पर पुद्गल के आगमन से आत्मा नाना प्रकार के राग-द्वेष-मोहादि में फँस जाता है। इसी मिथ्यात्व को 'आस्रव' कहते हैं। इनका निरोध ही 'संवर' कहलाता है। संवर 'निर्जरा' का, अनुक्रम से मोक्ष का कारण होता है। जब आत्मा स्वयं या गुरु उपदेश से आत्मा-अनात्मा का भेद या स्वभाव-विभाव की पहचान करने लगता है, अर्थात् जब उसमें स्व-पर का विवेक जाग्रत हो जाता है, उसे सम्यक् ज्ञानी कहा जाता है। इस सम्यक् ज्ञान की प्राप्ति ही 'परमात्मा' का विशेष लक्षण अथवा अंग है। इस प्रकार 'आत्मा' कर्म कलंक से मुक्त होकर उस अखंड और असीम आनन्द लोक में विचरण करता हुआ अध्यात्म सुख का अनुभव करता है, जो वर्णनातीत है, अनिर्वचनीय है। छठी शताब्दी तक आते-आते जैनाचार्यों की वर्णन शैली और वस्तुस्थापन शैली में बड़ी उदारता एवं व्यापकता दिखाई पड़ने लगती है। पूर्वकालीन एवं समकालीन पाखंडियों का विरोध, कर्मकांड की बहुलता की निस्सारता पर जोर, समरसी भाव एवं स्वसवेद्य ज्ञान में निष्ठा, इस युग की जैन रचनाओं में उसी प्रकार से देखे जा सकते हैं, जैसे कि उस समय के अन्य योगियों और तांत्रिकों में। बहुत सम्भव है कि इस दिशा में वे तांत्रिकों से प्रभावित हुए भी हों, जिसे कि बहुत से विद्वानों ने स्वीकार भी किया है। "विक्रम की छठी शताब्दी के बाद भारतीय धर्म साधना में एक नई प्रवृत्ति का उदय होता है। इस समय से भारतीय धर्म साधना के क्षेत्र में उस नए प्रभाव का प्रमाण मिलने लगता है, जिसे संक्षेप में तांत्रिक प्रभाव कह सकते हैं। केवल ब्राह्मण ही नहीं; जैन और बौद्ध सम्प्रदायों में भी यह प्रभाव स्पष्ट रूप से लक्षित होता है।"[1] हाँ, यह अवश्य सत्य है कि इस साधना में तांत्रिकों के समान 'पंच मकार' नहीं आने पाए, स्त्री को साधना का केन्द्र विन्दु नहीं माना गया और उस प्रकार की वासनोद्दीपक और वीभत्स क्रियाएँ भी सम्मिलित नहीं होने पाईं, जो छद्म वेष में कामुकों की परितृप्ति का साधन बनतीं। किन्तु यही सब रहस्यवाद नहीं है और न रहस्यवाद को इन्हीं सीमाओं में बन्दी बना देना उपयुक्त ही।

रहस्यवाद का तात्पर्य

वस्तुतः अध्यात्म की चरम सीमा ही रहस्यवाद की जननी है। यह एक ऐसी अनुभूति है, जो साधक के अन्तस् में जाग्रत होकर अखिल विश्व को उसके लिए ब्रह्ममय कर देती है अथवा उसे स्वयं ब्रह्म ही बना देती है। बुद्धि का ज्ञेय ही हृदय का प्रेय बन जाता है। समस्त प्राणियों में उसे परमात्मा का आभास होने लगता है अथवा समस्त प्राणी ही परमात्मा बन जाते हैं।[2] वह मन की एक ऐसी

---

१. आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी–मध्य कालीन धर्म साधना, पृष्ठ ६।

२. Radhakamal Mukerjee–Introduction to Theory and art of Mysticism, Page 7.

प्रवृत्ति है, जो परमात्मा से प्रत्यक्ष, तात्कालिक, प्रथम स्थानीय, और अन्तर्ज्ञानीय संबंध स्थापित करती है।[१] इस सम्बन्ध स्थापन हेतु किसी बाह्य साधन की अपेक्षा नहीं रहती। इन्द्रिय और मन के व्यापार विरत हो जाते हैं। समस्त सांसारिक वस्तुओं को साधक निरपेक्ष और तटस्थ दृष्टि से देखने लगता है। आत्मा मल और विकार शून्य होते हुए क्रमशः उस उच्च विन्दु तक पहुंच जाता है 'जहं मण पवण न संचरइ' और 'जहं रवि ससि नाह पवेस'। उसमें वह ज्ञान पैदा हो जाता है जिससे वह सत्य और असत्य के अन्तर को स्पष्ट करने में सक्षम हो जाता है। शास्त्रीय भाषा में वह 'पराविद्या' युक्त होकर परमात्मा के गुणों से आवेष्ठित हो जाता है अथवा स्वयं परमात्मा बन जाता है। वह पाप-पुण्य से परे हो जाता है, समय की सीमा अथवा काल का बन्धन उसे जकड़ नहीं पाता। वह गुण-दोषों की विवेचना में नहीं फंसता, क्योंकि उसके लिए यह सब अवास्तविक प्रतीत होने लगते हैं। प्रसिद्ध दार्शनिक बर्ट्रांड रसेल ने इसी कारण 'रहस्यवाद' के चार मूलभूत आधार स्तम्भ माने हैं[२] :—

१. ज्ञान की उस शाखा की सम्भावना में विश्वास करना जिसे अन्तर्ज्ञान, प्रातिभज्ञान या स्वसंवेद्यज्ञान कहते हैं और जो ऐन्द्रियज्ञान, तर्क और विश्लेषण से भिन्न होता है।
२. एकता में विश्वास, पाप-पुण्य के द्वय का निषेध।
३. समय अथवा काल की यथार्थता का निषेध।
४. दोषों की असत्यता में विश्वास-यह निष्ठा कि समस्त सांसारिक गुण-दोष माया हैं, भ्रम हैं, दिखावा मात्र हैं।

जैनाचार्यों ने मध्यकालीन अन्य सन्तों के समान उपर्युक्त तथ्यों को स्वीकार किया है। उन्होंने बताया है कि मनुष्य केवल स्थूल बुद्धि से अथवा पुस्तकीय ज्ञान से परमतत्व की अनुभूति नहीं कर सकता, परमात्मा नहीं बन सकता। वह व्यक्ति जो आजीवन नाना ग्रन्थों और शास्त्रों में ही चक्कर काटा करते हैं, अन्ततः अपने उद्देश्य में निष्फल ही रहते हैं। मुनि रामसिंह कहते हैं कि मूर्ख तूने बहुत पढ़ा जिससे कि तालु सूख गई, किन्तु यदि एक अक्षर पढ़ ले, तो शिवपुर गमन हो जाय अर्थात् यदि तेरे में अन्तर्ज्ञान उत्पन्न हो जाय, यथार्थ और अयथार्थ में अन्तर करने की क्षमता धारण कर ले तो तेरा कार्य सिद्ध हो जाय :—

बहुयइं पढ़ियइं मूढ़ पर तालू सुक्कइ जेण।
एक्क ज अक्खर तं पढ़इ, सिवपुरि गम्मइ जेण।।

---

१. "Mysticism denotes that attitude of mind which involves a direct, immediate, first-hand, intuitive apprehension of God." —R. D. Ranade, Mysticism in Maharashtra, Arya Bhushan Press Office, Poona—2, Ist Edition, 1633. (Preface, Page 1.)

२. Bertrand Russell—Mysticism and Logic—Page 16–17.

यही नहीं वे व्यक्ति जो केवल विश्लेषणात्मक और तर्क प्रधान ज्ञान को ही सर्वस्व समझ लेते हैं, वे कण को छोड़कर तुष को ही कूटते हैं। वे ग्रन्थ और उसके अर्थ को जानते हुए भी परमार्थ नहीं जानते। अतः मूर्ख ही बने रहते हैं :–

पंडिय पंडिय पंडिया कणु छंडिवि तुस कंडिया।
अत्थे गंथे तुट्ठो सि परमत्थु ण जाणहि मूढोसि ॥८४॥

(पाहुड़ दोहा)

जैन मत में ज्ञान की कई कोटियाँ भी मानी गई हैं। कुन्दकुन्दाचार्य ने 'पंचास्तिकाय' में ज्ञान के पाँच भेदों का उल्लेख किया है—मतिज्ञान, श्रुतिज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययिज्ञान और केवल ज्ञान।[1] इनमें प्रथम दो को ऐन्द्रिय अथवा परोक्ष ज्ञान और शेष तीन को अतीन्द्रिय अथवा प्रत्यक्ष ज्ञान कहा गया है। कुमति, कुश्रुत और विभंग—इन तीन अज्ञानों का भी वर्णन मिलता है। इसमें बताया गया है कि ऐन्द्रिय ज्ञान केवल गोचर पदार्थ और उसके सम्बन्धों तक ही सीमित है। प्रत्यक्ष ज्ञान पूर्ण सत्य से परिचय कराता है। केवल ज्ञान के प्राप्त होने पर ज्ञान, ज्ञाता और ज्ञेय में अन्तर नहीं रह जाता।[2] अतएव केवलज्ञानी पूर्ण बन जाता है और पूर्ण की व्याख्या भाषा से नहीं की जा सकती। वह अनिर्वचनीय है। वह तर्क से जाना नहीं जा सकता। 'ज्ञान' का यह विवेचन पहले बताए गए बर्ट्रान्ड रसेल के वर्णन के समान ही है। बर्ट्रान्ड रसेल के ऐन्द्रिय ज्ञान के यहाँ दो भेद हो गए हैं—मति, श्रुति। और प्रातिभज्ञान यहां 'केवल ज्ञान' के नाम से अभिहित किया गया है।

जैनचार्यों ने पाप और पुण्य दोनों की निस्सारता की स्पष्ट शब्दों में उद्घोषणा की है। यदि एक को लौह शृंखला बताया है तो दूसरे को स्वर्ण शृंखला। किन्तु हैं दोनों बन्धन-स्वरूपा। साधना के पथ पर अग्रसर होने वाले 'आत्मा' के लिए दोनों अन्तराय बनकर आते हैं। देवसेन ने 'सावयधम्मदोहा' में कहा है कि पुण्य और पाप दोनों जिसके मन में सम नहीं हैं उसे भवसिन्धु दुस्तर है। क्या कनक या लोहे की निगड़ प्राणी का पादबन्धन नहीं करती ?

पुण्णु पाउ जसु मणि ण समु तसु दुत्तरु भवसिन्धु।
कणयलोहणियलहूं जियहु किं ण कुणहि पयबन्धु ॥२११॥

कुंदकुंदाचार्य ने इसीलिए 'मोक्खपाहुड़' में स्पष्ट रूप से कह दिया था कि योगी मन, वचन, कर्म से मिथ्यात्व, अज्ञान, पाप-पुण्य का परित्याग करे योगस्थ होकर आत्मा का ध्यान करता है :—

मिच्छत्तं अण्णाणं पावं पुण्णं चएवि तिविहेण।
मोणव्वएण जोई जोयत्थो जोयए अप्पा ॥१८॥

---

(१) आभिणिसुदोधिमण, केवलाणि णाणाणि पंचभेयाणि।
कुमदिसुदविभंगाणि, य तिण्णिवि णाणेहिं संजुतो ॥४१॥

(२) देखिये—श्री कुन्दकुन्दाचार्य विरचित भावपाहुड़ के दोहा नं० ५९-६०।

साधक के लिए साधन के पथ पर अग्रसर होने के पूर्व पाप-पुण्य को समान रूप से हीन समझ कर, दोनों का त्याग नितान्त आवश्यक माना गया। सच्चे ज्ञान की संज्ञा उसी को दी गई जिसके आलोक में पाप-पुण्य के तम का विनाश हो जाय। मुनि रामसिंह ने कहा कि 'हे मूर्ख। बहुत पढ़ने से क्या? ज्ञान तिलिंग (अग्नि कण) को सीख, जो प्रज्वलित होने पर पाप और पुण्य दोनों को विनष्ट कर देता है :—

णाणतिडिक्की सिक्खि वढ़ किं पढ़ियइ बहुएण।
जा सुधुक्की णिड्डहइ पुण्णु वि पाउ खणेण ।।८७।।

जैन तीर्थंकर प्रमुख रहस्यवादी

इस दृष्टि से जैन दर्शन में 'रहस्यवाद' के तत्व, इसके अभ्युदय के समय से ही आ गए थे और यदि सूक्ष्म रूप से देखा जाय तो स्पष्ट हो जायगा कि जैन धर्म के अधिष्ठाता चौबीस तीर्थङ्कर संसार के प्रमुख रहस्यदर्शियों में थे। उनका जीवन-चरित्र, उनका रहन-सहन, उनका दैनिक आचरण इस दिशा में विशेष रूप से दृष्टव्य है। वे जिस प्रकार बाह्य वासनाओं से अपने मन और शरीर को नियन्त्रित करके आत्म चिन्तन में लीन रहा करते थे, क्या वह रहस्यात्मकता का प्रतीक नहीं है? क्या उनका जीवन आत्मा को परमात्मा की अवस्था तक पहुंचा देने का साधन मात्र ही न था? श्री ए० एन० उपाध्ये ने 'परमात्मप्रकाश' की भूमिका में स्वीकार किया है कि व्यावहारिक दृष्टि से देखने पर जैन तीर्थंकर, ऋषभदेव, नेमिनाथ, पार्श्वनाथ, महावीर आदि विश्व के महान रहस्यदर्शियों में हुए हैं।[1] उदाहरण के लिए हम आदि तीर्थंकर और जैन धर्म के प्रवर्तक ऋषभदेव को ले सकते हैं। श्रीमद्भागवत में उनका सविस्तार वर्णन मिलता है। उसके अनुसार आपने पृथ्वी का पालन करने के लिए अपने पुत्र (भरत) को राजगद्दी पर बैठा दिया और स्वयं उपशमशील, निवृति परायण, महामुनियों के भक्ति, ज्ञान और वैराग्य रूप परमहंसोचित धर्मों की शिक्षा देने के लिए बिल्कुल विरक्त हो गए। शरीर मात्र का परिग्रह रक्खा और सब कुछ घर पर रहते ही छोड़ दिया। अब वे वस्त्रों का भी त्याग करके सर्वथा दिगम्बर हो गए। उस समय उनके बाल बिखरे हुए थे, उन्मत्त का सा वेष था। वे सर्वथा मौन हो गए थे, कोई बात करना चाहता तो बोलते नहीं थे। जड़, अंधे, बहरे, गूंगे, पिशाच और पागलों की सी चेष्टा करते हुए वे अवधूत बने हुए जहाँ तहाँ विचरने लगे :-

'भरतं धरणिपालनायाभिषिच्य स्वयं भवन एवोर्वरति शरीर मात्र परिग्रह उन्मत्त इव गगनपरिधानः प्रकीर्ण केश आत्मन्यारोपिताहवनीयो ब्रह्मावर्तात्प्रवव्राज

---

1. To take a practical view the Jain Tirthankaras like Rishabhadeva, Neminath, Parsvanath and Mahavira etc. have been some of the greatest mystics of the World.
—Sri A. N. Upadhey—Introduction of Paramatma Prakash, Page 39.

जड़ान्ध मूकबधिरपिशाचोन्मादकवदवधूतवेषोऽभिभाष्यमाणोऽपि जनानां गृहीत मौनव्रतस्तूष्णीं बभूव।" (श्रीमद्भागवत्, गीताप्रेस, पंचम स्कन्ध, तृतीय अध्याय, पृ० ५५५)

वह कभी नगरों और गाँवों में चले जाते तो कभी खानों, किसानों की बस्तियों, बगीचों, पहाड़ी गाँवों, सेना की छावनियों, गोशालाओं, अहीरों की बस्तियों और यात्रियों के टिकने के स्थानों में रहते, कभी पहाड़ों, जंगलों और आश्रम आदि में विचरते। वे किसी भी रास्ते से निकलते तो जिस प्रकार वन में विचरने वाले हाथी को मक्खियाँ सताती हैं, उसी प्रकार मूर्ख और दुष्ट लोग उनके पीछे हो जाते और उन्हें तंग करते। कोई धमकी देते, कोई मारते, कोई पेशाब कर देते, कोई थूक देते, कोई ढेला मारते, कोई विष्टा और धूल फेंकते, कोई अधोवायु छोड़ते और कोई खरी खोटी सुनाकर उनका तिरस्कार करते। किन्तु वे इन बातों पर जरा भी ध्यान न देते। इसका कारण यह था कि भ्रम से सत्य कहे जाने वाले इस शरीर में उनकी अहंता-ममता तनिक भी नहीं थी। वे कार्य-कारण रूप सम्पूर्ण प्रपंच के साक्षी होकर अपने परमात्मस्वरूप में ही स्थित थे, इसलिये अखंड चित्तवृत्ति से अकेले ही पृथ्वी पर विचरते रहते थे।

आदि तीर्थङ्कर ऋषभदेव के उपदेश भी 'आत्मपरक' हुआ करते थे। ठीक उपनिषद् की शैली में आप भी आत्मतत्व की प्राप्ति के लिए कर्मबंधन से छुटकारा आवश्यक समझते थे। उन्होंने अपने पुत्रों से कहा था कि जब तक जीव को आत्मतत्व की जिज्ञासा नहीं होती, तभी तक अज्ञानवश देहादि के द्वारा उसका स्वरूप छिपा रहता है। जब तक वह लौकिक-वैदिक कर्मों में फँसा रहता है, तब तक मन के कर्मों की वासनाएं भी बनी रहती हैं और इन्हीं से देह-बन्धन की प्राप्ति होती है :—

पराभवस्तावदबोधजातो,
यावन्न जिज्ञासत आत्मतत्वम्।
यावत्क्रियास्तावदिदं मनो वै,
कर्मात्मकं येन शरीर बंधः॥

(श्रीमद्भागवत, गीताप्रेस, पंचम स्कन्ध, तृतीय अध्याय, पृ० ५५५)

ऋषभदेव के जीवन चरित और साधना पद्धति का जो उपर्युक्त वर्णन श्रीमद्भागवत में मिलता है, उससे यह असंदिग्ध रूप से प्रमाणित हो जाता है कि ऋषभदेव विश्व के उच्चकोटि के रहस्यदर्शियों में थे और आपने एक नवीन धर्म को ही जन्म नहीं दिया था, अपितु उसके मूल में आत्मपरिष्कार के सच्चे बीजों का वपन भी कर दिया था। इसीलिए प्रो० आर० डी० रानाडे सदृश मनीषियों ने भी आपको उच्च कोटि का साधक और रहस्यदर्शी माना है।[1] यहाँ

1. Rishabhadeva, whose interesting account we meet with in the Bhagvata is yet a mystic of a different kind, whose utter carelessness of his body is the supreme mark of his God realisation.
—R. D. Ranade—Indian Mysticism—Mysticism in Maharashtra, P. 9.

एक बात का उल्लेख कर देना अति आवश्यक है कि ऋषभदेव का श्रीमद्भागत द्वारा वर्णन जैन-परम्परा-समर्थित है। जैन धर्माचार्यों ने भी इसी प्रकार आपकी चिन्तामुक्तता, उदासीनता और साधना-पद्धति का वर्णन किया है।[1] श्रीमद्भागवत में आपका उल्लेख यह भी निश्चित कर देता है कि आप मात्र जैनियों द्वारा कल्पित आद्यतीर्थङ्कर ही नहीं है, अपितु वे एक ऐतिहासिक पुरुष हैं। अनुश्रुतियों, पौराणिक ग्रन्थों और इतिहासों में आपकी चर्चा होती रही है। पहले कुछ विद्वानों ने अवश्य आपकी ऐतिहासिकता पर सन्देह प्रगट किया था, किन्तु बाद में प्रसिद्ध विद्वान् डा० हर्मन याकोबी और भारतीय दार्शनिक डा० राधाकृष्णन् ने आपके अस्तित्व की प्रामाणिकता को सिद्ध कर दिया। डा० याकोबी ने लिखा है कि इसका कोई भी प्रमाण नहीं है कि पार्श्वनाथ जैन धर्म के संस्थापक थे। जैन परम्परा प्रथम तीर्थङ्कर ऋषभदेव को जैन धर्म का संस्थापक मानने के पक्ष में हैं। इस मान्यता में ऐतिहासिक सत्य की सम्भावना है।[2] इसी प्रकार डा० राधाकृष्णन् ने लिखा है कि जैन परम्परा ऋषभदेव से अपने धर्म की उत्पत्ति होने का कथन करती है। ईसा पूर्व की प्रथम शताब्दी से ही उनकी पूजा के प्रमाण मिलते हैं।[3] प्रो० महेन्द्रकुमार ने 'खंडगिरि उदयगिरि की हाथी गुफा से प्राप्त २१०० वर्ष पुराने लेख से ऋषभदेव की कुलक्रमागतता और प्राचीनता' सिद्ध की है।[4]

इसके उपरान्त अन्य तीर्थङ्करों द्वारा इसी साधना पद्धति का अनुसरण किया गया है। कवियों और सिद्धान्त-प्रतिष्ठापकों द्वारा उसी का अनुगमन किया गया है। इस दिशा में श्री कुन्दकुन्दाचार्य का नाम प्रमुख और प्रथम आचार्य के रूप में लिया जा सकता है। तदुपरान्त स्वामी कार्तिकेय, पूज्यपाद, अमृतचन्द्र, गुणभद्र, अमितगति आदि अनेक सन्तों द्वारा इस क्षेत्र में महत्वपूर्ण योगदान हुआ है। सातवीं शताब्दी से चौदहवीं-पन्द्रहवीं शताब्दी तक अनेक सन्त कवि—जिनमें योगीन्दु, मुनि रामसिंह, देवसेन, नेमिचन्द्र, आनन्दतिलक, बनारसीदास, छीहल, रूपचन्द्र, दौलत राम, भैया भगवती दास और आनन्दघन प्रमुख हैं—अपनी रचनाओं से आत्मजिज्ञासु व्यक्तियों का मार्गदर्शन करते रहे। समय के

---

१. देखि—प्रो० महेन्द्रकुमार न्यायाचार्य—जैन दर्शन, पृ० ३।

2. "There is nothing to prove that Parshva was the founder of Jainism. Jain tradition is unanimous in making Rishabha the first Tirthankara (as its founder). There may be something historical in the tradition which makes him the first Tirthankara." (Indian Antiquary, Vol. IX, P. 163.)

3. "There is evidence to show that so far back as the first century B. C. there were people who were worshipping Rishabhadeva, the first Tirthankara." (Indian Philosophy (Vol. I, P. 287.)

४. देखिए—प्रो० महेन्द्रकुमार, जैन दर्शन, पृष्ठ ३।

साथ ही साथ इन लोगों ने अनेक नवीन तत्वों को ग्रहण किया तथा प्राचीन संकीर्ण विचारों का परित्याग भी किया।

आठवीं शताब्दी के बाद धर्म-साधना का नया स्वरूप :

जैसा कि हम पहले कह चुके हैं आठवीं-नवीं शताब्दी तक आते-आते जैन मत पर पर्याप्त बाह्य प्रभाव पड़ चुका था। वह पूर्व तीर्थङ्करों द्वारा नियोजित कर्मकांड की बहुलता और अतिशयता से भी ऊब चुका था। अतः इसकी प्रतिक्रिया भी स्वाभाविक रूप में आवश्यक थी। परिणामतः इस समय तक आते-आते जैन सन्तों की विचार सरणि और अभिव्यक्ति की प्रणाली में भी काफी अन्तर आ गया। यद्यपि 'तांत्रिकों' के अवगुण से यह बचा रहा तथापि इसने बौद्ध, शैव, शाक्त आदि योगियों और 'तांत्रिकों' की अनेक बातों को ग्रहण कर लिया। बाह्याचार का विरोध, चित्तशुद्धि पर जोर, शरीर को ही समस्त साधनाओं का केन्द्रविन्दु मानना और समरसी भाव से स्वसंवेदन आनन्द का उपभोग जैन आचार्यों द्वारा उसी प्रकार स्वीकृत और प्रसारित हुआ, जिस प्रकार तत्कालीन अन्य आत्मदर्शी सन्तों द्वारा। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी का तो विश्वास है कि "अगर उनकी रचनाओं के ऊपर से 'जैन' विशेषण हटा दिया जाय तो वे योगियों और तांत्रिकों की रचनाओं से बहुत भिन्न नहीं लगेंगी। वे ही भाव और वे ही प्रयोग घूम फिर कर उस युग के सभी साधकों के अनुभव में आया करते थे।"[1] मध्यकालीन साधकों के इस भाव-साम्य पर हम आगे चलकर विस्तार से विचार करेंगे। यहाँ केवल इतना संकेत कर देना चाहते हैं कि इन जैन मुनियों ने सांसारिक बन्धनों से मुक्त होने के लिए, परम तत्व की प्राप्ति और जानकारी के लिए उसी साधना पथ को अपनाया, जिसे 'रहस्यवाद' के नाम से अभिहित किया जाता है। उन्होंने बाह्याडम्बरों, रूढ़िवादिताओं और पाखण्डों का विरोध किया, शरीर को ही समस्त साधनाओं का केन्द्र माना और भौतिक शरीर और आत्मा में अन्तर स्पष्ट करते हुए विराट तत्व का निवास इसी शरीर में बताया। मुनि योगीन्दु ने कहा कि देह रूपी देवालय में ही अनादि और अनन्त परमात्मा का वास है, जो केवल-ज्ञान से स्फुरित होता है :—

> देहा देवलि जो बसइ देउ अणाइ अणंतु।
> केवल-णाण-फुरंत-तणु सो परमप्पु णिभंतु ॥३३॥
> (परमात्म प्रकाश)

देह स्थित इस परमात्मा को प्राप्त करने के लिए मन्दिर, तीर्थाटन, पूजा आदि बाह्य साधनों की आवश्यकता नहीं। तीर्थयात्रा से केवल बाह्य शरीर मल रहित हो सकता है, किन्तु अन्तरात्मा अप्रभावित ही रहेगा :—

> तित्थइं तित्थ भमंतयहं किं णेहा फल हूव।
> बाहिरु सुद्धउ पाणियहं अब्भिंतरु किम हूव ॥१६१॥
> (पाहुड़ दोहा)

---

१. आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी—मध्यकालीन धर्म साधना, पृ० ४३।

अतः वीतराग स्वसंवेदन ज्ञान से रहित जीवों को तीर्थ भ्रमण से मोक्ष नहीं प्राप्त हो सकता :—

तित्थहं तित्थु भमंताहं मूढ़हं मोक्खु ण होइ।
णाण-विवज्जिउ जेण जिय मुणिवर होइ ण सोइ ॥८५॥
(परमात्म-प्रकाश, द्वि० खंड)

जब परमात्मा का आवास शरीर में ही है अर्थात् जो ब्रह्मांड में व्याप्त है, वही पिण्ड में स्थित है, तो केवल चित्त शुद्धि से उसका पावन साक्षात्कार किया जा सकता है। जब मन नाना प्रकार की वासनाओं से विरत हो जाता है, शरीर और तत्सम्बन्धित पदार्थों की क्षणभंगुरता को जानकर उससे विमुख हो जाता है और एकमात्र आत्म तत्त्व की ही आराधना करता है तो एक ऐसी अवस्था आती है, जब उसके ज्ञान चक्षु खुल जाते हैं, वह परमानंद का अनुभव करता हुआ, उसी में लीन हो जाता है अथवा वह स्वयं परमात्मा बन जाता है। इसे ही 'सामरस्य अवस्था या समरसी भाव' कहा गया है। इसी रस का अनुभव करने वाला साधक अन्य किसी रस की स्पृहा नहीं करता :—

समरसकरणं वदाम्यां परमपदाखिल पिण्ड्योरिदानीम्।
यदनुभव बलेन योग निष्ठा इतरपदेषु गतस्पृहा भवन्ति ॥[1]

इस 'समरसीभाव' में लवणवत् घुलमिल जाने पर, अपनी सत्ता की परमसत्ता में एकाकार कर देने पर किसी अन्य साधना की आवश्यकता ही नहीं रहती। जीव इसी पिण्ड में अवस्थित ब्रह्म से अपना अभेद सम्बन्ध स्थापित कर लेता है। योगीन्दु मुनि ने कहा है कि समरसी भाव को प्राप्त हुआ साधक संकल्प-विकल्प-रहित होकर आत्मस्वरूप में ठहरता है, उसे 'संवर निर्जरा स्वरूप' भी कहा जाता है :—

अच्छइ जित्तिउ कालु मुणि अप्पु सरुवि णिलीणु।
संवर णिज्जर जाणि तुहुं सयल वि अप्प-विहीणु ॥३८॥
(परमात्म प्रकाश)

इसीलिए आपने चित्त शुद्धि पर अत्यधिक जोर दिया। आपने बार-बार कहा कि वन्दन और प्रतिक्रमण को छोड़कर, जीव को शुद्ध चित्त सम्पन्न होना अनिवार्य है। मन शुद्धि के बिना संयम सम्भव नहीं। चित्त शुद्धि के द्वारा ही संयम, शील, तप, ज्ञान, दर्शन, कर्मक्षय सम्भव है। विशुद्ध भाव ही धर्म है। शुद्ध भाव ही मुक्ति मार्ग है। चित्त शुद्धि के बिना किसी भी साधन से मुक्ति सम्भव नहीं :—

वंदणु णिंदणु पडिकमणु णाणिहिं एहु ण जुत्तु।
एक्कु जि मेल्लिवि णाणमउ सुद्धउ भाउ पवित्तु ॥६५॥

---

१. आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी—मध्यकालीन धर्म साधना पृ० ४५ से उद्धृत।

सुद्धहं संजमु सीलु तउ सुद्धहं दंसणु णाणु ।
सुद्धहं कम्मक्खउ हवइ सुद्धउ तेण पहाणु ॥६७॥
(परमात्म प्रकाश, अध्याय २)

चित्त शोधन मात्र से मानव मन स्वच्छ दर्पणवत् परम तत्व का आभास कराने लगता है। मन बहिर्मुखी न रहकर अन्तर्मुखी हो जाता है। अपने परम प्रिय का दर्शन पा अनिर्वचनीय आनन्द का अनुभव करता हुआ साधक उस अवस्था को प्राप्त हो जाता है, जिसमें बाह्य धर्म की अपेक्षा नहीं रहती। वे विस्मृत हो जाते हैं। तब पूजा करने की आवश्यकता ही नहीं रहती। और ठीक भी तो है। जब मन परमेश्वर से मिल गया और परमेश्वर मन से, दोनों समरस हो रहे तो पूजा किसे चढ़ायी जाय ?

मणु मिलियउ परमेसरहो परमेसरु जि मणस्स ।
बिण्णि वि समरसि हुइ रहिअ पुज्ज चढ़ावउं कस्स ॥४६॥
(मुनि रामसिंह—पाहुड दोहा)

इस सामरस्य अवस्था को प्राप्त हुआ साधक अखिल विश्व को 'ब्रह्ममय' देखने लगता है। भौतिक पदार्थों की भिन्नता में भी उसे अभिन्नत्व भासित होने लगता है। पाप-पुण्य, लाभ-हानि, गुण-दोष आदि की विवेचना करना तो दूर रहा, उसके भेद की ओर भी साधक का मन नहीं जाता। तभी तो मुनि योगीन्दु ने कहा था कि किसकी समाधि करूँ ? किसकी अर्चना करूँ ? स्पर्शास्पर्श का विचार कर किसका परित्याग करूँ ? किससे मित्रता और किससे शत्रुता करूँ ? जहाँ कहीं देखता हूं, आत्मा ही दिखाई पड़ता है :—

को ? सुसमाहि करउं को अचंउ छोपु अछोपु करिबि को वंचउ ।
हल सहि कलहु केण समाणउ जहि कहि जोवउ तहि अप्पाणउ ॥४०॥
(योगसार)

इस प्रकार कर्म से मुक्त होकर आत्मा शुद्ध-चेतन-व्यापार-स्वरूपा हो जाता है। मिथ्यात्व के बन्धन और सीमाएँ मृणालतन्तुवत् टूट जाते हैं। यही सिद्ध केवली अथवा आत्मा की मुक्त अवस्था कही गयी है। यह साधना-पथ रहस्यवाद ही कहा जायगा। श्री कुन्दकुन्दाचार्य विरचित 'अष्टपाहुड़' की भूमिका में श्री जगत प्रसाद ने भी इसी तथ्य को स्वीकार करते हुए कहा है कि जैनवाद का आधार रहस्यानुभूति है, किन्तु सिद्धान्त वर्णन में स्पष्ट पद्धति और सरल सीधी भाषा का प्रयोग किया गया है, इससे धर्म के प्रेम और सेवा के तत्व आकर रहस्यवाद के आलोचकों से इसकी रक्षा करते हैं।[1]

---

1. Jainism is based on a mystic experience, but the doctrine has been worked out systematically and put in plain straight language, which makes it clear that it is not different from the religion of love and service, which the critics of mysticism would advocate.—Asta-Pahuda of Kundkundacharya, Part I—Introduction by Jagat Prasad, Page 18.

द्वितीय खण्ड

तृतीय अध्याय

जैन रहस्यवादी कवि और काव्य

●

जैन कवियों की उपेक्षा के कारण

जैन साहित्य मूलत: धार्मिक साहित्य है। जैन कवियों ने छिछले शृंगार अथवा लौकिक आख्यानों की अपेक्षा धार्मिक और आध्यात्मिक साहित्य की रचना में ही अधिक रुचि ली है, यद्यपि धर्मेतर साहित्य की भी उनके द्वारा कम मात्रा में रचना नहीं हुई है। अपभ्रंश और हिन्दी में इनके द्वारा अनेक चरित काव्य और रासो ग्रन्थ भी लिखे गये हैं, जो अब धीरे-धीरे प्रकाश में आ रहे हैं। किन्तु इन कवियों की अधिक धर्मनिष्ठा और इनमें से कुछ कवियों की आवश्यकता से अधिक साम्प्रदायिक मनोवृत्ति के कारण इनके साथ न्याय नहीं हो सका। हिन्दी साहित्य के इतिहास में इनको उचित स्थान तक न मिल सका। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल जैसे साहित्यकार की दृष्टि में ये न जँच सके और इनको मात्र धार्मिक रचनाकार कह कर इतिहास से निकाल दिया गया।

किन्तु स्थिति सदैव समान नहीं रहती है। सत्य और गुण को अधिक दिनों तक छिपाया नहीं जा सकता। जैन धार्मिक रचनाओं का भी नये सिरे से अध्ययन हुआ और उनके महत्व पर विद्वानों का ध्यान आकृष्ट हुआ। धीरे-धीरे यह स्पष्ट हुआ कि उनकी धार्मिक रचनाएँ भी उच्चकोटि के साहित्य में प्रमुख स्थान रखती हैं और हिन्दी साहित्य से उनको अलग कर देने का तात्पर्य होगा, उसके एक महत्वपूर्ण अंश से हाथ धोना। सम्भवत: आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने सर्वप्रथम स्पष्ट शब्दों में घोषणा की कि "स्वयंभू, चतुर्मुख, पुष्पदंत और धनपाल जैसे कवि केवल जैन होने के कारण ही काव्य क्षेत्र से बाहर नहीं चले जाते। धार्मिक साहित्य होने मात्र से कोई रचना साहित्यिक कोटि से अलग नहीं

की जा सकती। यदि ऐसा समझा जाने लगे तो तुलसीदास का रामचरितमानस भी साहित्य क्षेत्र में अविवेच्य हो जाएगा और जायसी का पद्मावत भी साहित्य सीमा के भीतर नहीं घुस सकेगा।............बौद्धों, ब्राह्मणों और जैनों के अनेक आचार्यों ने नैतिक और धार्मिक उपदेश देने के लिए लोक कथाओं का आश्रय लिया था। भारतीय सन्तों की यह परम्परा परमहंस रामकृष्णदेव तक अविछिन्न भाव से चली आई है। केवल नैतिक और धार्मिक या आध्यात्मिक उपदेशों को देखकर यदि हम ग्रन्थों को साहित्य सीमा से बाहर निकालने लगेंगे तो हमें आदिकाव्य से भी हाथ धोना पड़ेगा, तुलसी रामायण से भी अलग होना पड़ेगा, कबीर की रचनाओं को भी नमस्कार कर देना पड़ेगा और जायसी को भी दूर से दण्डवत् करके विदा कर देना होगा।"[१]

रहस्यवादी काव्य रचना का आरम्भ

जैन कवियों का ध्यान अध्यात्म की ओर भी गया और आरम्भ से ही वे आत्मा,परमात्मा, कर्म, मोक्ष आदि पर अपने विचार व्यक्त करते रहे। अनेक कवि उच्चकोटि के साधक भी हुए। जिस प्रकार अपभ्रंश भाषा सिद्धों और नाथों की रहस्यमयी रचनाओं से गौरवान्वित है और जिस प्रकार कबीर, दादू, सुन्दर, रज्जब आदि सन्तों ने अपनी स्वानुभूतिमयी वाणियों से हिन्दी का अक्षय भंडार भरा है, उसी प्रकार जैन रहस्यवादी कवियों की भी एक अटूट शृंखला मिलती है। अपभ्रंश और हिन्दी को तो इन कवि साधकों ने अपने विचारों की अभिव्यक्ति का माध्यम बनाया ही, प्राकृत और संस्कृत में भी उच्चकोटि के ग्रन्थों का प्रणयन किया।

मैंने अपभ्रंश और १८वीं शताब्दी तक के हिन्दी कवियों को ही अपने अध्ययन का विषय बनाया है, किन्तु यहाँ पर प्राकृत और संस्कृत के उन आचार्यों का उल्लेख कर देना भी आवश्यक है, जो परवर्ती मुनियों के प्रेरणा-स्रोत रहे हैं और जो रहस्यवाद के मूल उत्स हैं।

प्राकृत में :

जैन साहित्य आचार्य कुंदकुंद से प्रारम्भ होता है। आपको ही जैन सिद्धान्तों को सर्वप्रथम लिपिबद्ध करने का श्रेय प्राप्त है। आपको ही प्रथम जैन रहस्यवादी कवि कहा जा सकता है। आपके आविर्भाव काल के सम्बन्ध में काफी मतभेद हैं, किन्तु अधिकांश विद्वान् आपको ईसा की प्रथम शताब्दी का कवि मानते हैं। आपकी सभी रचनाएँ प्राकृत भाषा में हैं। वैसे तो आपके ८४ पाहुड़ प्रसिद्ध हैं, किन्तु अष्टपाहुड़ ही उपलब्ध हैं। इनमें से मोक्खपाहुड़, भावपाहुड और लिंगपाहुड का नाम रहस्यवादी रचनाओं की दृष्टि से विशेष रूप से उल्लेखनीय है। समयसार और प्रवचनसार भी आपके उच्चकोटि के

---

१. आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी---हिन्दी साहित्य का आदिकाल, पृ० ११, बिहार राष्ट्र भाषा परिषद्, द्वि० सं०, १९५७, पटना ३।

दार्शनिक ग्रन्थ हैं। आचार्य कुन्दकुन्द का परवर्ती साहित्य पर व्यापक प्रभाव पड़ा। योगीन्दु मुनि और मुनि रामसिंह आपकी रचनाओं से विशेष रूप से प्रभावित दिखाई पड़ते हैं।[1]

आचार्य कुन्दकुन्द के बाद प्राकृत भाषा के कवियों में मुनि कार्तिकेय का नाम आता है। श्री विन्टरनित्ज़ ने इनका समय ईसा की प्रथम शताब्दी के लगभग माना है।[2] इनका लिखा स्वामी 'कार्तिकेयानुप्रेक्षा' श्रेष्ठ ग्रंथ है, जिसमें १२ अनुप्रेक्षाओं में आत्मा, परमात्मा, संसार की नश्वरता, आस्रव, संवर, निर्जरा आदि का विशद वर्णन है।[3]

संस्कृत में :

संस्कृत में रहस्यवादी काव्य लिखने वालों में पूज्यपाद का नाम विशेषतया उल्लेखनीय है। आप तीसरी शताब्दी उत्तरार्ध और चौथी शताब्दी प्रथमार्ध में विद्यमान थे और वैद्यक, रसायन, व्याकरण, न्याय, सिद्धान्त आदि अनेक विषयों पर ग्रन्थों की रचना की। समाधितन्त्र अथवा समाधिशतक, आपका सुन्दर आध्यात्मिक ग्रन्थ है।[4] इसके अनेक श्लोकों का योगीन्दु मुनि के परमात्म प्रकाश पर स्पष्ट प्रभाव है। श्री ए० एन० उपाध्ये ने परमात्म प्रकाश की भूमिका में इस प्रभाव को स्वीकार किया है।[5] समाधिशतक के अतिरिक्त जैनेन्द्र व्याकरण, वैद्यक शास्त्र, सर्वार्थसिद्धिः, इष्टोपदेश, आदि आपके प्रमुख ग्रन्थ हैं। आपके 'समाधितंत्र' के ही समान हिन्दी में १८वीं शताब्दी में यशोविजय मुनि ने भी 'समाधिन्त्र' की रचना की।

अपभ्रंश में :

अपभ्रंश भाषा रहस्यवादी साहित्य की दृष्टि से काफी समृद्ध है। सरह, कण्ह आदि सिद्धों ने इसी भाषा को चुना, नाथों ने इसी भाषा को अपनाया और

---

1. "A closer comparision would reveal that Yogindu has inherited many ideas from Kunda Kund of venerable name." (Shri A. N. Upadhe—Introduction of P. Prakasa, Page 27)
2. Karttikeya Samin, whose Kattigeyanupekkha (Karttikeyanupreksa) enjoys a great reputation among the Jains, probably also belongs to this earlier period (Early Centuries of Christian era)—A History of Indian Literature (Vol II) Page 577.
३. स्वामी कार्तिकेय—कार्तिकेयानुप्रेक्षा, भारतीय जैन सिद्धान्त प्रकाशिनी संस्था, श्याम बाजार, कलकत्ता, प्र० आवृत्ति, वीर निर्वाण सम्वत् २४४७।
४. श्री पूज्यपाद–समाधितन्त्र, वीर सेवा मंदिर, सरसावा, सहारनपुर, प्र० संस्करण (वि० सं० १९९९)
5. "It is to Kundakunda and Pujyapada, so far as I have been able to study earlier works, that Yogindu is greatly indebted." (Page 27.)

आठवीं शताब्दी से १५वीं–१६वीं शताब्दी तक अनेक जैन मुनियों ने इसी भाषा में अपनी रचनाओं का प्रणयन किया। इनमें योगीन्दु मुनि का नाम सर्वप्रथम आता है, जिन्होंने परमात्मप्रकाश और योगसार नामक ग्रन्थों की रचना की। योगीन्दु मुनि उच्च कोटि के सन्त थे। उन्होंने संकीर्ण मत-मतान्तरों तथा साम्प्रदायिक विवादों में न उलझकर, स्वानुभूति और स्वसंवेद्य ज्ञान को प्रमुखता दी। उन्होंने जिस चरम सत्य का अनुभव किया, उसे स्पष्ट और निर्भीक शब्दावली में अभिव्यक्त किया। आपकी रचनाओं से यदि जैन विशेषण हटा दिया जाय तो इनमें और समकालीन सिद्ध रचनाओं में कोई अन्तर न रह जाएगा।

योगीन्दु मुनि के पश्चात् मुनि रामसिंह, लक्ष्मीचन्द्र, आनन्दतिलक, महयंदिण और छीहल आदि प्रमुख कवि हुए, जिनकी रचनायें विशुद्ध रहस्यवाद की कोटि में आती है। मुनि रामसिंह ११वीं शताब्दी के कवि थे। इनका 'दोहापाहुड' प्रसिद्ध ग्रंथ है। आपने जैन सिद्धान्तों और मान्यताओं की बँधी बँधाई परिपाटी का ही अन्धानुकरण नहीं किया है और न उनकी प्रत्येक बात को स्वीकार ही किया है। उनके समय में जैन धर्म में भी जो बाह्याडम्बर और पाषण्ड का प्रवेश हो गया था, आपने उसका स्पष्ट विरोध किया। यही नहीं सहज समाधि, समरसी भाव आदि जैनेतर परिपाटियों, अवस्थाओं और भावों का अनुमोदन किया।

लक्ष्मीचन्द्र, आनन्दतिलक और महयंदिण मुझे खोज में प्राप्त हुए नए कवि हैं।[1] लक्ष्मीचन्द्र ने ११वीं शताब्दी में 'दोहाणुवेहा' की रचना की थी। आनन्दतिलक ने बारहवीं शताब्दी में 'आणंदा' नामक एक छोटा काव्य लिखा था और महयंदिण का विशाल काव्य-ग्रन्थ 'दोहापाहुड' प्राप्त हुआ है। इसमें ३३४ दोहा छन्द हैं। मुनि रामसिंह के 'दोहापाहुड' के समान यह भी रहस्यवाद का अच्छा ग्रन्थ है।

छीहल १६वीं शताब्दी के करीब के हैं। आपकी 'पंचसहेली' और 'छीहल बावनी' हिन्दी साहित्य में काफी प्रसिद्ध हैं। डा० शिव प्रसाद सिंह ने अपने शोध-प्रबंध 'सूरपूर्व व्रज भाषा और साहित्य' में छीहल पर विस्तार से विचार किया है।[2] छीहल शृङ्गारी कवि के रूप में ही प्रसिद्ध रहे हैं। किन्तु उनकी एक अन्य रचना 'आत्म प्रतिबोध जयमाल' रहस्यवादी काव्य की कोटि में आती है। यद्यपि कवि ने इस रचना में अपना नाम कहीं पर भी नहीं दिया है तथापि यह रचना उन्हीं की मानी जाती है। राजस्थान के जैन शास्त्र भांडारों की ग्रन्थ-सूची (द्वितीय भाग) में इसके कवि छीहल ही बताये गये हैं। डा० शिव प्रसाद सिंह को प्राप्त प्रति में कवि का नाम छीहल ही दिया गया है। जैन साहित्य के अधिकारी विद्वान् पं० चैन सुखदास (अध्यक्ष, दिगम्बर जैन संस्कृत कालेज,

---

१. इनका विस्तृत परिचय आगे दिया जा रहा है।
२. देखिये, डा० शिव प्रसाद सिंह—सूर पूर्व व्रज भाषा और साहित्य (पृ० १६७ से १७१ तक)।

जयपुर) ने छीहल को रहस्यवादी कवि माना है, वह इसी रचना के आधार पर। 'आत्म प्रतिबोध जयमाल' अपभ्रंश भाषा में लिखा गया है। इस प्रकार छीहल ने विद्यापति के समान हिन्दी-अपभ्रंश दोनों को अपनाया।

हिन्दी में-१७वीं शताब्दी के कवि :

विक्रम की १७वीं शताब्दी हिन्दी साहित्य का स्वर्ण युग है। इस शताब्दी में जहाँ पर एक ओर भक्त प्रवर गोस्वामी तुलसीदास, सूरदास, नन्ददास तथा अष्टछाप के अन्य कवि अपनी वाणी से भगवान के मर्यादा रूप, लीला रूप आदि का विशद चित्रण करते हैं, केशवदास जैसे कवि रीति प्रधान और अलंकार प्रधान काव्य रचना का श्रीगणेश करते हैं, वहाँ दूसरी ओर बनारसीदास, भगवतीदास, रूपचन्द और आनन्दघन आदि जैन-रहस्यवादी कवि अपनी आध्यात्मिक वाणी से हिन्दी का गौरव बढ़ाते हैं। बनारसीदास इस युग के ही श्रेष्ठ कवि नहीं, अपितु पूरे हिन्दी साहित्य में गौरवपूर्ण स्थान के अधिकारी हैं। आपके रूपक बड़े ही सबल, सरस और प्रभावशाली हैं। आपने आत्मा को प्रिया और परमात्मा को प्रियतम मान कर अलौकिक प्रेम का चित्रण किया है। 'श्री चूनड़ी' भगवती दास की महत्वपूर्ण रचना है। रूपचन्द, योगीन्दु मुनि का अनुसरण करने वाले कवि हैं। आनन्दघन १७वीं शताब्दी उत्तरार्ध के विशिष्ट सन्त और कवि हैं। सन्त साहित्य के प्रमुख अध्येता श्री क्षितिमोहन सेन आपकी वाणी से अत्यधिक प्रभावित प्रतीत होते हैं। आपने वीणा, सम्मेलन-पत्रिका और विश्वभारती आदि पत्रिकाओं में 'जैन मर्मी आनन्दघन' नाम से कई लेख लिखकर आनन्दघन को कबीर का समान-धर्मा साधक सिद्ध किया है। 'आनन्दघन बहोत्तरी' आपकी प्रसिद्ध रचना है। आपके ऊपर हठयोग साधना और कबीर के मत का स्पष्ट प्रभाव दिखाई पड़ता है।

१८वीं शताब्दी के कवि :

१८वीं शताब्दी में जहाँ एक ओर रीति काव्य लिखा जा रहा था और हिन्दी के अधिकांश कवि शृङ्गार रस के वर्णन में, नायक-नायिका-भेद के चित्रण में, नख-शिख, सखी-दूती की अवतारणा में और राजाओं, बादशाहों की हाँ-हुजूरी और मिथ्या प्रशंसा में अपनी काव्य प्रतिभा का दुरुपयोग कर रहे थे तथा कविता को धनार्जन का श्रेष्ठतम साधन मानकर 'प्राकृत जन गुणगान' में ही कवि कर्तव्य की इति-श्री समझ रहे थे, वहाँ दूसरी ओर मुनि यशोविजय, पाण्डे हेमराज, भैया भगवतीदास और द्यानतराय आदि जैन कवि अनंग रंग और लक्ष्मी उपासना से विरत होकर एकान्त चिन्तना और अध्यात्म साधना में लीन थे। मुनि यशोविजय आनन्दघन के समकालीन थे और मेड़ता में आनन्दघन के साथ कुछ समय तक रहे भी थे। आनन्दघन की साधना का आप पर काफी प्रभाव पड़ा था। '[illegible]' आपकी सुन्दर रचना है। इसको देख कर श्री मोतीलाल मेनारिया को भी भ्रम हो गया और उन्होंने अनुमान लगाया कि [illegible] कोई निरंजनी साधु रहे होंगे।

पांडे हेमराज की एक नवीन रचना 'उपदेश दोहा शतक' प्राप्त हुई है। यह एक अच्छी रहस्यवादी कृति है। भैया भगवतीदास का 'ब्रह्म विलास' ब्रह्म में विलास कराने वाला काव्य है। ब्रह्मविलास के अन्त में संलग्न चित्रबद्ध काव्य को देखने से प्रतीत होता है कि आप पर रीतिबद्ध काव्यों का भी कुछ प्रभाव पड़ा था। द्यानतराय का 'द्यानत विलास' एक विशालकाय ग्रन्थ है। इसमें उनकी विभिन्न फुटकल रचनाएँ संग्रहीत हैं। इनमें धार्मिकता का पुट अधिक है तथापि इनकी कुछ रचनाएँ और फुटकल पद अध्यात्म-रस से ओत-प्रोत हैं।

इन प्रमुख कवियों के अतिरिक्त १८ वीं शताब्दी के कतिपय अन्य कवियों में भी रहस्यभावना पाई जाती है, किन्तु इनमें साम्प्रदायिकता की मात्रा अधिक है। अतएव इनको मैंने रहस्यवादी कवियों की कोटि में नहीं रक्खा है। ऐसे कवियों में भूधरदास, विनयविजय, दौलतराम आदि का नाम लिया जा सकता है। भूधरदास को कुछ विद्वान् रहस्यवादी कवि मानने के ही पक्ष में हैं, किन्तु उनके तीनों ग्रन्थों-जैन शतक, पार्श्वपुराण और पदसंग्रह-में जैन पूजा-पद्धतियों एवं तीर्थङ्करों की स्तुतियों की ही प्रधानता है। पद-संग्रह और जैनशतक के दो-चार पदों में अवश्य आध्यात्मिकता का पुट है। किन्तु मात्र इससे कोई रहस्य-वादी नहीं हो जाता।

१८वीं शताब्दी के बाद के कवि :

१८वीं शताब्दी के पश्चात् भी अध्यात्म की यह धारा प्रवाहित होती रही और अनेक कवियों द्वारा प्राचीन परम्परा का पालन होता रहा, यद्यपि कोई उच्च कोटि का साधक नहीं हुआ। १९वीं शताब्दी के छोटे-मोटे कवियों में वृन्दावन, बुधजन, दीपचन्द, चिदानन्द और भागचन्द का नाम आता है। ये कवि भी हमारी अध्ययन सीमा के बाहर पड़ते हैं। अतएव इन पर विस्तार से विचार नहीं किया गया है।

कुछ नए कवि :

खोज में कुछ रचनाएँ ऐसी भी प्राप्त हुई हैं, जिनके रचनाकारों के सम्बन्ध में कोई विशेष जानकारी नहीं प्राप्त हो सकी। ऐसे कवियों में 'ब्रह्मदीप' का नाम सर्वप्रथम आता है। इनकी दो रचनाएं 'अध्यात्म बावनी या ब्रह्म विलास' और 'मनकरहा रास' तथा कुछ फुटकल पद प्राप्त हुए हैं। ब्रह्मदीप के अतिरिक्त ज्ञानानन्द का नाम भी नए कवियों में लिया जा सकता है। इन्होंने 'संयम तरंग' नामक एक आध्यात्मिक ग्रन्थ की रचना की थी। इनमें ३७ पद हैं। रचनाकाल ज्ञात नहीं है। इसकी एक हस्तलिखित प्रति अभय जैन ग्रन्थालय, बीकानेर में सुरक्षित है।[1] अन्तिम पद इस प्रकार है :—

---

१. राजस्थान में हिन्दी के हस्तलिखित हिन्दी ग्रन्थों की खोज (चतुर्थ भाग, पृ० १५७)

रहो बँगले में बालम करूँ तोहे राजी रे । र ॥ टेक ॥
निज परिणति का अनुपम बँगला, संयम कोट सुगाजी रे ।र०॥
चरण करण सप्तति कगुरा, अनन्त विरजथंम साजी रे ।र०॥१॥
सात भूमि पर निरमय खेलें, निर्वेद परम पद लाई रे ।र ॥
विविध तत्व विचार सुखड़ी, ज्ञान दरस सुरभि भाई रे ।र०॥२॥
अहनिशि रवि शशि करत विकासा, सलिल अमीरस धाई रे ।र०॥
विविध तूर धुनि सांभल बालक, सादबाद अगवाई रे ।र ॥३॥
ध्येय ध्यान लय चढ़ी है खुमारी, उतरी कबहुँ न रामी रे ।र०॥
मुनि निधि संयम धरनी वाचा, ज्ञानानन्द सुख धामी रे ।र०॥४॥

जैन कवि और काव्य का संक्षिप्त परिचय देने के बाद अब प्रमुख कवियों के सम्बन्ध में विस्तार से विचार कर लेना भी आवश्यक है। अतः प्राकृत, अपभ्रंश और हिन्दी के विशिष्ट रहस्यवादी जैन कवियों के व्यक्तित्व और कृतित्व का विस्तृत परिचय दिया जा रहा है :—

(१) कुन्दकुन्दाचार्य

श्री कुन्दकुन्दाचार्य जैन साहित्य और दर्शन के आदि आचार्य माने जाते हैं। जैन सिद्धान्तों को सर्वप्रथम लिपिबद्ध करने का श्रेय आपको ही प्राप्त है। जैन परम्परा में आपका स्थान भगवान महावीर और गौतम गणधर के बाद ही आता है और आपको उसी प्रकार पूज्य दृष्टि से देखा भी जाता है :—

मंगलं भगवान वीरो, मंगलं गौतमो गणी।
मंगलं कुन्दकुन्दाचार्यो, जैनधर्मोऽस्तु मंगलं ॥

आपका आविर्भाव कब और कहाँ हुआ था ? इस पर विद्वानों में मतभेद है। सामान्यतया आपको ई० पूर्व तीसरी शताब्दी से लेकर ई० के बाद पाँचवीं शताब्दी तक घसीटा जाता है। कुन्दकुन्दाचार्य ने स्वयं अपने विषय में कुछ नहीं लिखा है, केवल 'बोधपाहुड़' की गाथा नं० ६१ में अपने को 'भद्रबाहु' का शिष्य बताया है :—

सद्दवियारो भूओ भासासुत्तेसु जं जिणे कहियं।
सो तह कहियं णायं सीसेण य भद्दबाहुस्स ॥ ६१ ॥[१]

इस गाथा के दो प्रकार से अर्थ लगाए जा सकते हैं :—

(१) 'शब्द विकार से उत्पन्न, अक्षर रूप में परिणत भाषासूत्र में जिनदेव ने जो कहा गया, वह भद्रबाहु नामक पंचम श्रुतकेवली ने जाना और अपने शिष्यों से कहा' (वही ज्ञान शिष्य परम्परा से कुन्दकुन्दाचार्य को प्राप्त हुआ)।

---

१. श्री कुन्दकुन्दाचार्य विरचित 'अष्टपाहुड़' के अन्तर्गत बोधपाहुड़ की गाथा नं० (६१,६२, प्रकाशक, मुनि श्री अनन्तकीर्ति ग्रन्थमाला समिति (बम्बई) प्रथमावृत्ति, वीर नि० सं० २४५० ।)

(२) 'जो जिनेन्द्रदेव ने कहा, वही द्वादशांग में शब्दविकार से परिणत हुआ और भद्रबाहु के शिष्य ने उसी प्रकार जाना है तथा कहा है।'

'बोधपाहुड़' की ६२वीं गाथा में 'भद्रबाहु' का थोड़ा परिचय मिल जाता है। उसमें कहा गया है कि द्वादशांग के ज्ञाता तथा चौदह पूर्वाङ्ग का विस्तार से प्रसार करनेवाले गमक गुरु श्रुतज्ञानी भगवान भद्रबाहु की जय हो :—

'बादस अगं वियाणं चउदस पुव्वंगविउलवित्थरणं।
सुयणाणि भद्रबाहु गमयगुरू भयबओ जयओ ॥६२॥

दिगम्बरों की पट्टावली में दो भद्रबाहुओं का उल्लेख मिलता है। प्रथम भद्रबाहु की मृत्यु महावीर स्वामी के निर्वाण के १६२ वर्ष बाद अर्थात् ई० पू० ३६५ में हुई और दूसरे की ५१५ वर्ष पश्चात् अर्थात् १२ वर्ष ई० पू० में हुई। श्री विन्टरनित्ज़ के अनुसार कुन्दकुन्दाचार्य ईसा की प्रथम शताब्दी में विद्यमान थे और सम्भवतः वे भद्रबाहु द्वितीय के शिष्य थे।[1] बोधपाहुड़ की ६२वीं गाथा में भद्रबाहु को 'श्रुतज्ञानी' या श्रुतकेवली बताया गया है। भद्रबाहु प्रथम ही श्रुतकेवली थे, क्योंकि ऐसा विश्वास किया जाता है कि चार पूर्व ग्रंथ तो प्रथम भद्रबाहु के बाद ही लुप्त हो गये थे और वही अन्तिम चौदह पूर्वों के ज्ञाता थे। अतएव दोनों गाथाएं प्रथम भद्रबाहु से ही सम्बद्ध प्रतीत होती हैं, किन्तु भद्रबाहु प्रथम ई० पू० तीसरी शताब्दी में हुए थे और कुन्दकुन्दाचार्य के उस समय वर्तमान होने के कोई प्रमाण नहीं मिलते। अतः बहुत सम्भव है कि श्री कुन्दकुन्दाचार्य भद्रबाहु प्रथम के प्रत्यक्ष शिष्य न होकर, उनकी शिष्य-परम्परा में आते हों। 'भारतीय साहित्य के इतिहास' (A History of Indian Litt.) की एक पाद टिप्पणी से भी इसी की पुष्टि होती है। उसमें कुन्दकुन्दाचार्य को भद्रबाहु प्रथम की शिष्य परम्परा में पाँचवाँ शिष्य माना गया है।[2]

---

1. The Digambars tell us, however, that there were two Bhadrabahus, the first of whom died 162 years after the Nirvana of Mahavira (i. e. 365 B. C.) and the second 515 years after the Nirvana (i. e. 12 B. C.)··············...
   Kundkunda, who, according to the Pattavali of the Digambaras, lived in the first century A. D. calls himself a pupil of Bhadrabahu, perhaps referring there by to Bhadrabahu II—M. winternitz—A History of Indian Literature, Voll. II.
2. According to a Digambara Pattavali, he (Kundkund) is the fifth in the genealogical tree of teachers, beginning with Bhadrabahu'—M. Winternitz—A History of Indian Literature (Foot Note, Page 476).

ग्रन्थ :

श्री कुन्दकुन्दाचार्य जैन परम्परा में पाँच नामों से विख्यात रहे हैं। षट्पाहुड़ की टीका में, टीकाकार श्रुतसागर ने, प्रत्येक पाहुड़ के अन्त में इनके पाँच नाम दिये हैं —'श्री पद्मनंदिकुन्दकुन्दाचार्य वक्रग्रीवाचार्यैलाचार्य गृद्धपृच्छाचार्य नाम पंचक विराजितेन।' आपके जन्म और जीवन के समान आपके ग्रंथों की संख्या के सम्बन्ध में भी मतभेद है। कुछ ग्रंथ तो परवर्ती लेखकों द्वारा लिखे गये और कुंदकुंद के नाम से प्रचलित किये गये। उनके लिखे ये ग्रन्थ बताये जाते हैं :—

(१) चौरासी पाहुड—'पाहुड' या प्राभृत लिखने की परम्परा कुंदकुंद से ही प्रारम्भ होती है और अनेक जैन विद्वानों द्वारा 'पाहुड' लिखे जाते हैं। 'पाहुड' शब्द 'प्राभृत' का अपभ्रंश है। 'गोम्मटसार जीवकांड' की ३४१वीं गाथा में इस शब्द का अर्थ 'अधिकार' बतलाया गया है–'अहियारो पाहुडयं'। उसी ग्रन्थ में समस्त श्रुतज्ञान को 'पाहुड' कहा गया है। डा० हीरालाल जैन ने इसी आधार पर 'पाहुड' का अर्थ 'धार्मिक सिद्धांत संग्रह' किया है।[1] हमारे विचार से 'पाहुड' शब्द का तात्पर्य केवल 'धार्मिक सिद्धांत संग्रह' ही नहीं है, अपितु यह शब्द किसी विषय पर लिखे गये विशेष लेख, काव्य या प्रकरण का बोधक रहा है। कुंदकुंदाचार्य के जो 'चौरासी पाहुड' बताये जाते हैं, वे भी जीवन की विभिन्न समस्याओं से सम्बद्ध रहे होंगे। 'चौरासी पाहुड' अब उपलब्ध नहीं हैं, केवल 'अष्ट पाहुड' नामक एक ग्रन्थ मिलता है। इसमें जो 'आठ पाहुड' हैं, वह दर्शन, चरित्र, सूत्र, बोध, भाव, मोक्ष, लिंग और शील आदि पर लिखे गये भिन्न-भिन्न प्रकरण ही हैं।

(२) रयणसार—१६२ श्लोकों के इस ग्रन्थ में गृहस्थ तथा भिक्षुओं के धर्म का वर्णन है।

(३) बारस अणुवेक्खा—इसमें ९१ गाथाएँ हैं। इसमें जैनधर्म की बारह भावनाओं का विवरण है।

(४) नियमसार—इसमें दर्शन, ज्ञान, चरित्र के महत्व पर प्रकाश डाला गया है।

(५) पंचास्तिकाय—इसमें जीव-तत्व और अजीव-तत्व का वर्णन है।

(६) समयसार—कुन्दकुन्दाचार्य का सर्वोत्तम दार्शनिक ग्रन्थ है। इसमें कवि की प्रतिभा का पूर्ण विकसित रूप दिखाई पड़ता है।

(७) प्रवचनसार—यह भी एक दर्शन सम्बन्धी ग्रन्थ है।

---

१. मुनि रामसिंह—पाहुड दोहा की भूमिका, पृ० १३।

कुन्दकुन्द प्रथम रहस्यवादी कवि :

आचार्य कुन्दकुन्द यद्यपि एक दार्शनिक व्याख्याता के रूप में ही प्रसिद्ध हैं और उनके ग्रन्थ जैन दर्शन के संदर्भ-ग्रन्थ माने जाते हैं तथापि आपके काव्य में–विशेष रूप से भावपाहुड, मोक्खपाहुड, लिंगपाहुड और बोध पाहुड में–कुछ स्थल ऐसे हैं, जिन्हें हम 'रहस्यवाद' की कोटि में रख सकते हैं। वस्तुतः इन ग्रंथों से परवर्ती जैन रहस्यवादी कवि विशेष रूप से प्रभावित हुए हैं और उनकी ही प्रेरणा पर आगे बढ़े हैं। योगीन्दु मुनि के 'परमात्मप्रकाश' और 'योगसार' पर तथा मुनि राम सिंह के 'पाहुडदोहा' पर तो इन ग्रन्थों की स्पष्ट छाप है और अनेक गाथाएं तो थोड़े से शब्द-परिवर्तन के साथ उसी प्रकार रख दी गई हैं। आत्मा-परमात्मा पाप-पुण्य, बाह्यचार आदि के सम्बन्ध में जो मान्यताएं कुन्दकुन्दाचार्य की हैं, उन्हीं का पोषण और विस्तार 'परमात्मप्रकाश' और 'पाहुडदोहा' आदि में देखा जा सकता है। आप 'मोक्षपाहुड' में आत्मा के तीन स्वरूपों का वर्णन करते हुए कहते हैं कि आत्मा तीन प्रकार है—अंतरात्मा, बहिरात्मा और परमात्मा। अन्तरात्मा के उपाय से बहिरात्मा का परित्याग कर परमात्मा का ध्यान करो :—

> तिपयारो सो अप्पा परमंतरबाहिरो हु देहीणं।
> तत्थ परो झाइज्जइ, अंतोवाएण चएहि बहिरप्पा ॥४॥

इसी प्रकार योगीन्दु मुनि आत्मा के स्वरूप पर प्रकाश डालते हुए कहते हैं कि आत्मा तीन प्रकार का है—मूढ़, विचक्षण और ब्रह्मपर। मूढ़ अर्थात् मिथ्यात्वरागादि रूप परिणत हुआ बहिरात्मा, वीतराग निर्विकल्प स्वसंवेदन ज्ञान रूप से परिणमन करता हुआ अन्तरात्मा और शुद्ध स्वभाव परमात्मा। जो देह को ही आत्मा मानता है, वह मूढ़ है :—

> मूढ, वियक्खणु, बंभु परु अप्पा तिविहु हवेइ।
> देहु जि अप्पा जो मुणइ सो जणु मूढ़ हवेइ ॥१३॥
> (परमात्म प्रकाश)

श्री कुन्दकुन्दाचार्य तीनों के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए पुनः कहते हैं कि इन्द्रियों के स्पर्शनादि के द्वारा विषय ज्ञान कराने वाला बहिरात्मा होता है। इन्द्रियों से परे मन के द्वारा देखने वाला, जानने वाला 'मैं हूं' ऐसा स्वसंवेदन गोचर संकल्प अन्तरात्मा है और द्रव्यकर्म (ज्ञानावरणादि) भाव कर्म (राग-द्वेष-मोहादि) नोकर्म (शरीर आदि) कलंक मल रहित अनन्त ज्ञानादि गुण सहित परमात्मा है :—

> अक्खाणि बहिरप्पा अन्तरप्पा हु अप्पसंकप्पो।
> कम्मकलंक विमुक्को परमप्पा भण्णए देवो ॥५॥
> (मोक्ष पाहुड)

आपने बड़े ही स्पष्ट शब्दों में यह कहा था कि आत्मा और परमात्मा में कोई तात्विक भेद नहीं है। बाह्यावरण या पुद्गल के संयोग के ही कारण

आत्मा अपने स्वरूप से अनभिज्ञ हो जाता है। दोनों में केवल पर्याय भेद होता है। अतएव प्रत्येक आत्मा कर्मादि से मुक्त होकर उसी प्रकार परमात्मा बन सकता है, जिस प्रकार सुवर्ण-पाषाण शोधन सामग्री द्वारा स्वर्ण शुद्ध बन जाता है :—

'अइसोइण जोएणं सुद्धं हेमं हवेइ जह तहय ।
कालाई लद्धीये अप्पा परमप्पो हवदि ॥२४॥[1]
(मोक्ष पाहुड़)

इसीलिए आपने बाह्याचार का खण्डन किया। यहाँ तक कि जैन धर्म के मूल आधार 'लिंग ग्रहण' आदि का भी विरोध किया और कहा कि जो साधू बाह्य लिंग से युक्त है, अभ्यन्तर लिंग रहित है, वह आत्मस्वरूप से भ्रष्ट है और मोक्ष-पथ-विनाशक है :—

बाहिरलिंगेण जुदो अब्भंतर लिंगरहियपरियम्मो ।
सो सगचरित्तभट्ठो मोक्खपहविणासगो साहू ॥६१॥
(मोक्ष पाहुड)

आपका निश्चित विश्वास था कि ऐसे व्यक्ति को मोक्ष नहीं मिल सकता जो 'भाव' से रहित है, वह चाहे अनेक जन्मों तक विविध प्रकार के तप करता रहे और वस्त्रों का परित्याग कर दे :—

भावरहिओ सिज्झइ जइ वि तवं चरइ कोडिकोडीओ ।
जम्मंतराइ बहुसो लंबियहत्थो गलियवत्थो ॥४॥[2]
(भावपाहुड)

उक्त कथन में ऐसे दिगम्बरों का विरोध किया गया है, जो वस्त्र परित्याग करने मात्र से ही अपने को मोक्ष का अधिकारी मान लेते थे। आपको यद्यपि स्वयं दिगम्बर माना जाता है और दिगम्बर जैनों में आप पूज्य भी हैं तथापि आप केवल नग्नता को ही सिद्धि की कसौटी माननेवाले जैनों पर किस निर्ममता से प्रहार करते थे, यह निम्नलिखित गाथा से स्पष्ट हो जाता है :—

---

१. तुलनीय—
एहु जु अप्पा सो परमप्पा कम्म-विसेसें जायउ जप्पा ।
जामइँ जाणइ अप्पें अप्पा तामइँ सो जि देउ परमप्पा ॥१७४॥
जो परमप्पा णाणमउ सो हउं देउ अणंतु ।
जो हउं सो परमप्पु परु एहउ भावि णिभंतु ॥१७५॥
(योगीन्दुमुनि—परमात्म प्रकाश, पृ० ३१७)

२. तुलनीय—
वय तव संजम मूल गुण मूढह मोक्ख ण वुत्तु ।
जावण जाणइ इक्क पर सुद्धउ भाउ पवित्तु ॥
(योगसार, पृ० ३७७)

णग्गो पावइ दुक्खं णग्गो संसारसायरे भमई ।
णग्गो ण लहइ बोहिं जिणभावण वज्जिओ सुइरं ॥६८॥
(भावपाहुड)

अर्थात् नग्न सदैव दुःख को प्राप्त होता है, नग्न संसार-सागर में भ्रमण करता है। जिन भावना-वर्जित नग्न ज्ञान को नहीं प्राप्त कर सकता है।

स्वसंवेद्यज्ञान और पुस्तकीय ज्ञान में भारी अंतर है। सभी संतों ने यह स्वीकार किया है कि मात्र बाह्यज्ञान या पुस्तकज्ञान से कोई भी व्यक्ति 'परम तत्व' को जान नहीं सकता। उसके लिए अनुभूति और स्वसंवेद्यज्ञान की अपेक्षा होती है। श्री कुन्दकुन्दाचार्य कहते हैं कि अनेक शास्त्रों को पढ़ना तथा बहुविधि बाह्य चरित्र करना, बाल-चरित्र के समान है, आत्म-स्वभाव के प्रतिकूल है :—

जदि पढ़दि बहुसुदाणि य जदिकहिदि बहुविहं चारित्तं ।
तं बालसुद्धं चरणं हवेइ अप्पस्स विवरीदं ॥१००॥[1]
(मोक्ष पाहुड)

समयसार श्री कुन्दकुन्द का प्रमुख ग्रंथ है। इसमें जीव-अजीव, कर्त्ता-कर्म, पुण्य-पाप, संवर-निर्जरा, बंध-मोक्ष आदि का विशद विवेचन किया गया है। सामान्यतः यह शुद्ध दर्शन सम्बन्धी ग्रन्थ है। लेकिन आत्मा-परमात्मा या बंध-मोक्ष का वर्णन करते समय कवि यत्र-तत्र भावुक हो जाता है और ठीक उसी शैली को अपना लेता है, जो उसके 'मोक्षपाहुड' या 'भावपाहुड' की है और तब उसके ग्रन्थ में रहस्यवादी भावना की एक झलक मिल जाती है। वह कोरा बौद्धिक नहीं रह जाता, उसका हृदय पक्ष प्रबल हो उठता है और वह अज्ञात लोक की या अनिर्वचनीय बातें कहने लगता है। "कहीं आत्मा का वास्तविक स्वरूप, कहीं कर्मबंध का स्वरूप, कहीं कर्म बधन को रोकने का उपाय, इस प्रकार महत्वपूर्ण विषयों पर वे अपना हृदय निःसंकोच भाव से खोलते जाते हैं। किसी किसी जगह तो ऐसा प्रतीत होने लगता है कि लेखक बुद्धि से परे की अनुभव की कहानी कह रहे हैं।"[2]

---

१. तुलनीय

जसु मणि णाणु ण विप्फुरइ कम्महं हेउ करंतु ।
सो मुणि पावइ सुक्खु णवि सयलइं सत्थ मुणंतु ॥२४॥
(मुनि रामसिंह—पाहुडदोहा)

२. गोपालदास जीवाभाई पटेल—कुन्दकुन्दाचार्य के तीन रत्न, पृ० १८, प्र० भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, प्र० संस्करण, फरवरी, १९४८।

(२) कार्तिकेय मुनि

परिचय :

'कत्तिगेयाणुपेक्खा' या 'कार्तिकेयानुप्रेक्षा' के कर्त्ता श्री मुनि कार्तिकेय के समय और जीवन का कोई प्रामाणिक उल्लेख नहीं मिलता। किंवदन्तियों और धार्मिक कथाओं ने उनके जीवन को अधिक रहस्यमय बना दिया है। विद्वानों ने उनके आविर्भाव काल की कल्पना एक ओर विक्रम सम्वत् की दो-तीन शती पूर्व तक की है तो दूसरी ओर उन्हें ईसा की छठी शताब्दी के बाद तक का माना गया है। मौखिक परम्पराओं के आधार पर श्री पन्नालाल ने कुमार का आविर्भाव विक्रम की दो-तीन शताब्दी पूर्व स्वीकार किया है।[1] श्री विन्तरनित्ज़ के अनुसार कार्तिकेय मुनि ईसा की प्रथम शताब्दी में विद्यमान थे।[2] श्री ए० एन० उपाध्ये ने कार्तिकेयानुप्रेक्षा की एक गाथा और योगीन्दु मुनि के 'योगसार' के एक दोहे की समानता का उल्लेख करते हुए स्वामी कार्तिकेय को योगीन्दु मुनि का परवर्ती माना है।[3] उन्होंने योगीन्दु मुनि का समय ईसा की छठी शती माना है। इस प्रकार उनके मत से स्वामी कार्तिकेय छठी शताब्दी के बाद हुए।

आचार्य कुन्दकुन्द जैन परम्परा के प्रथम आचार्य माने जाते हैं। जैनों में ऐसा विश्वास है कि कुन्दकुन्दाचार्य ने ही सर्वप्रथम महावीर स्वामी के उपदेशों को लिपिबद्ध किया। उनका समय ईसा की प्रथम शती माना गया है। अतएव इसके पूर्व स्वामी कार्तिकेय के अस्तित्व की कल्पना तर्क संगत नहीं प्रतीत होती। श्री ए० एन० उपाध्ये का निष्कर्ष भी किन्हीं पुष्ट प्रमाणों पर आधारित नहीं है। 'कार्तिकेयानुप्रेक्षा' की जिस गाथा (२७९) का आधार योगसार का दोहा (६५) बताया गया है, वह दोहा ही गाथा का परिवर्तित रूप हो सकता है। इसके अतिरिक्त केवल एक गाथा और दोहा के समान भाव को देख कर एक कर्त्ता को दूसरे का परवर्ती या पूर्ववर्ती भी कह देना उचित नहीं प्रतीत होता। दो महाकवियों या महापुरुषों में समान भावों या विचारों का पाया जाना एक साधारण बात है। ऐसे समान भावों को देखकर दूसरे के द्वारा प्रथम का भावापहरण भी नहीं कहा जा सकता। फिर योगीन्दु मुनि का समय भी छठी शताब्दी नहीं है। वस्तुतः वे आठवीं-नवीं शताब्दी के कवि हैं। अतएव इन तथ्यों से कार्तिकेय के जीवन पर कोई प्रकाश नहीं पड़ता। इससे केवल इतना ही अनुमान होता है कि वे ईसा की प्रथम शती या उसके कुछ समय बाद ही हुए।

---

1. परमात्म प्रकाश की भूमिका, पृ० ६५।
2. Karttikeya Svamin, too probably, belong to the first Centuries of the Christian era-M. Winternitz-A History of Indian Literature, Page 477.
3. As to the relative periods of Yugindu and Kumara the former in all probability is earlier than the latter.
   (Paramatma Prakasa—introduction, page 65)

कार्तिकेय मुनि का एक ही ग्रन्थ 'कात्तिगेयाणुपेक्खा' मिलता है। इसकी प्रस्तावना में एक गाथा दी हुई है। गाथा इस प्रकार है :—

कोहेण जोण तप्पदि सुरणरतिरिएहिं करिमाणे वि।
उवसग्गे वि रउद्दे तस्स खिमा णिम्मला होदि ॥३६४॥

इनके नीचे लिखा है कि "उपर्युक्त गाथा से केवल इतना स्पष्ट होता है कि स्वामी कार्तिकेय मुनि क्रौंच राजा कृत उपसर्ग जीति देवलोक पाया"। किन्तु क्रौंच राजा कब हुआ ? और यह गाथा टीकाकार ने कहां से ली ? यह स्पष्ट नहीं होता। इस ग्रन्थ पर तीन टीकाओं का पता चलता है। प्रथम टीका वैद्यक ग्रन्थ के रचयिता दिगम्बर जैन वाणभट्ट की है, दूसरी टीका पद्मनन्दी के आचार्य के पट्ट पर लिखित श्री शुभचन्द्राचार्य की है और तीसरी किसी अन्य विद्वान् द्वारा की हुई संस्कृत छाया है। इनमें शुभचन्द्र की टीका का समय सन् १५५६ ई० है, अन्य का टीका काल ज्ञात नहीं है। इस ग्रंथ की गाथा नं० २५ में प्रयुक्त "क्षेत्रपाल" शब्द के आधार पर श्री ए० एन० उपाध्ये ने अनुमान लगाया है कि कुमार कवि सम्भवतः दक्षिण प्रदेश में हुए थे। दक्षिण में इस नाम के कई व्यक्तियों का उल्लेख भी मिलता है। किन्तु किसी अन्य प्रामाणिक सामग्री के अभाव में इनके सम्बन्ध में निश्चित और अन्तिम रूप से कुछ भी नहीं कहा जा सकता।

कार्तिकेयानुप्रेक्षा का विषय :—

कार्तिकेयानुप्रेक्षा द्वादश अनुप्रेक्षा में लिखी गई है। जैनों में अनुप्रेक्षा का विशेष महत्व है। उनके द्वारा कई अनुप्रेक्षा ग्रन्थ लिखे भी गये हैं, जिनमें आचार्य कुन्दकुन्द, वट्टकेर और शिवार्य के ग्रन्थों का विशेष महत्व है। 'अनुप्रेक्षा' का अर्थ होता है—'बार-बार चिन्तन करना'। एक अनुप्रेक्षा के अन्तर्गत एक ही विषय पर विस्तार से विचार किया जाता है। कार्तिकेयानुप्रेक्षा की बारह अनुप्रेक्षाओं का क्रम इस प्रकार है :—

अध्रुव, अशरण, संसार, एकत्व, अन्यत्व, अशुचित्व, आस्रव, संवर, निर्जरा, लोक, दुर्लभ और धर्म।

अध्रुवानुप्रेक्षा में संसार की नश्वरता का वर्णन है। कवि ने दृष्टान्तों और रूपकों द्वारा यह समझाया है कि संसार में जो वस्तु उत्पन्न हुई है, उसका नियमतः विनाश होगा। जन्म के साथ मरण, युवावस्था के साथ वृद्धावस्था और लक्ष्मी के साथ विनाश जुड़े हुए हैं। परिजन, स्वजन, पुत्र, कलत्र, मित्र, लावण्य, गृह, गोधन आदि सभी कुछ नवीन मेघ के समान चंचल हैं। जिस प्रकार मार्ग में पथिकों का संयोग होता है, उसी प्रकार संसार में बन्धु-बान्धवों का साथ अस्थिर है :—

---

१. भारतीय जैन सिद्धान्त प्रकाशिनी संस्था, श्याम बाजार कलकत्ता से प्रकाशित, प्र० आवृत्ति, वीर नि० सं० २४४७।

अथिरं परियणसयणं पुत्तकलत्तं सुमत्तलावण्णं।
गिहगोहणाइ सव्वं णवघणविंदेण सारित्थं॥६॥
पंथे पहियजणाणं जह संजोओ हवेइ खणमित्तं।
बंधुजणाणं च तहा संजोओ अद्धुओ होई॥८॥

अशरणानुप्रेक्षा में सांसारिक भयों और जीव की असुरक्षा का वर्णन है। संसारानुप्रेक्षा में जीव के बार-बार जन्म लेने और मृत्यु को प्राप्त होने तथा विषय सुखों की क्षणिकता का विवेचन है। एकत्वानुप्रेक्षा में जीव की एकता का प्रतिपादन है। अशुचित्वानुप्रेक्षा में शरीर की मलिनता और नश्वरता का चित्रण है। इसी प्रकार बाद में सन्त सुन्दरदास ने देह की मलिनता का घृणास्पद वर्णन किया है। इसके पश्चात् कवि ने आत्मा और शरीर में अन्तर, आत्मा की अवस्थाओं—बहिरात्मा, अन्तरात्मा, परमात्मा और षड् द्रव्यों आदि की विवेचना की है।

प्रायः सभी जैन कवियों ने आत्मा की तीन अवस्थाओं को स्वीकार किया है और तीसरी अवस्था (परमात्मा) को प्राप्त होना ही साधकों और मुनियों का लक्ष्य बताया है। लेकिन स्वामी कार्तिकेय के विवेचन में अन्य मुनियों के वर्णन से थोड़ा अन्तर मिलता है। उन्होंने बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा का लक्षण तो वही बताया है, जो अन्य कवियों-कुन्दकुन्दचार्य या योगीन्द मुनि को स्वीकार्य है। किन्तु उन्होंने अन्तरात्मा और परमात्मा के भी क्रमशः तीन और दो उपभेदों की कल्पना की है। अन्तरात्मा के सम्बन्ध में उनका कहना है कि जो जिणवाणी में प्रवीण है, जो शरीर और आत्मा के भेद को जानते हैं और जिन्होंने आठ मद जीत लिए है, वे उत्कृष्ट, मध्यम और जघन्य नामक तीन प्रकार के अन्तरात्मा कहे जाते हैं।[1] परमात्मा भी दो प्रकार के होते हैं—अरहन्त और सिद्ध।[2] जो शरीर धारण किये हुए भी केवल ज्ञान से सकल पदार्थों को जानते हैं, वे अरहन्त हैं और ज्ञान ही जिनका शरीर है अर्थात् पंचभौतिक शरीर को जो त्याग चुके हैं और जो सर्वोत्तम सुख को (निर्वाण को) प्राप्त हो चुके हैं, वे सिद्ध कहलाते हैं।[3] अन्त में स्वामी कार्तिकेय ने नास्तित्व का खण्डन किया है और आत्मा तथा परमात्मा में निष्ठा व्यक्त की है।

---

१. जो जिणवयणे कुसला भेदं जाणंति जीवदेहाणं।
णिज्जियदुट्ठट्ठमया अन्तरअप्पा य ते तिविहा॥१९४॥

२. परमप्पा वि य दुविहा अरहंता तह य सिद्धा य॥१९२॥

३. ससरीरा अरहंता केवलणाणेण मुणियसयलत्था।
णाणसरीरा सिद्धा सव्वुत्तम सुक्खसंपत्ता॥१९८॥

(३) योगीन्दु मुनि

अपने अन्तःप्रकाश से सहस्त्रों के तमपूर्ण जीवन में ज्योति की शिखा प्रज्वलित करने वाले अनेक भारतीय साधकों, विचारकों और सन्तों का जीवन आज भी तिमिराच्छन्न है। ये साधक अपने सम्बन्ध में कुछ कहना सम्भवतः अपने स्वभाव और परिपाटी के विरुद्ध समझते थे। इसीलिए अपने कार्यों और चरित्रों को अधिकाधिक गुप्त रखने का प्रयास करते थे। यही कारण है कि आज हम उन मनीषियों के जीवन के सम्बन्ध में कोई प्रामाणिक और विस्तृत तथ्य जानने से वंचित रह जाते हैं और उन तक पहुँचने के लिए परोक्ष मार्गों का सहारा लेते हैं, कल्पना की उड़ानें भरते हैं और अनुमान की बातें करते हैं।

नामकरण :

श्री योगीन्दु देव भी एक ऐसे साधक और कवि हो गए हैं, जिनके विषय में प्रामाणिक तथ्यों का अभाव है। यहाँ तक कि उनके नामकरण-काल-निर्णय और ग्रंथों के सम्बन्ध में काफी मतभेद है। परमात्मप्रकाश में उनका नाम 'जोइन्दु'[1] आया है। ब्रह्मदेव ने 'परमात्मप्रकाश' की टीका में आपको सर्वत्र 'योगीन्दु'[2] लिखा है। श्रुतसागर ने 'योगीन्द्रदेव नाम्ना भट्टारकेण'[3] कहा है। परमात्म प्रकाश की कुछ हस्तलिखित प्रतियों में 'योगेन्द्र' शब्द का प्रयोग हुआ है। 'योगसार' के अन्तिम दोहे में 'जोगिचन्द'[4] नाम आया है। मुझे 'योगसार' की दो हस्तलिखित प्रतियाँ जयपुर के शास्त्र भांडारों में देखने को मिलीं। एक प्रति (गुटका नं० ५४) आमेर शास्त्र भांडार में और दूसरी 'ठोलियों के मंदिर के शास्त्र भांडार' में सुरक्षित है। इस प्रति का लिपिकाल सं० १८२७ हैं—'सं० १८२७ मिति काती वदी १३ लिखी।' ठोलियों के मंदिर वाली प्रति के अन्त में लिखा है.–'इति योगेन्द देव कृत-प्राकृत दोहा के आत्मोपदेश सम्पूर्ण।' उक्त प्रति का अंतिम दोहा इस प्रकार है :—

'संसारह भयभीतएण जोगचन्द मुणिएण।
अप्पा संवोहण कया दोहा कव्वु मिर्णेण ।।१०८।।

श्री ए० एन० उपाध्ये द्वारा सम्पादित योगसार के दोहा नं० १०८ से यह थोड़ा भिन्न है। इसके प्रथम चरण में 'भयभीयएण' के स्थान पर 'भय भीतएण'

---

१. भावि पणविवि पंच गुरु सिरि जोइन्दु जिणाउ।
भट्टपहायरि विण्णविउ विमलु करेविणु भाउ ॥८॥

२. देखिए—परमात्मप्रकाश, पृ० १, ५, ३४६ आदि।

३. वही, पृ० ५७।

४. परमात्म प्रकाश और योगसार, पृ० ३६४।

'जोगिचन्द' के स्थान पर 'जोगचन्द' और द्वितीय चरण में 'इक्कमणेण' के स्थान पर 'कव्वु मिणेण' का प्रयोग हुआ है।

कवि ने अपने को 'जोइन्दु' या जोगचन्द (जोगिचन्द) ही कहा है, यह 'परमात्मप्रकाश' और 'योगसार' में प्रयुक्त नामों से स्पष्ट है। 'इन्दु' और 'चन्द्र' पर्यायवाची शब्द हैं। व्यक्तिवाची संज्ञा के पर्यायवाची प्रयोग भारतीय काव्य में पाये जाते हैं। श्री ए० एन० उपाध्ये ने भागेन्दु (भागचन्द्र) शुभेन्दु (शुभचन्द्र) आदि उद्धरण देकर इस तथ्य की पुष्टि की है।[1] गोस्वामी तुलसी दास के 'रामचरितमानस' में व्यक्तिवाची संज्ञाओं के पर्यायवाची शब्दों का प्रयोग बहुत हुआ है। 'सुग्रीव' का 'सुकंठ', 'हिरण्यकशिपु' का 'कनककशिपु', 'हिरण्याक्ष' का 'हाटकलोचन', 'मेघनाद' का 'वारिदनाद', और 'दशानन' का 'दशमुख' आदि प्रयोग प्रायः देखने को मिल जाते हैं। श्री ब्रह्मदेव ने अपनी टीका में 'जोइन्दु' का संस्कृत रूपान्तर 'योगीन्दु' कर दिया। इसी आधार पर परवर्ती टीकाकारों और लिपिकारों ने 'योगीन्द्र' शब्द को मान्यता दी। किन्तु यह प्रयोग गलत है। कवि का वास्तविक नाम 'जोइन्दु', 'योगीन्दु' या 'जोगिन्द' ही है। तीनों एक ही शब्द के भिन्न-भिन्न रूप हैं।

काल-निर्णय :

'जोइन्दु' के नामकरण के समान ही उनके कालनिर्णय पर भी मतभेद है और उनको ईसा की छठी शताब्दी से लेकर १२वीं शताब्दी तक घसीटा जाता है। श्री गांधी 'अपभ्रंश काव्यत्रयी' की भूमिका (पृ० १०२-१०३) में 'जोइन्दु' को प्राकृत वैयाकरण चंड से भी पुराना सिद्ध करते हैं। इस प्रकार वे इनका समय विक्रम की छठी शताब्दी मानते जान पड़ते हैं। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी आपको आठवीं-नवीं शताब्दी का कवि मानते हैं।[2] श्री मधुसूदन मोदी ने (अपभ्रंश पाठावली, टिप्पणी, पृ० ७७, ७९) आपको १० वीं शती में वर्तमान होना सिद्ध किया है। श्री उदयसिंह भटनागर ने लिखा है कि प्रसिद्ध जैन साधु जोइन्दु (योगीन्दु) जो एक महान विद्वान् वैयाकरण और कवि था, सम्भवतः चित्तौड़ का ही निवासी था। इसका समय विक्रम की १० वीं शती था।[3] हिन्दी साहित्य के वृहत् इतिहास में आपको '११ वीं शती से पुराना' माना गया है।[4] श्री कामताप्रसाद जैन आपको बारहवीं शताब्दी का 'पुरानी

---

१. देखिए, परमात्मप्रकाश की भूमिका, पृ० ५७।

२. आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी—मध्यकालीन धर्म साधना, साहित्य भवन लिमिटेड, इलाहाबाद, प्र० संस्करण, १९५२, पृ० ४४।

३. देखिए, राजस्थान में हिन्दी के हस्तलिखित ग्रंथों की खोज (तृतीय भाग) की प्रस्तावना, पृ० ३।

४. हिन्दी साहित्य का बृहत् इतिहास (भाग १), पृ० ३४६।

हिन्दी' का कवि बताते हैं।[1] श्री ए० एन० उपाध्ये ने कई विद्वानों के तर्कों का सप्रमाण खंडन करते हुए योगीन्दु को ईसा की छठी शताब्दी का होना निश्चित किया है। 'योगीन्दु' के आविर्भाव संबंधी इतने मतभेदों का कारण, उनके सम्बन्ध में किसी प्रामाणिक तथ्य का अभाव है। श्री ए० एन० उपाध्ये को छोड़कर अन्य किसी ने न तो योगीन्दु पर विस्तार से विचार किया है और न अपनी मान्यता के पक्ष में कोई सबल तर्क ही उपस्थित किया है। किन्तु श्री उपाध्ये ने जो समय निश्चित किया है, उसको भी सहसा स्वीकार नहीं किया जा सकता। इसके दो कारण हैं। प्रथमतः योगीन्दु की रचनाओं में कुछ ऐसे दोहे मिलते हैं, जिनसे यह स्पष्ट होता है कि वह सिद्धों और नाथों के विचारों से प्रभावित थे। वही शब्दावली, वही बातें, वही प्रयोग योगीन्दु की रचनाओं में पाये जाते हैं, जो बौद्ध, शैव, शाक्त आदि योगियों और तान्त्रिकों में प्राप्त होते हैं। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने ठीक ही लिखा है कि अगर उनकी रचनाओं के ऊपर से 'जैन' विशेषण हटा दिया जाय तो वे योगियों और तान्त्रिकों की रचनाओं से बहुत भिन्न नहीं लगेंगी। वे ही शब्द, वे ही भाव और वे ही प्रयोग घूम फिर कर उस युग के सभी साधकों के अनुभवों में आया करते थे।[3] इनके काव्य और सिद्ध साहित्य का आगे चलकर हम विस्तार से तुलनात्मक अध्ययन करेंगे, तब यह कथन और अधिक स्पष्ट हो जाएगा। किन्तु यहाँ पर इतना कह देना हम आवश्यक समझते हैं कि योगीन्दु तथा अन्य समकालीन सिद्ध, नाथ आदि 'आत्मतत्व' की उपलब्धि के सम्बन्ध में लगभग एक ही बात कहते दिखाई पड़ते हैं। कम से कम बाह्याचार का विरोध, चित्त शुद्धि पर जोर देना, शरीर को ही समस्त साधनाओं का केन्द्र समझना और समरसी भाव से स्वसंवेदन आनन्द का उपभोग-वर्णन सभी कवियों में मिल जाते है।

सिद्ध युग ईसा की आठवीं से ग्यारहवीं सदी तक माना जाता है और 'सरहपाद' आदि सिद्ध माने जाते हैं। राहुल जी के अनुसार आपकी मृत्यु सन् ७८० ई० के लगभग हुई थी। इसी शताब्दी से बौद्धधर्म 'हीनयान और महायान के विकास की चरम सीमा पर पहुंचकर अब एक नई दिशा लेने की तैयारी कर रहा था, जब उसे मन्त्रयान, वज्रयान, सहजयान की संज्ञा मिलने वाली थी और जिसके प्रथम प्रणेता स्वयं सरहपाद थे।[4] इसके पश्चात् सिद्ध परम्परा में शबरपा, (७८० ई०) भुसुकपा, (८०० ई०) लुईपा, (८३० ई०) विसपा, (८३० ई०) डोम्भिपा, (८४० ई०) दारिकपा, (८४० ई०) गुण्डरीपा, (८४० ई०) कुक्कुरीपा, (८४० ई०) कमरिपा,

---

१. कामता प्रसाद जैन—हिन्दी जैन साहित्य का संक्षिप्त इतिहास, प्रकाशक, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, फरवरी १९४७, पृ० ५४।

२. श्री ए० ए० उपाध्ये, परमात्मप्रकाश की भूमिका, पृ० ६७।

३. आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी—मध्यकालीन धर्म साधना, पृ० ४४।

४. महापंडित राहुल सांकृत्यायन—दोहाकोष, पृ० ४।

(८४० ई०) कण्हपा, (८४० ई०) गोरक्षपा, (८४५ ई०) टेंटणपा, (८५० ई०) महीपा, (८७० ई०) भादेपा, (८७० ई०) धामपा, (८७० ई०) आदि सिद्ध आते हैं।[1] कहने का तात्पर्य यह है कि आठवीं शताब्दी के प्रारम्भ से भारतीय धर्म साधना के क्षेत्र में नए विचारों का समावेश प्रारम्भ होता है और विभिन्न सम्प्रदायों और पंथों के संत प्रायः एक ही स्वर में आत्मा, परमात्मा आदि विषयों पर विचार करना प्रारम्भ करते हैं। यहाँ तक कि जैन धर्म भी इससे अछूता नहीं रह जाता है। योगीन्दु सम्भवतः ऐसे पहले जैन मुनि थे, जो इस प्रभाव में आते हैं। अतएव उनका समय आठवीं सदी के पूर्व नहीं हो सकता। आठवीं शताब्दी के नए धार्मिक मोड़ पर विचार करते हुए महापंडित राहुल सांकृत्यायन भी कुछ इसी प्रकार की बात कहते हैं। 'जैन धर्म के बारे में यह बात उतने जोर से नहीं कही जा सकती, पर वहाँ भी योगीन्दु, रामसिंह जैसे सन्तों को हम नया राग अलापते देखते हैं, जिसमें समन्वय की भावना ज्यादा मिलती है।'[2] राहुल के उक्त कथन से यह ध्वनि निकलती है कि योगीन्दु और मुनि रामसिंह आठवीं सदी के पूर्व नहीं हुए होंगे।

भाषा की दृष्टि से विचार करने पर भी योगीन्दु का रचना काल आठवीं–नवीं शती ही ठहरता है। आपके 'परमात्मप्रकाश' और 'योगसार' अपभ्रंश भाषा के ग्रन्थ हैं। अपभ्रंश भाषा एक परिनिष्ठित भाषा-साहित्यिक भाषा के रूप में कब आई ? इस पर विद्वान् एकमत नहीं हैं। वैसे 'अपभ्रंश' शब्द काफी प्राचीन है। संभवतः इसका प्रथम प्रयोग ईसा पूर्व दूसरी शती के 'पातञ्जलि महाभाष्य' में मिलता है। इसके पश्चात् व्याड़ि, दंडी आदि के द्वारा 'अपभ्रंश' शब्द का प्रयोग हुआ है। किन्तु भाषा के लिए इसका प्रयोग छठी शताब्दी के पूर्व नहीं मिलता। 'भाषा के अर्थ में अपभ्रंश शब्द का प्रयोग स्पष्ट रूप से छठी शती ईस्वी में प्राकृत वैयाकरण चण्ड, वलभी के राजा धरसेन द्वितीय के ताम्रपत्र, भामह और दंडी के अलंकार ग्रन्थों में मिलता है।[3] भाषा का यह नियम है कि वह संयोगात्मक अवस्था से वियोगात्मक अवस्था और फिर वियोगात्मक अवस्था से संयोगात्मक अवस्था के रूप में विकसित होती रहती है। संस्कृत श्लिष्ट भाषा थी। उसके पश्चात् पालि, प्राकृत और अपभ्रंश क्रमशः अधिकाधिक अश्लिष्ट होती गईं। उनमें सरलीकरण की प्रवृत्ति आती गई। धातु रूप, कारक रूप आदि कम होते गए। अपभ्रंश तक आते-आते भाषा का अश्लिष्ट रूप अधिक स्पष्ट हो गया। वास्तव में अपभ्रंश संस्कृत-पालि-प्राकृत के श्लिष्ट भाषा-कुल से उत्पन्न, पर अश्लिष्ट होने से एक नए प्रकार की भाषा है और हिन्दी के बहुत निकट है। श्री चन्द्रधर शर्मा गुलेरी ने तो अपभ्रंश को पुरानी हिन्दी ही माना है और अपभ्रंश साहित्य के अनेक उद्धरणों का विश्लेषण करके इस निष्कर्ष पर पहुंचे हैं कि 'ये उदाहरण अपभ्रंश कहे जाँय, किन्तु ये उस समय की पुरानी हिन्दी ही हैं,

१. महापंडित राहुल सांकृत्यायन – हिन्दी काव्यधारा, पृ० ५७ से ५९ तक।
२. महापंडित राहुल सांकृत्यायन—दोहाकोष, पृ० ५।
३. नामवर सिंह—हिन्दी के विकास में अपभ्रंश का योग, पृ० ६।

वर्तमान हिन्दी साहित्य से उनका परम्परागत सम्बन्ध वाक्य और अर्थ से स्थान-स्थान पर स्पष्ट होगा।[1] भाषा के विकास क्रम में ऐसा समय भी आता है जब कि एक भाषा अपने स्थान से हटने लगती है और दूसरी भाषा उसका स्थान ग्रहण करने के लिए सक्रिय हो उठती है। इसको भाषा का 'संक्रान्ति युग' कहते हैं। ऐसे संक्रान्ति युग संस्कृत-पालि, पालि-प्राकृत, प्राकृत-अपभ्रंश और अपभ्रंश-हिन्दी के बीच में आए हैं। छठी शताब्दी को प्राकृत-अपभ्रंश का संक्रान्ति-युग माना जाता है, जब कि प्राकृत के स्थान पर अपभ्रंश साहित्यिक भाषा का स्थान ले रही थी और कविगण अपभ्रंश की ओर झुक रहे थे। किन्तु अभी अपभ्रंश का स्वरूप-निर्देश नहीं हो सका था। उसके अनेक प्रयोग प्राकृत के से थे। योगीन्दु मुनि के 'परमात्मप्रकाश' और विशेष रूप से 'योगसार' की जो भाषा है, उसे हम छठी शताब्दी की भाषा नहीं मान सकते, क्योंकि उस समय की भाषा में अचानक इतनी वियोगात्मकता और सरलता आ जाय (जैसी की योगसार में है) इसे स्वीकार नहीं किया जा सकता। 'योगसार' के कुछ दोहों से स्पष्ट हो जाएगा कि वे हिन्दी के कितने निकट हैं:—

> देहादिउ जे परि कहिया ते अप्पाणु ण होहिं।
> इउ जाणे विणु जीव तुहं अप्पा अप्प मुणेहिं ॥११॥
> चउरासी लक्खहि फिरिउ कालु अणाइ अणंतु।
> पर सम्मतु ण लद्धु जिय एहउ जाणि णिभंतु ॥२५॥

उक्त दोहों में देहादिउ, जे, परि, ते, होहिं, जीव, तुहं, चउरासी, लक्खहिं, कालु, जिय आदि शब्द लगभग हिन्दी के ही हैं।

हेमचन्द्र ने अपने 'सिद्ध हेमचन्द्र शब्दानुशासन' के आठवें अध्याय में प्राकृत-अपभ्रंश व्याकरण पर विचार किया है। उन्होंने व्याकरण की विभिन्न विशेषताओं के प्रमाण रूप में अपभ्रंश की रचनाओं को उद्धृत किया हैं। ये उद्धरण पूर्ववर्ती और समकालीन कवियों की रचनाओं से लिए गए हैं। हेमचन्द्र का समय सम्वत् ११४५ से सं० १२२९ तक माना जाता है। अधिकांश उद्धरण आठवीं, नवीं और दसवीं शताब्दी के हैं। परमात्मप्रकाश के भी तीन दोहे थोड़े अन्तर के साथ हेमचन्द्र के व्याकरण में पाए जाते हैं। वे दोहे नीचे दिये जा रहे हैं।[2] इससे

---

१. चन्द्रधर शर्मा गुलेरी – पुरानी हिन्दी, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, प्र० संस्करण, संवत् २००५, पृ० १३० ।

२. परम० प्र० :—

संता विसय जु परिहरइ बलि किज्जउं हउं तासु।
सो दइवेण जि मुण्डियउ सीसु खडिल्लउ जासु ॥१३९॥

हेम० व्याकरण :—

संता भोग जु परिहरइ तसु कन्तहो बलि कीसु।
तसु दइवेण वि मुण्डियउं जसु खल्लिहडउं सीसु ॥

× × ×

ऐसा प्रतीत होता है कि हेमचन्द्र ने आठवीं शताब्दी से बारहवीं शताब्दी तक की अपभ्रंश पर विचार किया है। अतएव यह निष्कर्ष निकलता है कि योगीन्दु मुनि ईसा की आठवीं शताब्दी के अन्त अथवा नवीं शती के प्रारम्भ में हुए होंगे।

डा० हरिवंश कोछड ने भी योगीन्दु का समय आठवीं-नवीं शताब्दी माना है। उन्होंने डा० उपाध्ये के मत का खण्डन करते हुए लिखा है कि 'चंड के प्राकृत लक्षण में परमात्मप्रकाश का एक दोहा उद्धृत किया हुआ मिलता है जिसके आधार पर डा० उपाध्ये योगीन्द्र का समय चण्ड से पूर्व ईसा की छठी शताब्दी मानते हैं। किन्तु सम्भव है कि वह दोहा दोनों ने किसी तीसरे स्रोत से लिया हो। इसलिए इस युक्ति से हम किसी निश्चित मत पर नहीं पहुंच सकते। भाषा के विचार से योगीन्द्र का समय आठवीं शताब्दी के लगभग प्रतीत होता है।'[1]

ग्रन्थ :

योगीन्दु के नामकरण और आविर्भाव के समान, उनके ग्रन्थों के सम्बन्ध में भी काफी विवाद है। श्री ए० एन० उपाध्ये ने ऐसे नौ ग्रन्थों की सूची दी है जो योगीन्दु के नाम से अभिहित किए गए हैं। वे ग्रन्थ हैं—(१) परमात्मप्रकाश, (२) योगसार, (३) नौकार श्रावकाचार, (४) अध्यात्म सन्दोह, (५) सुभाषित तन्त्र, (६) तत्त्वार्थ टीका, (७) दोहापाहुड़, (८) अमृताशीति, (९) निजात्माष्टक। इनमें से नं० ४, ५, और ६ के विषय में विशेष विवरण नहीं मिलता। 'अमृताशीति' एक उपदेश प्रधान रचना है। अन्तिम पद में योगीन्द्र शब्द आया है।[2] यह रचना योगीन्दु मुनि की है, इसका कोई निश्चित

परम० प्र० :—

पचंह णायकु वसिकरहु जेण होंति वसि अण्ण।
मूल विणट्टइ तरुवरहं अवसहं सुक्कहिं पण्ण ॥ १४० ॥

हेम० व्याकरण :—

जिब्भिन्दिउ नायगु वसि करहु जसु अधिन्नइं अन्नइं।
मूलि विणट्टइ तुंबिणिहे अवसें सुक्कइं पण्णइं ॥

× × ×

परम० प्र० :—

बलि किउ माणुस जम्मडा देक्खन्तहं पर सारु।
जइ उट्ठब्भइ तो कुहइ अह डज्झइ तो छारु ॥ १४७ ॥

हेम० व्याकरण :—

आयहो दट्ठ कलेवरहो जं वाहिउ तं सारु।
जइ उट्ठब्भइ तो कुहइ अह डज्झइ तो छारु ॥

१. डा० हरिवंश कोछड़, अपभ्रंश साहित्य—भारतीय साहित्य मन्दिर, दिल्ली, पृ० २६८।

२. देखिए-परमात्मप्रकाश की भूमिका, पृ० ११२।

प्रमाण नहीं मिलता। 'निजात्माष्टक' प्राकृत भाषा का ग्रन्थ है। इसके रचयिता के सम्बन्ध में भी कुछ निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता।

नौकार श्रावकाचार या सावयधम्मदोहा में जैन श्रावकों के आचरण सम्बन्धी नियम हैं। इसके रचयिताओं में तीन व्यक्तियों—योगीन्दु, लक्ष्मीधर और देवसेन-का नाम लिया जाता है। 'हिन्दी साहित्य के बृहत् इतिहास' में 'योगीन्दु' को 'सावयधम्मदोहा' का कर्ता बताया गया है।[1] इस पुस्तक की कुछ हस्तलिखित प्रतियों के अन्त में 'जोगेन्द्र कृत' लिखा भी है। 'सावयधम्मदोहा' की तीन हस्तलिखित प्रतियाँ ऐसी हैं, जिनमें कवि का नाम 'लक्ष्मीचन्द्र' दिया हुआ है।[2] किन्तु इसका सम्पादन डा० हीरालाल जैन ने किया है और उसकी भूमिका में 'देवसेन' को ग्रन्थ का कर्ता सप्रमाण सिद्ध कर दिया है। अतएव इसमें अब सन्देह का स्थान नहीं रह गया है कि 'सावयधम्मदोहा' देवसेन की रचना है।[3] देवसेन दसवीं शताब्दी के जैन कवि थे। उन्होंने 'दर्शनसार', 'भावसंग्रह' आदि ग्रन्थों की रचना की थी। 'दर्शनसार' के दोहा नं० ४९, ५० में आपने लिखा है कि ग्रन्थ की रचना धारा नगरी के पार्श्वनाथ मन्दिर में बैठकर सम्वत् ९९० की माघ सुदी दशमी को की। इससे स्पष्ट है कि वे दसवीं शताब्दी में हुए थे।

'दोहापाहुड़' के सम्बन्ध में दो रचयिताओं का नाम आता है-मुनि रामसिंह और योगीन्दु मुनि। डा० हीरालाल जैन ने इस ग्रन्थ का सम्पादन दो हस्तलिखित प्रतियों के आधार पर किया है।[4] उन्हें एक प्रति दिल्ली और दूसरी कोल्हापुर से प्राप्त हुई थी। दिल्लीवाली प्रति के अन्त में 'श्री मुनिराम सिंह विरचिता पाहुड दोहा समाप्तं' लिखा है और कोल्हापुर की प्रति के अन्त में 'इति श्री योगेन्द्रदेव विरचित दोहापाहुड नाम ग्रन्थं समाप्तं' लिखा है। 'दोहापाहुड' की एक हस्तलिखित प्रति मुझे जयपुर के 'आमेर शास्त्र भाण्डार' गुटका नं० ५४ से प्राप्त हुई है। इस प्रति के अन्त में लिखा है 'इति द्वितीय प्रसिद्ध नाम जोगीन्दु विरचितं दोहापाहुडयं समाप्तानि।' इस कारण यह निर्णय कर सकना कि इसका कर्ता कौन है? कुछ कठिन हो जाता है। अगले प्रकरण में इस पर विस्तार से विचार कर रहे हैं।

अब दो ग्रन्थ—परमात्मप्रकाश और योगसार—ही ऐसे रह जाते हैं, जिनको निर्विवाद रूप से योगीन्दु मुनि का कहा जा सकता है। परमात्मप्रकाश में दो महाधिकार हैं। प्रथम महाधिकार में १२३ तथा दूसरे में २१४ दोहे हैं। इस

---

१. हिन्दी साहित्य का बृहत् इतिहास (प्रथम भाग) सं० डा० राजबली पांडेय, पृ० ३४६।

२. देखिए—परमात्म प्रकाश की भूमिका, पृ० ११०।

३. देखिए—सावयधम्मदोहा की भूमिका (सं० डा० हीरालाल जैन, प्र० कारंजा जैन सिरीज़, कारंजा, १९३२)।

४. मुनि रामसिंह—पाहुड़दोहा, सं० डा० हीरालाल जैन, प्र० कारंजा जैन पब्लिकेशन सोसाइटी, कारंजा (बरार) १९३३।

ग्रन्थ की रचना योगीन्दु मुनि ने अपने शिष्य भट्ट प्रभाकर के आत्मलाभ के लिए की थी। प्रारम्भ में भट्ट प्रभाकर पञ्चपरमेष्ठी तथा योगीन्दु मुनि की वन्दना करके निर्मल भाव से कहते हैं कि 'मुझे संसार में रहते हुए अनन्त काल व्यतीत हो गया, फिर भी सुख नहीं मिला, दुःख ही दुःख मिला। अतएव, हे गुरु! चतुर्गति, (देवगति, मनुष्य गति, नरक गति, तिर्यक्गति) के दुःखों का निवारण करनेवाले परमात्मा का वर्णन कीजिए :—

'भाविं पणविवि पञ्च गुरू सिरि जोइन्दु जिणाउ।
भट्टापहायरि विरणविउ विमुल करेविणु भाउ ॥८॥
गउ संसारि वसन्ताहं सामिय कालु अणन्तु।
पर मइं किंपि ण पत्तु सुहु दुक्खु जि पत्तु महन्तु ॥६॥
चउगइ दुक्खहं तत्ताहं जो परमप्पउ कोई।
चउ गइ दुक्ख विणासयरु कहहु पसाएं सो वि ॥१०॥

(परमात्मप्रकाश, प्र० महाधिकार)

भट्ट प्रभाकर की इस प्रार्थना को सुनकर योगीन्दु मुनि 'परमतत्व' की व्याख्या करते हैं। वह आत्मा के भेद, बहिरात्मा, परमात्मा, अन्तरात्मा का स्वरूप, मोक्ष प्राप्ति के उपाय, निश्चयनय, व्यवहारनय, सम्यक्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि का वर्णन करते हैं। स्थान-स्थान पर भट्ट प्रभाकर शंका उपस्थित करते हैं, तब योगीन्दु उस विषय को अधिक विस्तार से स्पष्ट करते हैं। इसीलिए अन्त में उन्होंने कहा है कि पण्डितजन इसमें पुनरुक्ति दोष पर ध्यान न दें, क्योंकि मैंने भट्ट प्रभाकर को समझाने के लिए परमात्म तत्व का कथन बार-बार किया है :—

इत्थु ण लेवउ पण्डियहि गुणु दोसु वि पुणरुत्तु।
भट्ट प्रभायर कारणइं मइं पुणु पुणु वि पउत्तु ॥२११॥

(परमात्मप्रकाश—द्वि० महाधिकार)

'योगसार' आपकी दूसरी रचना है। इसमें १०८ दोहा छन्द हैं। इसका विषय भी वही है, जो 'परमात्मप्रकाश' का है। ग्रन्थ के अन्त में कवि ने स्वयं कहा है कि संसार के दुःखों से भयभीत योगीन्दु देव ने आत्मसम्बोधन के लिए एकाग्र मन से इन दोहों की रचना की :—

ससांरह भय भीयएण जोगिचन्द मुणिएण।
अप्पा संबोहण कया दोहा इक्क मणेण ॥१०८॥

दोनों ग्रन्थ श्री ए० एन० उपाध्ये द्वारा सम्पादित होकर 'रायचन्द्र जैन शास्त्र-माला' में प्रकाशित हो चुके हैं।

समीक्षा :

योगीन्दु मुनि उच्च कोटि के साधक हैं। आपने जैन एवं जैनेतर ग्रन्थों का विशद अध्ययन किया था। आप संकीर्ण विचारों से पूर्णतया मुक्त थे। आपने अनुभूति को ही अभिव्यक्ति का आधार बनाया और केवल जैन धर्म के मान्य ग्रन्थों का ही पिष्टपेषण और व्याख्या आदि न करके, जिस चरम सत्य का अनुभव किया, उसे निर्भीक-निर्द्वन्द्व वाणी से अभिव्यक्त कर दिया। एतदर्थ ग्रन्थ

धर्मों की शब्दावली ग्रहण करने में आप हिचके नहीं तथा जैन मत की कुछ मान्यताओं से अलग जाने से डरे नहीं। आपने आत्मा के तीन स्वरूपों को आचार्य कुन्दकुन्द के समान ही स्वीकार किया और कहा कि द्रव्यदृष्टि से आत्मा एक होने पर भी पर्यायदृष्टि से तीन प्रकार का हो जाता है—बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा। शरीर को ही आत्मा समझनेवाले मूढ़ या बहिरात्मा होते हैं। ऐसे मिथ्यादृष्टी पुरुषों को यह विश्वास रहता है कि मैं गोरा हूँ, या श्याम वर्ण का हूँ। मैं स्थूल शरीर का हूँ या मेरा शरीर दुर्बल है। वे ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य आदि विभिन्न वर्णों की यथार्थता में भी निष्ठा रखते हैं।[1] किन्तु जो कर्म कलङ्क से विमुक्त हो जाता है, सम्यक्‌दृष्टा हो जाता है, सत्यासत्य विवेकी हो जाता है, आत्मा के वास्तविक स्वरूप को जान लेता है, उसे शरीर और आत्मा का अन्तर स्पष्ट हो जाता है। आत्मा की यही अवस्था 'परमात्मा' कहलाती है। यह परमात्मा ही निरंजन देव है, शिव, ब्रह्मा, विष्णु है। एक ही तत्व के ये विभिन्न नाम हैं।

योगीन्दु मुनि ने परमात्मा को ही निरंजन देव कहा है। और निरंजन कौन है ? इसका वर्णन करते हुए वह कहते हैं कि निरंजन वह है, जो वर्ण, गन्ध, रस, शब्द, स्पर्श से रहित है, जन्म-मरण से परे है। निरंजन वह है, जिसमें क्रोध, मोह, मद, माया, मान का अभाव है। निरंजन वह है, जो पाप-पुण्य, राग-द्वेष हर्ष-विषाद आदि भावों से अलिप्त है।[2]

योगीन्दु मुनि का यह 'निरंजन' 'निरंजन मत' की याद दिला देता है। 'निरंजन मत' आठवीं-नवीं शताब्दी में बिहार, बंगाल आदि के कुछ जिलों में काफी प्रभावशाली रूप में फैला हुआ था। यह मत 'धर्म सम्प्रदाय' के नाम से भी पुकारा जाता था। धर्माष्टक नामक एक निरंजन स्तोत्र में 'निरंजन' की ठीक इसी प्रकार के शब्दों में स्तुति की गई है :—

ॐ न स्थानं न मानं च चरणारविन्दं रेखं न च धातुवर्णं।
दृष्टा न दृष्टिः श्रुता न श्रुतिस्तस्ये नमस्तेस्तु निरंजनाय॥

---

१. हउं गोरउ हउं सामलउ हउं जि विभिण्णउ वण्णु
हउं तणु अंगउं थूलु हउं, एहउ मूढ़उ मण्णु ॥८०॥
हउं वर बंभणु वइसु हउं, हउं खत्तिउ हउं सेसु।
पुरिस णउंसउ इत्थु हउं मण्णइ मूढ़ विसेसु ॥८१॥
(परमा०, प्रथम महा०, पृ० ८६)

२. जासु ण वण्णु ण गन्धु रसु जासु ण सद्दु ण फासु।
जासु ण जम्मणु मरणु णवि णाउ णिरंजणु तासु ॥१९॥
जासु ण कोहु ण मोहु मउ जासु ण माय ण माणु।
जासु ण ठाणु ण झाणु जिय सो जि णिरंजणु जाणु ॥२०॥
अत्थि ण पुण्णु ण पाउ जसु अत्थि ण हरिस विसाउ।
अत्थि ण एक्कु वि दोसु जसु सो जि णिरंजणु भाउ ॥२१॥
(परमा०, प्र० महा०, पृ० २७–२८)

ॐ श्वेतं न पीतं न रक्तं न रेतं न हेमस्वरूपं न च वर्णकर्णं
न चन्द्रार्कवह्नि उदयं न अस्तं तस्मै नमस्तेऽस्तु निरंजनाय।
ॐ न वृक्षं न मूलं न बीजं न चांकुरं शाखा न पत्रं न च स्कंधपल्लवं
न पुष्पं न गंधं न फूलं न छाया तस्मै नमस्तेऽस्तु निरंजनाय।
ॐ अधां न ऊर्ध्वं शिवो न शक्ती नारी न पुरुषो न च लिंगमूर्त्तिः
हस्तं न पादं न रूपं न छाया तस्मै नमस्तेऽस्तु निरंजनाय।
(धर्म पूजा विधान, पृ० ७७-७८)

यह निरंजन देव ही परमात्मा है। इसे जिन, विष्णु, बुद्ध और शिव आदि विभिन्न नामों से पुकारा जाता है।[1] इसको प्राप्त करने के लिए बाह्याचार की आवश्यकता नहीं। जप, तप, ध्यान, धारणा, तीर्थाटन आदि व्यर्थ है। इसको तो निर्मल-चित्त व्यक्ति अपने में ही प्राप्त कर लेता है। मानसरोवर में हंस के समान निर्मल मन में ब्रह्म का वास होता है। उसे देवालय, शिल्प अथवा चित्र में खोजना व्यर्थ है।[2] जब मन परमेश्वर से मिल जाता है और परमेश्वर मन से तब पूजा विधान की आवश्यकता भी नहीं रह जाती, क्योंकि दोनों एकाकार हो जाते हैं, समरस हो जाते हैं :—

मणु मिलियउ परमेसरहं, परमेसरु वि मणस्स।
बीहि वि समरसि हूवाहं पुज्ज चडावउं कस्स ॥१२॥

इस सामरस्य भाव के आने पर हर प्रकार का वैषम्य समाप्त हो जाता है, द्वैत भाव का विनाश हो जाता है। वस्तुतः पिण्ड में मन का जीवात्मा में तिरोभूत हो जाना या एकमेक होकर मिल जाना ही यह सामरस्य है। इस अवस्था को प्राप्त होने पर साधक को किसी प्रकार के बाह्य आचरण या साधना की आवश्यकता ही नहीं रह जाती है।

इस प्रकार श्री योगीन्दु मुनि आठवीं-नवीं शताब्दी के अन्य साधकों के स्वर में स्वर मिलाकर ब्रह्म के स्वरूप, उसकी प्राप्ति के उपाय आदि का मोहक विवरण प्रस्तुत करते हैं, आपका महत्व इस बात में भी है कि आपने प्राकृत भाषा को न अपनाकर, जन सामान्य में व्यवहृत भाषा को स्वीकार किया। इससे आपकी उदार मनोवृत्ति का परिचय प्राप्त हो जाता है। श्री ए० एन० उपाध्ये ने ठीक

---

१. णिम्मलु णिक्कलु सुद्ध जिणु विण्हु बुद्ध सिव सन्तु।
सो परमप्पा जिण भणिउ एहउ जाणु णिभन्तु ॥ ९ ॥
(योगसार, पृ० ३७३)

२. णिय मणि णिम्मलि णाणियहं णिवसइ देव अणाइ।
हंसा सरवरि लीणु जिम महु एहउ पडिहाइ ॥१२२॥
देउ ण देवले णवि सिलए णवि लिप्पइ णवि चित्ति।
अखउ णिरंजणु णाणमउ सिउ संठिउ सम चित्ति ॥१२३॥
(परमा०, प्र० महा०, पृ० १२३-१२४)

ही लिखा है कि 'उच्चकोटि की रचनाओं में प्रयुक्त की जानेवाली संस्कृत तथा प्राकृत भाषा को छोड़कर योगीन्दु का उस समय की प्रचलित भाषा अपभ्रंश को अपनाना महत्व से खाली नहीं है। इस दृष्टि से वे महाराष्ट्र के सन्त ज्ञानदेव, नामदेव, तुकाराम, एकनाथ और रामदेव तथा कर्नाटक के बसवन्न आदि साधकों की कोटि में आते हैं, क्योंकि वे भी इसी प्रकार मराठी और कन्नड़ में अपनी अनुभूतियों को बड़े गर्व से व्यक्त करते हैं।'[1]

(४) मुनि रामसिंह

दोहापाहुड का कर्ता कौन ?

मुनि रामसिंह एक ऐसे कवि हैं, जिनका आविर्भाव काल और परिचय तो अज्ञात है ही, उनके अस्तित्व के विषय में भी सन्देह है। उनके नाम से लिखित केवल एक ग्रन्थ 'पाहुड़दोहा या दोहापाहुड़' मिलता है। डा० हीरालाल जैन ने इसका सम्पादन करके सन् १९३२ में कारंजा जैन पब्लिकेशन सोसाइटी (कारंजा, बरार) से प्रकाशित कराया था। आपको इसकी दो प्रतियाँ उपलब्ध हो सकी थीं—एक दिल्ली से और दूसरी कोल्हापुर से। इन प्रतियों में भिन्न-भिन्न दो लेखकों का नाम होने से ग्रन्थ के रचयिता का प्रश्न भी उपस्थित हो गया। दिल्लीवाली प्रति के अन्त में लिखा है 'इति श्री मुनि रामसिंह विरचिता पाहुड़दोहा समाप्तं।' और कोल्हापुरवाली प्रति के अन्त में दिया हुआ है 'इति श्री योगेन्द्र देव विरचित दोहापाहुडं नाम ग्रंथं समाप्तं।' पुस्तक के दोहा नं० २११ में भी रामसिंह का नाम आया है।[2]

ग्रन्थ की नई प्रति :

मुझे 'दोहापाहुड़' की एक हस्तलिखित प्रति जयपुर के 'आमेर शास्त्र भांडार' के गुटका नं० ५४ से प्राप्त हुई है। यह एक बड़ा गुटका है। इसमें छोटी बड़ी ९८ रचनाएँ लिपिबद्ध हैं। प्रमुख रचनाओं में 'षटपाहुड़', 'परमात्म प्रकाश के दोहे', 'नेमिनाथरासो', 'स्वामी कुमारानुप्रेक्षा' और 'जोगसार के दोहे' आदि कहे जा सकते हैं। 'परमात्मप्रकाश के दोहे' के बाद 'दोहापाहुड़' पृष्ठ २७९ से २८७ तक संग्रहीत हैं। इस प्रति की कुछ विशेषताएँ निम्नलिखित हैं :—

(१) प्रकाशित ग्रन्थ के दो० नं० २० व २१ और २२ व २३ का इसमें क्रम उल्टा है।

---

१. परमात्मप्रकाश की भूमिका, पृ० ६७।

२. 'अणुपेहा बारह वि जिय भाविवि एक्कमणेण।
रामसीहु मुणि इम भणइ सिवपुरि पावहि जेण ॥२११॥

(२) १२५ और १२६ नं० के दोहे प्रति में नहीं हैं।

(३) प्रति में एक नया दोहा भी है। यह दोहा नं० २०५ के पहले का है। दोहा इस प्रकार है :—

विसय म सेवहि जीव तुहुं मा चिंतहि हियएण।
विसमह कारिणि जीवडा पावहि दुक्ख खणेण॥

(४) प्रति में प्रायः 'य' श्रुति और 'व' श्रुति का अभाव है अर्थात् 'य' के स्थान पर 'अ' या 'व' के स्थान पर 'अ' का प्रयोग हुआ है :—

कायरु = काअरु (दोहा नं० २८)
तिहुवण = तिहुअण (दो० नं० ३१)
रहिय = रहिअ (दो० नं० ४१)
तिहुयणि = तिहुवणि (दो० नं० ५६)
पियंतु = पिवंतु (दो० नं० ६२)
तइलोयहं = तइलोअहं (दो० नं० ६८)
जोइय = जोइअ (दो० नं० ७३)
मेल्लयउ = मेलविउ (दो० नं० ६५)
सुगुरुवडा = सुगुरुअडा (दो० नं० १३०)

(५) दो० नं० २११ जिसमें 'रामसिंह' का नाम आया है, वह इस प्रति में इस प्रकार है :—

'अणुपेहा बारह वि जिय भवि भवि एक्क मणेण।
राम सीकु मुणि इम भणइ सिवपुरि पावहि जेण॥'

(६) प्रति के अन्त में लिखा है :—

'इति द्वितीय प्रसिद्ध नाम जोगीन्दु विरचितं दोहा पाहुडयं समाप्तानि।'

मुनि रामसिंह और योगीन्दु :

अतएव मुनिरामसिंह और योगीन्दु में क्या सम्बन्ध है और 'पाहुड़दोहा' का रचयिता कौन है? इसका निर्णय कर सकना काफी कठिन हो जाता है। योगीन्दु मुनि का विवरण दिया जा चुका है। उनके दो ग्रंथ—'परमात्म प्रकाश' और 'योगसार' प्रसिद्ध हैं। 'दोहापाहुड़' की भाषा-शैली और विषय 'परमात्म-प्रकाश' के समान है। 'दोहापाहुड़' के अनेक दोहे 'परमात्मप्रकाश' से मिलते हैं या दोनों एक ही हैं। डा० हीरालाल जैन ने 'पाहुड़दोहा' के लगभग ऐसे ४० दोहों की सूची दी है, जो 'परमात्मप्रकाश' और 'योगसार' में उसी रूप में अथवा थोड़े अन्तर से पाये जाते हैं।[1] इस समता से कर्ता का प्रश्न और अधिक जटिल हो जाता है। प्रश्न उठता है कि क्या (१) योगीन्दु मुनि ही तीनों ग्रंथों के रचयिता थे, अथवा (२) योगीन्दु मुनि और मुनि रामसिंह दोनों नाम एक ही व्यक्ति के थे अथवा (३) रामसिंह, योगीन्दु से भिन्न और इस ग्रन्थ के रचयिता थे।

१. देखिए, पाहुड़दोहा की भूमिका, पृ० २०।

योगीन्दु के पक्ष में दो तर्क उपस्थित किए जा सकते हैं—(१) दो हस्त-लिखित प्रतियों के अन्त में 'जोगीन्दु या योगेन्दु' नाम आया है और (२) इसके अनेक दोहे परमात्मप्रकाश और योगसार से मिलते हैं। किन्तु यदि यह रचना योगीन्दु की है, तो उन्होंने अपना नाम मूल ग्रन्थ में क्यों नहीं दिया, जैसा कि अन्य दो ग्रन्थों में आया है।[1] फिर एक ही प्रकार के दोहों की पुनरावृत्ति क्यों हुई है? लेखक प्रायः एक ही प्रकार के भावों की पुनरावृत्ति से बचने का प्रयास करते हैं, क्योंकि यह एक प्रकार का दोष होता है। 'दोहापाहुड़' के ३ दोहे परमात्मप्रकाश या योगसार में लगभग उसी रूप में विद्यमान हैं। अतएव इसके रचयिता और 'परमात्मप्रकाश' के कर्ता एक व्यक्ति नहीं हो सकते। श्री ए० एन० उपाध्ये का अनुमान है कि कुछ पद्यों की समानता और अपभ्रंश भाषा को लक्ष्य में रखकर किसी अन्य कवि ने इसकी सन्धि में 'योगीन्दु' नाम जोड़ दिया है।[2]

एक अन्य सम्भावना की ओर भी ध्यान जाता है कि मुनि रामसिंह और योगीन्दु मुनि एक ही व्यक्ति के दो नाम रहे होंगे। रामसिंह पहले का नाम होगा और जब वह मुनि हो गए होंगे, तो उनका नाम 'योगीन्दु' हो गया होगा। भारतीय इतिहास और साहित्य में ऐसे अनेक व्यक्तियों के नाम आते हैं, जो सन्त मार्ग में आने के बाद या काव्य क्षेत्र में दूसरे नाम से विख्यात हुए। स्वयं गोस्वामी तुलसीदास के सम्बन्ध में ऐसा प्रश्न उठा है और कुछ विद्वानों का अनुमान है कि उनका बाल्यकाल का नाम 'रामबोला' था। 'सिद्धार्थ' 'बुद्ध' हो गए, यह कौन नहीं जानता? इसी प्रकार जब 'रामसिंह' जैन मुनि हुए हों, तो अपना नाम बदलकर 'योगेन्द्र' या 'जोगीन्दु' कर लिया हो, यह असम्भव नहीं है। जयपुर की हस्तलिखित प्रति से भी यही ध्वनित होता है। उसके अन्त के 'इति द्वितीय प्रसिद्ध नाम जोगीन्दु विरचितं' से यह स्पष्ट संकेत मिलता है कि कवि का दूसरा नाम, अधिक प्रसिद्ध नाम 'जोगीन्दु' है अर्थात् प्रथम नाम कोई दूसरा है। शायद 'रामसिंह'? बहुत सम्भव है रामसिंह भी राजपूत हों और बनारसीदास के पूर्वजों के समान किसी जैन मुनि के प्रभाव में आकर जैन मतावलम्बी हो गए हों और तब उनका फिर से नामकरण संस्कार हुआ हो।

किन्तु यदि यह सम्भावना भी सत्य हो तो भी रामसिंह और परमात्म-प्रकाश के कर्ता को एक ही व्यक्ति नहीं माना जा सकता। कारण, श्री ए० एन० उपाध्ये को प्राप्त परमात्मप्रकाश की दस हस्तलिखित प्रतियों में तथा मुझे जयपुर में प्राप्त एक प्रति में 'रामसिंह' का उल्लेख कहीं नहीं आया है। ब्रह्मदेव,

---

१. देखिए, परमात्मप्रकाश (प्रथम महा०) का दोहा नं० ८ और योगसार का दोहा नं० १०८।

2. "So many common verses and the Apabh. dilect have perhaps led some scribe to put Yogendra's name in the colophon" (Introduction of Parmatma Prakasa, Page 62).

बालचन्द्र आदि द्वारा की गई 'परमात्मप्रकाश' की टीकाओं और कृतियों में भी रामसिंह का नाम कहीं नहीं मिलता है। इसी प्रकार योगसार की श्री ए० एन० उपाध्ये को प्राप्त चार प्रतियों में तथा मुझे प्राप्त दो प्रतियों (एक जयपुर के आमेर शास्त्र भाण्डार तथा दूसरी ठोलियों के मन्दिर) में भी 'रामसिंह' का कोई उल्लेख नहीं मिलता। यदि 'दोहापाहुड़' और परमात्मप्रकाश व योगसार के रचयिता एक ही व्यक्ति होते तो परवर्ती दोनों ग्रन्थों की किसी प्रति में 'रामसिंह' के नाम का उल्लेख कहीं न कहीं अवश्य होता। अतएव मेरा अनुमान है कि 'रामसिंह' का दूसरा नाम 'जोगीन्दु या योगेन्द्र' भी रहा होगा। किन्तु ये 'जोगीन्दु' परमात्मप्रकाश और योगसार के कर्ता 'योगीन्दु' से भिन्न रहे होंगे। जैन साहित्य में एक ही नाम के अनेक लेखक हुए हैं और इसी कारण उनके समय, ग्रन्थ आदि के सम्बन्ध में काफी भ्रम पैदा हो जाता है। रूपचन्द और पांडे रूपचन्द को लेकर यही विवाद सामने आता है और 'भगवतीदास' नामक के कई जैन कवि इसी भ्रम को उत्पन्न कर देते हैं।

मुनि रामसिंह के जीवन के सम्बन्ध में कोई विवरण प्राप्त नहीं है। डा० हीरालाल जैन के अनुसार "नाम पर से ये मुनि अर्हद्बलि आचार्य द्वारा स्थापित 'सिंह' संघ के अनुमान किए जा सकते हैं। ग्रन्थ में 'करहा' (ऊँट) की उपमा बहुत आई है तथा भाषा में भी 'राजस्थानी' हिन्दी के प्राचीन मुहाविरे दिखाई देते हैं। इससे अनुमान होता है कि ग्रन्थकार राजपूताना प्रान्त के थे।[1]" डा० साहब का उक्त अनुमान किन्हीं पुष्ट प्रमाणों पर आधारित नहीं है। प्रथमतः तो इसी बात की सम्भावना है कि मुनि रामसिंह जैन मत में दीक्षित होने के बाद 'जोगीन्दु' हो गए होंगे। अतएव 'सिंह' संघ के सम्बन्ध का कोई प्रश्न ही नहीं उठता। फिर 'करहा' शब्द का मन के उपमान रूप में प्रयोग न केवल राजस्थान अपितु अन्य स्थान के कवियों द्वारा भी हुआ है। योगीन्दु मुनि ने 'परमात्मप्रकाश' में 'पंचिदिय-करहडा' (२। १३६) का प्रयोग किया है। बौद्ध सिद्धों ने अनेक स्थानों पर मन को 'करभ' कहा है। पूर्व दिशा के राज्ञी (?) नामक कस्बे में पैदा हुए सरहपाद ने मन के लिए 'करहा' शब्द का प्रयोग किया है[2] 'कबीर ग्रंथावली' में भी यह रूपक मिल जाता है।[3] १७वीं शताब्दी के जैन कवि भगवतीदास ने 'मनकरहारास' नामक एक रूपक काव्य की ही रचना की थी, जिसमें मन को 'करभ' बताकर उसे वश में करने की बात कही गई है। इसके अतिरिक्त मुझे जयपुर के 'आमेर

---

१. मुनि रामसिंह-पाहुड़दोहा की भूमिका, पृ० २७-२८।

२. बद्धो धावहि दहदिहहिं मुक्को णिच्चल ठाई।
एमइ करहा पेक्खु सहि विहरिऊ महुँ पडिहाइ ॥
(दोहाकोष, पृ० २४)

३. न्यूति जिमाऊँ अपनीं करहा, छार मुनिस की डारी रे ।।७६।।
(कबीर ग्रंथावली, पृ० ११२)

शास्त्र भांडार' (गुटका नं० २६२ । ५४) में ब्रह्मदीप कवि कृत 'मनकरहारास' नामक एक रचना और प्राप्त हुई है, जिसमें मन रूपी करभ को संसार-वन में लगी विषय बेलि को न खाने का उपदेश दिया गया है।[1] इससे अनुमान होता है कि सिद्धों, सन्तों और जैन मुनियों में मन को 'करहा' की उपमा देना एक काव्य-रुढ़ि बन गई थी। अतएव 'करहा' शब्द का प्रयोग किसी स्थान विशेष का सूचक नहीं माना जा सकता।

ग्रंथ का नाम

प्रतियों में ग्रन्थ का नाम पाहुड़दोहा या दोहापाहुड़ मिलता है। 'पाहुड़' शब्द 'प्राभृत' का अपभ्रंश है। गोमम्टसार जीवकांड की २४१ वीं गाथा में इस शब्द का अर्थ 'अधिकार' बतलाया गया है 'अहियारो पाहुड्यं।' उसी ग्रन्थ में आगे समस्त श्रुतज्ञान को 'पाहुड़' कहा है। इसी आधार पर डा० हीरालाल जैन ने 'पाहुड़' का अर्थ 'धार्मिक सिद्धान्त संग्रह' और 'पाहुड़ दोहा' को 'दोहों का उपहार' बताया है।[2] 'पाहुड़' शब्द का प्रयोग 'प्रकरण' के लिए भी होता है। पाइअसद्दमहण्णवो में 'पाहुड़' का अर्थ 'परिच्छेद' और 'अध्ययन' भी बताया गया है।[3] कुन्दकुन्दाचार्य के लिखे हुए 'चौरासी पाहुड़' बताए जाते हैं। इसमें 'अष्टपाहुड़' उपलब्ध भी हैं। वस्तुतः ये अष्टपाहुड़ दर्शन, चरित्र, सूत्र, बोध, भाव, मोक्ष, लिंग और शक्ति आदि भिन्न-भिन्न विषयों पर लिखे गए अध्याय या परिच्छेद ही हैं। अतएव 'पाहुड़' शब्द का तात्पर्य केवल 'धार्मिक सिद्धान्त संग्रह' न होकर, किसी विशेष विषय पर लिखे गये परिच्छेद या प्रकरण से हैं। यहाँ पर यह भी प्रश्न उठता है कि ग्रन्थ का शुद्ध नाम 'पाहुड़दोहा' है या दोहापाहुड़'। इसकी जो हस्तलिखित प्रतियाँ प्राप्त हुई हैं, उनमें दोनों पद्धतियों का प्रयोग हुआ है। दिल्ली वाली प्रति में लिखा है :—

प्रारम्भ—'अथ पाहुड़दोहा लिष्यते।

अन्त—इति श्री मुनिरामसिंह विरचिता पाहुड़ दोहा समाप्त।'

कोल्हापुर की प्रति इस प्रकार है :—

प्रारम्भ—'ॐ नमः सिद्धेभ्यः

अन्त—इति श्री योगेन्द्रदेव विरचित दोहापाहुडं नाम ग्रन्थ समाप्तं।'

जयपुर की प्रति का आरम्भ ग्रन्थ के प्रथम दोहे 'गुरु दिणयरु गुरु हिमकरण' से हुआ है और अन्त में लिखा है :—

'इति द्वितीय प्रसिद्ध नाम जोगीन्दु विरचितं दोहापाहुडयं समाप्तानि'

---

१. मनकरहा भव वनि मा चरइ,
तदि विष वेल्लरी बहूत।
तहं चरंतहं बहु दुख पाइयउ,
तब जानहि गौ मीत ॥ १ ॥

२. पाहुड़दोहा की भूमिका, पृ० १३।

३. पं० हरगोविन्ददास त्रिकमचंद सेठ—पाइअसद्दमहण्णवो, पृ० ७३३।
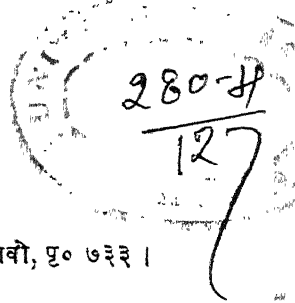
इस प्रकार एक प्रति में 'पाहुड़दोहा' और दो प्रतियों में 'दोहापाहुड़' का प्रयोग हुआ है। 'दोहापाहुड़' ही अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है। 'परिच्छेद' और 'उपहार' दोनों अर्थों की दृष्टि से इसकी समीचीनता सिद्ध होती है—'दोहों का परिच्छेद' अथवा 'दोहों का उपहार'। कुन्दकुन्दाचार्य के अष्टपाहुड़ में भी 'पाहुड़' शब्द बाद में आया है— दर्शनपाहुड़, चरित्रपाहुड़, सूत्रपाहुड़, बोधपाहुड़, भावपाहुड़, मोक्षपाहुड़ आदि अर्थात् दर्शन का प्रकरण, चरित्र का प्रकरण, सूत्र का प्रकरण मोक्ष का प्रकरण अथवा 'दर्शन का उपहार', 'चरित्र का उपहार' आदि। 'दोहा पाहुड़' नामक एक अन्य ग्रन्थ मुझे जयपुर के 'आमेर शास्त्र भाण्डार' से प्राप्त हुआ है। इसके अनेक दोहों में कवि का नाम 'महयदिणमुनि' आया है। प्रति के अन्त में लिखा है 'इति दोहापाहुडं समाप्तं।' (इसका विस्तृत परिचय आगे दिया जाएगा) इससे यही सिद्ध होता है कि ग्रन्थ का नाम 'दोहापाहुड़' ही है।

रचना काल :

'दोहापाहुड़' के रचनाकाल का उल्लेख कहीं नहीं मिलता है। अतएव इसके काल निर्धारण में भी अनुमान और परोक्ष मार्ग का आश्रय लेना पड़ता है। डा० हीरालाल जैन को जो दो प्रतियाँ प्राप्त हुई थीं, उनमें एक का लिपिकाल संवत् १७९४ (सन् १७३७) है। मुझे प्राप्त जयपुर की प्रति 'आमेर शास्त्र भाण्डार' के गुटका नं० ५४ में संग्रहीत है। इस गुटके के अन्त में लिखा है :—

'सं० १७११ वर्षे महामांगल्यप्रद आश्विनमासे शुक्ल पक्षे द्वितीयायां तिथौ सोमवासरे सीमंगलगोत्रे सुश्रावक पुन्यप्रभावक साह माधौदास तत् भ्राता साह जायौ तत्पुत्र साह नगाइनदास पुस्तिका लिषायितं पठनार्थं। शुभमस्तु।'

इससे स्पष्ट है कि 'दोहापाहुड़' सं० १७११ (सन् १६५४) के पूर्व लिखा गया होगा। डा० हीरालाल जैन ने बड़े परिश्रम से 'दोहापाहुड़' के कुछ ऐसे दोहों को खोज निकाला है, जो 'परमात्मप्रकाश', हेमचन्द के 'शब्दानुशासन' और देवसेन के 'सावयधम्मदोहा' में उसी रूप में अथवा थोड़े अन्तर से पाए जाते हैं। डा० साहब ने बड़े ही प्रामाणिक ढंग से यह भी सिद्ध कर दिया है कि 'परमात्मप्रकाश' और 'सावयधम्मदोहा' पूर्ववर्ती ग्रन्थ हैं[1] तथा उनमें से ही ज्ञान अथवा अज्ञानवश कुछ दोहे 'दोहापाहुड़' में आ गए हैं। हेमचन्द्र ने अपने व्याकरण ग्रंथ के आठवें प्रकरण में 'अपभ्रंश' का व्याकरण लिखा है और उदाहरण रूप में अपने पूर्ववर्ती अपभ्रंश कवियों के छन्दों को उद्धृत किया है। ऐसे तीन दोहे 'परमात्मप्रकाश' के भी पाए गए हैं। अतएव मुनि रामसिंह का समय योगीन्दु मुनि और देवसेन के बाद तथा हेमचन्द्र के पूर्व अनुमानित होता है।

हम योगीन्दु मुनि का समय पहले ही ईसा की आठवीं-नवीं शताब्दी निश्चित कर चुके हैं। देवसेन का दसवीं शताब्दी में होना निश्चित ही है, क्योंकि उन्होंने 'दर्शनसार' के अन्त में स्वयं कह दिया है कि उन्होंने ग्रन्थ को धारा नगरी के पार्श्वनाथ मन्दिर में बैठकर संवत् ९९० की माघ सुदी दशमी को

---

१. पाहुड़दोहा की भूमिका—पृ० २८ से ३३ तक।

पूर्ण किया।[1] हेमचन्द्र का जन्म सं० ११४५, दीक्षा सं० ११५४, सूरिपद सं० ११६६ और मृत्यु सम्वत् १२२६ माना जाता है।[2] अतएव मुनि रामसिंह सं० ९९० और सं० ११४५ के मध्य में अर्थात् विक्रम की ११वीं शताब्दी में हुए होंगे।

दोहापाहुड़ का विषय :

मुनि रामसिंह सच्चे साधक थे। उन्होंने उसी बात को मान्यता दी है, जो अनुभूति की कसौटी पर खरी उतरी है। उन्होंने न तो जैन आगमों और सिद्धान्तों का अन्धानुकरण ही किया है और न केवल उनकी हर बात का मण्डन ही किया है। जैनेतर शब्दावली और मान्यताओं को भी स्पर्श न करने की उन्होंने शपथ नहीं खाई थी। वे सच्चे रूप में सन्त थे और साधक को किसी एक पुरातन पद्धति, साधना अथवा विश्वास में बाँधा नहीं जा सकता। वह तो जिस सत्य का साक्षात्कार करता है, अपनी वाणी में उसे व्यक्त कर देता है। वह चाहे किसी मत के अनुकूल हो या प्रतिकूल। इसीलिए 'दोहापाहुड़' में एक ओर जैन दर्शन में स्वीकृत आत्मा का स्वरूप, उसके पर्याय-भेद, सम्यक्-दर्शन, ज्ञान और चरित्र का वर्णन मिल जाता है, तो दूसरी ओर तत्कालीन शैव, शाक्त तथा बौद्ध योगियों और तान्त्रिकों की शब्दावली का प्रयोग भी दिखाई पड़ता है। कवि कभी सहज भाव की बात करता है, तो कभी सामरस्य अवस्था की अनुभूति करता हुआ दिखाई पड़ता है; कभी शिव-शक्ति के अद्वय-रूप की कल्पना करता है, तो कभी ब्रह्मानन्द का पान करता हुआ प्रतीत होता है; कभी रवि-शशि की बात करता है, तो कभी वाम-दक्षिण की।

जब कवि आत्मा के स्वरूप का वर्णन करने लगता है तो प्रतीत होता है कि वेदान्त की व्याख्या कर रहा है अथवा उसी भाषा में बोल रहा है। जैसे, आत्मा का वास शरीर में ही है, किन्तु वह शरीर से पूर्णतया भिन्न है। शरीर से उसका कोई सम्बन्ध नहीं। वह 'पद्मपत्रैवाम्भसा' है। आत्मा का कोई वर्ण नहीं, कोई रूप नहीं, कोई आकार नहीं। न वह गोरा है, न श्याम वर्ण का; न स्थूलाकार है, न दुर्बलांग। आत्मा न तरुण है, न वृद्ध; न बालक है और न वीर। आत्मा न वैदिक पण्डित है, न श्वेताम्बर जैन।[3] वह नित्य है, निरंजन है, परमानन्दमय है, ज्ञानमय है तथा वही शिव है।[4]

---

१. 'पुव्वायरिय कमाइं गाहाइं संचिऊण एयत्थ।
सिरिदेवसेण मुणिणा धाराए संवसंततेण ।।४९।।
रइओ दंसणसारो हारो भव्वाण णवसए णवए।
सिरि पासणाहगेहे सुविसुद्धे महासुद्धदसमीए ।।५०।।

२. देखिए—श्री चन्द्रधर शर्मा गुलेरी—पुरानी हिन्दी, पृ० १३७।

३. ण वि गोरउ ण वि सामलउ ण वि तुहुँ एक्कु वि वण्णु।
ण वि तणु अंगउ थूलु, ण वि एहउ जाणि सवण्णु ।।३०।।
तरुणउ बूढउ बालु हउं सूरउ पंडिउ दिव्वु।
खवणउ वंदउ सेवउ एहउ चिंति म सव्वु ।।३२।।

४. वण्णविहूणउ णाणमउ जो भावइ सब्भाउ।
सन्तु णिरंजणु सो जि सिउ तहिं किज्जइ अणुराउ ।।३८।।

जब आत्मा शरीर से भिन्न है तो शरीर-दुःख को आत्मा का दुःख नहीं मानना चाहिए, शरीर-सुख को आत्मसुख नहीं जानना चाहिए। इस ज्ञान के उत्पन्न होने पर शरीर के प्रति अनुराग भी नहीं रह जाता और तब साधक समझ लेता है कि शरीर प्रसाधन व्यर्थ हैं, उसका सजाना सँवारना निरर्थक है, उबटन, तेल सुमिष्ट आहार आदि का कोई फल नहीं। यह सब दुर्जन के प्रति किए गए उपकार के समान है :—

उव्वलि चोप्पडि चिट्ठ करि देहि सुमिट्ठाहार।
सयल वि देह णिरत्थ गय जिण दुज्जण उवयार ॥१८॥

आत्मस्वरूप को जानने के लिए किसी बाह्याचार की आवश्यकता नहीं। देवालय में पूजा से अथवा तीर्थ भ्रमण से इस सत्य की अनुभूति नहीं हो सकती। मन को निर्विकार बनाना ही परम साधन है।[1]

नग्न होकर घूमने से, दिगम्बर बन जाने मात्र से भी कोई परमात्मा को नहीं जान पाता। और भोगासक्त द्रव्यलिंगी मुनि तो उस सर्प के समान है; जिसने कंचुली को छोड़ दिया, किन्तु विष का त्याग नहीं किया।[2] आत्मा का वास तो शरीर में ही है, निर्मल चित्त व्यक्ति उसका अपने में ही दर्शन करते हैं। यदि चित्तरूपी दर्पण मलिन है, विकार युक्त है तो उसका दर्शन असम्भव है। इसलिए सिर मुँड़ाने की अपेक्षा चित्त का मुँड़ाना अधिक श्रेयस्कर है।[3] पुस्तकीय ज्ञान से भी परमात्मा की प्राप्ति नहीं हो सकती। षड्दर्शन के वाक्जाल में पड़ना व्यर्थ है, उससे केवल तर्कणा शक्ति बढ़ सकती है। सच्चा ज्ञान (ब्रह्मज्ञान) नहीं प्राप्त हो सकता। मन की भ्रान्ति नहीं मिटती। यदि कोई व्यक्ति शास्त्र ज्ञान से ही अपने को पण्डित मान लेता है तो वह परमार्थ को नहीं जानता, वह कण को छोड़कर तुष कूटनेवाले के समान है, अतएव मूर्ख है।[4]

सम्यक् ज्ञान की प्राप्ति के लिए, आत्मस्वरूप की जानकारी के लिए गुरू की कृपा की नितान्त अपेक्षा है—'बिनु गुरू होइ कि ज्ञान।' जब तक गुरू की कृपा का प्रसाद नहीं प्राप्त हो जाता, तब तक व्यक्ति अज्ञान में फँसा रहता है और तभी तक कुतीर्थों में भ्रमण करता रहता है।[5] इसीलिए स्व और

---

१. 'तित्थइं तित्थ भमेहि वढ़ धोयउ चम्मु जलेण।
एहु मणु किम धोएसि तुहुँ मइलउ पावमलेण ॥१६३॥

२. सप्पि मुक्की कंचुलिय जं विसु तं ण मुएइ।
भोयह भाउ ण परिहरइ लिंगग्गहणु करेइ ॥१५।

३. मुंडिय मुंडिय मुंडिया। सिरु मुंडिउ चित्तु ण मुडिया।
चित्तह मुंडणु जि कियउ। संसारहं खंडणु ति कियउ ॥१३५॥

४. छहदंसणधंधइ पडिय मणहं ण फिट्टिय भंति।
एक्कु देउ छह भेउ किउ तेण ण मोक्खहं जंति ॥११६॥
पंडिय पंडिय पंडिया कणु छंडिवि तुस कंडिया।
अत्थे गंथे तुट्ठो सि परमत्थु ण जाणहि मूढोसि ॥८५॥

५. ताम कुतित्थइं परिभमइ, धुत्तिम ताम करंति।
गुरुहुँ पसाएँ जाम ण वि देहहं देउ मुणंति ॥८०॥

पर का भेद दर्शन कराने वाले गुरू की कवि प्रारम्भ में ही इस प्रकार वन्दना करता है :—

'गुरु दिणयरु गुरु हिमकरणु गुरु दविउ गुरु देउ।
अप्पापरहं परंपरहं जो दरिसावइ भेउ ॥१॥

शैव और शाक्त साधना के अनुसार शिव और शक्ति के विषमी भाव से ही यह सृष्टि प्रपंच है। संसार का यह द्वन्द्व तभी तक है, जब तक शिव-शक्ति का मिलन नहीं हो जाता। यह विश्व विषमता की पीड़ा से ही स्पन्दित हो रहा है। सुख दुःख का भी यही मूल कारण है। शिव-शक्ति का यह व्यापार ही विश्व की गति का कारण है। शिव-शक्ति अभिन्न तत्व है, यह जान लेने से सम्पूर्ण संसार का ज्ञान हो जाता है और मोह विलीन हो जाता है। मुनि रामसिंह कहते हैं :—

सिव विंणु सत्ति ण वावरइ सिउ पुणु सत्ति विहीणु।
दोहि मि जाणहि सयलु जगु बुज्झइ मोहविलीणु ॥५५॥

जब शिव-शक्ति का मिलन हो जाता है, तब समस्त द्वैत भाव तिरोहित हो जाते हैं। पूर्णता की स्थिति आती है। इसी को सामरस्य भाव कहा गया है। व्यष्टि का समष्टि में, जीवात्मा का परमात्मा में मिल जाना, एकमेक हो जाना ही सामरस्य है। जब मन परमेश्वर से मिल जाता है, कोई अन्तर ही नहीं रह जाता तो किसी बाह्याचार की आवश्यकता ही नहीं रह जाती। जब दोनों एक हो गए तो किसकी पूजा की जाय ?

मणु मिलियउ परमेसर हो, परमेसरु जि मणस्स।
बिण्णि वि समरसि हुइ रहिय पुज्जु चडावउ कस्स ॥४६॥

शरीरजन्य सुख-दुःखों का तभी तक आभास होता है, जब तक यह सामरस्य भाव नहीं आता :—

देहमहेलो एह बढ़ तउ सत्तावइ ताम।
चित्तु णिरंजणु परिणु सिंहु समरसि होइ ण जाम ॥६४॥

इस सामरस्य अवस्था की प्राप्ति ही प्रत्येक साधक का चरम लक्ष्य है। इस अवस्था में पिंड और ब्रह्माण्ड का भेद नहीं रह जाता है, द्वैत भाव मिट जाता है और साधक स्वसंवेद्य रस का अनुभव करने लगता है, जिसकी समता विश्व का कोई भी आनन्द नहीं कर सकता। इस अवस्था में मन के संकल्प-विकल्प समाप्त हो जाते हैं, बुद्धि के तर्क-वितर्क शांत हो जाते हैं। इसीलिए मुनि रामसिंह ऐसा उपदेश सुनने की कामना प्रकट करते हैं जिससे बुद्धि तड़ से टूट जाय और मन भी अस्त हो जाय[1] :—

'तुट्टइ बुद्धि तडत्ति जहिं मणु अंथवणहं जाइ।
सो सामिय उवएसु कहि अण्णहिं देवहिं काइं ॥

---

१. तुलनीय 'यत्र बुद्धिर्मनोनास्ति सत्ता संवित् पराकला।
ऊहापोहौ न तर्कश्च वाचा तत्र करोति किम्। (जटराधर संहिता)

इस प्रकार मुनि रामसिंह का महत्व एक सच्चे रहस्यवादी साधक के रूप में निर्विवाद रूप से स्पष्ट है। आप मध्यकाल के उच्चकोटि के साधकों में प्रमुख स्थान रखते हैं। आपके विचार बहुत कुछ सीमा तक समकालीन सिद्धों और नाथों से मिलते हैं।

(५) आनन्दतिलक या महानन्द

मुझे 'आणंदा नामक एक छोटी रहस्यवादी रचना 'आमेर शास्त्र भांडार' (जयपुर) में प्राप्त हुई है। इसकी एक अन्य प्रति बीकानेर में श्री अगरचन्द नाहटा के पास सुरक्षित है। जयपुर की प्रति में ४४ छन्द हैं, १८ नं० का छन्द नहीं है। नाहटा जी की प्रति में ४२ छन्द हैं। दोनों प्रतियों में कुछ पाठ भेद भी है। इस सम्बन्ध में दो लेख 'वीर वाणी' पत्रिका में निकल चुके हैं एक है श्री कासलीवालजी का और दूसरा है श्री नाहटाजी का। श्री कामता प्रसाद जैन ने भी अपने इतिहास में इस रचना का संक्षिप्त विवरण दिया है।

नामकरण :

रचना के नामकरण, रचनाकाल और रचनाकार आदि के सम्बन्ध में तीनों में मतभेद है। कासलीवालजी के मत से "रचना का नाम है—आणंदा। रचना का नामकरण उसके कवि के नाम पर हुआ है। कबीर, मीरा, सूरदास आदि कवियों के समान कवि ने अपने नाम को प्रत्येक छन्द के अन्त में दे दिया है। इस रचना के पढ़ने से आत्मीय आनन्द का अनुभव होता है। शायद इसलिए भी उसका नाम 'आणंदा' रखा गया हो।"[1]

श्री नाहटा जी की प्रति में रचना का नामोल्लेख नहीं है। उनके विचार से इसका नाम 'आणंदा' है भी नहीं। उनका कहना है कि 'जहाँ तक रचना के नामकरण का प्रश्न है, इसमें आनेवाले 'आणंदा' शब्द के पुनः पुनः आने के कारण ही किसी लेखक ने यह नाम लिख दिया है। कर्ता के नाम के साथ इसका सम्बन्ध नहीं है, न रचयिता ने इसका यह नाम रखा ही होगा'।[2]

रचना का नाम 'आणंदा' क्यों नहीं है? इसका नाहटा जी ने कोई कारण नहीं बताया है और न रचना का अन्य 'नामकरण' ही किया है। इसी प्रकार श्री कामता प्रसाद जैन ने बिना किसी प्रकार का विचार किए हुए केवल इतना लिखा है कि 'मुनि महानन्दिदेव ने 'आनन्दतिलक' नामक रचना साधुओं और मुमुक्षुओं को सम्बोधन के लिए आध्यात्मिक सुभाषित नीति रूप में गोपाल साहू के लिए रची थी।[3] रचना का नाम 'आनन्दतिलक' कैसे है? और गोपाल साह

---

१. वीर वाणी (अंक १४, १५) पत्र १६७, १६८।
२. वीर वाणी (वर्ष ३, अंक २१) पत्र २८१, २८२।
३. कामता प्रसाद जैन—हिन्दी जैन साहित्य का संक्षिप्त इतिहास, पृ० ८६।

कौन थे ? इसका विवरण नहीं दिया है। प्रति में भी 'गोपाल साह' का नाम कहीं नहीं आया है।

रचनाकार :

रचना के कर्ता के साथ ही साथ उसके नाम का प्रश्न सुलझ जाता है। श्री नाहटा जी ने रचयिता का नाम 'महाणंददेउ' बताया है और प्रमाण में निम्न-लिखित छन्दों को उद्धृत् किया है :—

'आरम्भ—चिदाणंद साणंद जिणु समल सरीर हसो (इ)
महाणंदि सो पूजायइ, आणंदा गगन मंडल थिर होइ।
आणंदा ॥१॥

अन्त—'महाणदि इ इ वालियउ,
आणंदा जिणि दरसाविउ भेउ ॥आणंदा ॥४१॥
....
.... महाणंदि देउ।
आणंदा ॥
जणिउ भणइ महाणंदि देउ।
जाणिउ णाणहं भेउ।
आणंदा।
करिसि...
..........................॥४२॥ समाप्तः

उक्त उद्धरण में 'महाणंदि' शब्द चार बार आया है। नाहटा जी ने इसी आधार पर कर्ता का नाम 'महाणंदि देव' बताया है। एक अन्य छन्द में स्पष्ट रूप से कवि ने अपना नाम 'आनन्दतिलक' बताते हुए कहा है कि उसने इस रचना को 'हिंदोला छन्द' में पूर्ण किया :—

हिन्दोला[1] छंदि गाइयइं आणंदि तिलकु जिणाउ।
महाणंदि दश्रालियउ, आणंदा अवहउ सिवपुरि जाउ ॥४२॥

लेकिन रचना के अन्तिम छन्द में 'भणइ महाआणंदि' भी आया है।

'दसद गुरू चारणि जउ हउ भणइ महाआणंदि।
... ॥४ ॥

अतएव ऐसा प्रतीत होता है कि रचनाकार अपने नाम का प्रयोग दो प्रकार से करता था अथवा उसके दो नाम थे—'आनन्दतिलक' और 'महानन्द देव।' बहुत सम्भव है उसने अपने नाम के ही अनुरूप रचना का नाम 'आणंदा' रखा हो और इसीलिए इस शब्द को प्रत्येक छन्द में जोड़ दिया हो।

रचना काल और विषय :

इस ग्रन्थ की रचना कब हुई ? यह भी अज्ञात है और विद्वानों के अनुमान का विषय बन गई है। श्री कासलीवाल जी के अनुसार 'रचना अवश्य बारहवीं

---

१. आमेर शास्त्र भाण्डार (जयपुर) की हस्तलिखित प्रति से।

शताब्दी के आस-पास की है। श्री नाहटा जी का अनुमान है कि 'यद्यपि यह अपभ्रंश के बहुत निकट-की लगती है, पर शब्द प्रयोग परवर्ती लोक भाषा के यत्र-तत्र पाये जाते हैं। उसे देखते हुए इसका रचनाकाल भी १२ वीं से बाद का १३वीं या १४वीं का होना सम्भव है।'[१,२]

'आणंदा' की भाषा के ही आधार पर दोनों विद्वानों ने काल निर्धारण की चेष्टा की है। इसकी भाषा 'अपभ्रंश' है, इतना तो निर्विवाद रूप से स्पष्ट है। प्रश्न केवल इतना ही है कि यह किस शताब्दी की भाषा है? अपभ्रंश का समय प्रायः छठी शताब्दी से १२वीं शताब्दी माना जाता है। छठी शताब्दी संक्रान्ति का युग था, जब भाषा प्राकृत के क्रोड़ का परित्याग कर देश भाषा का रूप धारण कर रही थी। कारक रूपों और क्रिया रूपों में सरलीकरण की प्रवृत्ति आ रही थी। धातु रूप कम हो रहे थे। इस भाषा में साहित्यिक रचनाएँ भी इसी के आस-पास आरम्भ हो गई होंगी। लेकिन इन रचनाओं में प्राकृत रूप अधिक मात्रा में विद्यमान रहता होगा। सातवीं-आठवीं शती की भाषा और अधिक सरल हो गई होगी। बौद्ध सिद्धों की रचनाएँ इसी समय प्रारम्भ हुई होंगी।

'आणंदा' भाषा और भाव दोनों दृष्टियों से 'परमात्म प्रकाश', 'योगसार', और 'दोहापाहुड़' से अद्भुत साम्य रखता है। एक ही प्रकार के विचार, एक ही प्रकार की भाषा में इन ग्रन्थों में गूँथे गए हैं। आणंदा का कवि कहता है कि परमात्मा—हरि, हर, ब्रह्मा आदि नहीं है तथा वह मन, बुद्धि से लखा भी नहीं जा सकता। शरीर के मध्य उसका आवास है, गुरु के प्रसाद से उसकी प्राप्ति हो सकती है :—

'हरि हर बंभु वि सिव णही, मणु बुद्धि लक्खिउण जाई।
मध्य सरीरहे सो वसइ, आणंदा लीजहिं गुरुहि पसाई ॥१८॥

योगीन्दु मुनि ठीक इसी शब्दावली में कहते है कि परमात्मा का वास शरीर में है तथापि उसको आज भी हरि हर तक नहीं जानते। परम समाधि के तप से उसकी प्राप्ति हो सकती है :—

देहि वसंतु वि हरि हर वि जं अज्ज वि ण मुणंति।
परम समाहि तवेण विणु सो परमप्पु भणंति ॥४२॥

(परमात्मप्रकाश, प्र० महा०, पृ० ४६)

इसी प्रकार परमात्मा के स्वरूप पर प्रकाश डालते हुए आनन्दतिलक कहते हैं कि वह स्पर्शहीन है, रसहीन है, गन्धहीन है, रूपहीन है। उस निर्गुण, निराकार ब्रह्म का दर्शन सद्गुरु की कृपा से होता है :—

फरस रस गंध वाहिरउ, रूव बिहूणउ सोई।
जीव सरीरहं विणु करि आणंदा सद्गुरू जाणई सोई ॥१६॥

---

१. वीर वाणी (वर्ष ३, अंक १४, १५) पृ० १६७।
२. वीर वाणी (अंक २१) पृ० २८१।

'परमात्म प्रकाश' में ठीक इसी प्रकार से 'निरंजन' के स्वरूप का वर्णन मिलता है। श्री योगीन्दु मुनि कहते हैं कि जिसके कोई वर्ण नहीं, गंध नहीं, रस नहीं, शब्द नहीं, स्पर्श नहीं, जिसका जन्म मरण नहीं होता है, उसी का नाम निरंजन है :—

'जासु ण वण्णु ण गंध रसु, जासु ण सद्द ण फासु।
जासु ण जम्मणु मरणु ण वि णाउ णिरंजणु तासु ॥१६॥
(परम०, प्र० महा०, पृ० २७)

आनन्दतिलक वाह्याचार का विरोध करते हुए कहते हैं कि व्रत, तप, संयम, शील आदि आचार निरर्थक हैं। परम तत्व के ज्ञान के विना मनुष्य, वाह्याडम्बर करता हुआ भी संसार में चक्कर लगाया करता है :—

'वउ तउ संजमु सीलु गुण सहय महव्वय भारु।
एकण जाणई परम कुल, आणंदा, भमीयइ बहु संसारु ॥८॥

'योगसार' नामक दूसरे ग्रन्थ में योगीन्दु मुनि ने इन्हीं शब्दों में वाह्याचार की व्यर्थता पर अपना मत व्यक्त किया है। उनका कहना है कि व्रत, तप, संयम, आदि से व्यक्ति को मोक्ष नहीं मिल सकता, जब तक कि एक परम शुद्ध पवित्र भाव का ज्ञान नहीं होता : —

'वय तव संजम मूल गुण मूढहं मोक्ख ण वुत्तु ।
जाव ण जाणइ इक्क पर सुद्धउ भाउ पवित्तु ॥२९॥
(योगसार, पृ० ३७७)

मध्यकाल के प्रत्येक संत ने चित्त शुद्धि पर जोर दिया है। प्रायः प्रत्येक साधक ने स्पष्ट शब्दों में यह कहा है कि जब तक मन मैला रहता है, चित्त अशुद्ध और विकार युक्त रहता है, तब तक वाह्य शुद्धि से कोई लाभ नहीं होता है। आणंदा का कवि भी कहता है कि "मूर्ख जन स्नान करते हैं, वाह्य शरीर को शुद्ध करने का प्रयत्न करते हैं, किन्तु आभ्यंतर चित्त पापमय रहता है। चित्त का विकार वाह्य स्नान से कैसे दूर हो सकता है ?

'भिंतरि भरिउ पाउमलु मूढ़ा करहिं सण्हाणु।
जो मल लाग चित्तमहि, आणंदा किम जाइ सण्हाणि ॥ ॥

यही स्वर मुनि रामसिंह का भी है। 'दोहापाहुड' में अनेक स्थानों पर आपने आन्तरिक शुद्धि पर जोर दिया है। एक दोहे में वे कहते हैं कि जब भीतरी चित्त मैला है, तब बाहर तप करने से क्या ? चित्त में उस निरंजन को धारण कर, जिससे मैल से छुटकारा हो : —

'अब्भिंतरचित्ति वि मइलियइं बाहिरि काइं तवेण।
चित्ति णिरंजणु को वि धरि मुच्चहि जेम मलेण ॥६१॥
(पाहुड दोहा, पृ० १८)

इसी प्रकार से अनेक उद्धरण प्रस्तुत किए जा सकते हैं, जो यह सिद्ध करते हैं कि आनन्दतिलक वही कह रहे हैं, जो योगीन्दु मुनि और मुनि रामसिंह कह चुके हैं। वस्तुतः उपर्युक्त ग्रन्थों के समान ही 'आणंदा' में आत्मा की व्यापकता का वर्णन किया गया है, आत्मा और परमात्मा की अभिन्नता को मान्यता दी

गई है, बाह्याचार का खण्डन किया गया है, गुरू के महत्व को स्वीकार किया गया है और परमसमाधि रूपी सरोवर में स्नान के द्वारा भव-मल नष्ट करके आत्मा को परमानन्द की अनुभूति का उपाय बताया गया है। 'आणंदा' की भाषा भी किस प्रकार 'परमात्मप्रकाश', 'योगसार' और 'दोहापाहुड़' से मिलती है, यह उपर्युक्त दोहों से स्पष्ट है। श्री ए० एन० उपाध्ये ने योगीन्दु मुनि को छठी शताब्दी का कवि माना है। 'आणंदा' को १३ वीं १४ वीं शती की रचना मानने से दोनों में सात-आठ सौ वर्षों का अन्तर पड़ जाता है। यह सम्भव नहीं है कि जन भाषा या देशी भाषा का स्वरूप इस दीर्घ अवधि तक एक ही प्रकार का रहा हो। भाषा बहता नीर है। समय के साथ उसमें परिवर्तन होता रहता है। अतएव मेरा अनुमान है कि इन कवियों के आविर्भाव काल में अधिक शताब्दियों का अन्तर नहीं रहा होगा।

मैंने योगीन्दु मुनि को आठवीं-नवीं शताब्दी का कवि माना है और मुनि रामसिंह को ११ वीं शताब्दी का। मेरा अनुमान है कि 'आनन्दतिलक' इनके अधिक परवर्ती नहीं होंगे। अधिक से अधिक हम उनको १२ वीं शताब्दी तक ले आ सकते है। बहुत सम्भव है कि वे मुनि रामसिंह के समकालीन रहे हों।

(६) लक्ष्मीचन्द्र

आमेर शास्त्र भाण्डार में एक नई कृति 'दोहाणुपेहा' या दोहानुप्रेक्षा प्राप्त हुई है। प्रति में इसके कर्त्ता 'लक्ष्मीचन्द्र' बताए गए हैं। श्री परमानन्द जैन शास्त्री ने अपने लेख 'अपभ्रंश भाषा के अप्रकाशित कुछ ग्रन्थ' में भी दोहानुप्रेक्षा के रचयिता 'लक्ष्मीचन्द्र' का ही उल्लेख किया है।[1] यद्यपि मूल रचना में लक्ष्मीचन्द्र का नाम कहीं पर भी नहीं आया है। कवि ने स्थान-स्थान पर 'जिणवर एम भणेइ' का उल्लेख अवश्य किया है। दो दोहों (दो० नं० ४२ और ४७) में 'णाणी बोल्लहिं साहु' का भी प्रयोग हुआ है। इससे सन्देह होता है कि कहीं इसके कर्त्ता 'साहु' नामक कोई कवि तो नहीं हैं। जैन हितैषी (अंक ५, ६) में प्रकाशित 'दिगम्बर जैन ग्रन्थ कर्ताओं की सूची' में एक लक्ष्मीचन्द्र का नाम आया है। ये अग्रवाल जाति के थे और सं० १०३३ में विद्यमान थे। इनकी एक रचना 'श्रावकाचार' या 'दोहाछन्दोबद्ध' का भी उल्लेख किया गया है।[2] यदि यही लक्ष्मीचन्द्र 'दोहाणुपेहा' के कर्ता हैं तो इनका आविर्भावकाल वि० की ११वीं शताब्दी सिद्ध हो जाता है।

नौकार श्रावकाचार या सावयधम्मदोहा के कर्त्ता के सम्बन्ध में काफी विवाद रहा है। इसकी प्राप्त भिन्न-भिन्न हस्तलिखित प्रतियों में कर्ता के रूप

१. अनेकान्त, वर्ष १२, किरण० ६ (फरवरी, १६५४) पृ० २६६।
२. जैनहितैषी, अंक ५, ६ (वीर नि० सं० २४३६) पृ० ५५।

में तीन व्यक्तियों—जोइन्दु, देवसेन और लक्ष्मीचन्द्र-का नाम मिलता है। श्री ए० एन० उपाध्ये ने परमातम-प्रकाश की भूमिका में इस ग्रन्थ के कर्ता पर विस्तार से विचार करके लक्ष्मीचन्द्र को इसका रचयिता सिद्ध किया है।[1] लेकिन डा० हीरालाल जैन ने देवसेन को 'सावयधम्मदोहा' का कर्ता स्वीकार किया है और इस ग्रन्थ का सम्पादन करके कारंजा जैन सिरोज (बरार) से प्रकाशित किया है। 'दोहाणुवेहा' के प्रकाश में आने से इतना तो स्पष्ट ही हो गया है कि दसवीं-ग्यारहीं शती में लक्ष्मीचन्द्र नामक एक कवि विद्यमान अवश्य थे, श्रावकाचार की रचना उन्होंने की हो या न की हो।

'दोहाणुपेहा' में ४७ दोहा छन्द हैं। आरम्भ में 'सिद्धों' की वन्दना है। इसके पश्चात् आस्रव, सँवर, निर्जरा आदि का वर्णन है। मिथ्यात्व ही आस्रव है। आस्रव का निरोध ही 'सँवर' है। यह संवर ही 'निर्जरा' का और अनुक्रम से मोक्ष का कारण है। जब आत्मा स्वयं या गुरु उपदेश से आत्मा अनात्मा का अन्तर समझ लेता है तो सम्यक् ज्ञान की स्थिति आती है। कवि कहता है कि 'संवर' की स्थिति में व्यक्ति आत्मा अनात्मा को जान लेता है और उसमें स्व-पर-विवेक-शक्ति उत्पन्न हो जाती है। पुनः वह परभाव का परित्याग करके 'सहजानन्द' का अनुभव करने लगता है, यही 'निर्जरा' की अवस्था है :—

'जो परियाइणं अप्प परु, जो परभाउ चएइ।
सो संवर जाणेवि तुहुँ, जिणवर एम भणेइ ॥१६॥
सहजाणंद परिट्ठियउं, जो परभाव ण विंति।
ते सुहु असुहु, वि णिज्जरहिं, जिणवर एम भणंति ॥२१॥

मोक्ष के लिए अथवा परमात्मा की प्राप्ति के लिए मन्दिर, तीर्थाटन, भ्रमण आदि की आवश्यकता नहीं। परमात्मा का आवास तो देहरूपी देवालय में ही है। अतएव राग-द्वेष आदि का परित्याग कर, आत्मा का आत्मा से स्मरण करना चाहिए। यही सिव-सिद्धि का एक मात्र उपाय है :-

'सोहं सोहं जि हउं, पुणु पुणु अप्पु मुणेइ।
मोक्खहं कारणि जोइण, अण्णु म सो चिंतेइ ॥३५॥
हत्थ[2] अहुट्ठ जु देवलि, तहि सिव संतु मुणेइ।
मूढ़ा देवलि देव णवि, भुल्लउं काई भमेइ ॥३८॥

राग-द्वेष से मुक्त होकर और मन, वाणी, काया से शुद्ध होकर जो आत्मा का ध्यान करते हैं, उनको निश्चय ही सिद्धि प्राप्त होती है और वे 'सहजावस्था' को प्राप्त होते हैं :—

---

१. "So, in conclusion, I have to say that the author of this Sravakacara, in the light of available material and on the authority of Srutsagara's statement is Acharya Laksmichandra" (Introduction of P. Prakasa, Page 61)

२. तुलनीय—हत्थ अहुट्ठइं देवली, वालहं णा हि पवेसु।
संतु णिरंजणु तहिं वसइ, णिम्मलु होइ गवेसु ॥९४॥
(मुनि रामसिंह—पाहुड़ दोहा, पृ० २८)

'पुणु पुणु अप्पा झाइवइ, मण वय काय ति सुद्धि ।
राग रोस वे परिहरिवि, जइ चाहहि सिव सिद्धि ॥२४॥
राग रोस जो परिहरिवि, अप्पा अप्पइ जोइ ।
जिणसामिउ एमउ भणइं, सहजि उपज्जइ सोइ ॥२५ ।

अन्त में कवि कहता है कि व्रत, तप, नियम आदि का पालन करते हुए भी जो 'आत्मस्वरुप' से अनभिज्ञ हैं, वे मिथ्यादृष्टी हैं और वे कभी निर्वाण को प्राप्त नहीं हो सकते । निर्वाण प्राप्ति के लिए कर्मों का क्षय और आत्मा का परिज्ञान अनिवार्य है :—

वउ तउ णियमु करंतयहं, जो ण मुणइ अप्पाणु ।
सो मिच्छादिट्ठि हवइ, णहु पावहि णिव्वाणु ॥४५॥
जो अप्पा णिम्मलु मुणइ, वय तव सील समग्गु ।
सो कम्मक्खउ फुडु करई, पावइ लहु णिव्वाणु ॥४६॥
ए अणुवेहा जिण भणय, णाणी बोल्लहिं साहु ।
ते ताविज्जहिं जीव तुहुं, जइ चाहहिं सिव लाहु । ४७॥
: इति अणुवेहा :

(७) महयंदिण मुनि

दोहापाहुड़ की नई प्रति :

महयंदिण मुनि का एक काव्य 'दोहा पाहुड़' (बारहखड़ी) प्राप्त हुआ है। इसकी एक हस्तलिखित प्रति श्री कस्तूरचन्द्र कासलीवाल को जयपुर के 'बड़े मंदिर के शास्त्र भाण्डार' से प्राप्त हुई थी, जिसकी सूचना उन्होंने 'अनेकान्त' (वर्ष १२, किरण ५) में दी थी। खोज करने पर इसकी एक दूसरी हस्तलिखित प्रति मुझे 'आमेर शास्त्र भाण्डार' जयपुर से प्राप्त हुई है। कासलीवालजी की प्रति में ३३५ दोहे हैं। लिपिकाल पौष सुदी १२ वृहस्पतिवार सं० १५९१ है। उसकी प्रतिलिपि श्री चाहड सौगाणी ने कर्म क्षय निमित्त की थी।[1] मुझे प्राप्त प्रति में भी दोहों की संख्या ३३५ ही है। इसका आरम्भ एक श्लोक द्वारा जिनेश्वर की वंदना से हुआ है। श्लोक इस प्रकार है :—

जयत्यशेषतत्वार्थप्रकाशिप्रथितश्रियः ।
मोहध्वांतौघनिर्भेदि ज्ञान ज्योति जिनेशिनः ॥१॥

अन्त में लिखा है कि इस प्रति को संवत् १६०२ में वैशाख सुदि तिथि दशमी रविवार को उत्तर फाल्गुन नक्षत्र में राजाधिराज शाह आलम के राज्य में चंपावती नगरी के श्री पार्श्वनाथ चैत्यालय में भट्टारक श्री कुन्दकुन्दाचार्य के पट्ट भट्टारक श्री [illegible] देव के पट्ट भट्टारक शुभचन्द्र देव के पट्ट भट्टारक श्री प्रभाचन्द्र के शिष्य मंडलाचार्य श्री धर्मचन्द्र देव ने लिपिबद्ध किया :—

---

१. दे०, अनेकान्त (वर्ष १२, किरण ५) अक्टूबर १९५२, पृष्ठ १५६–५७ ।

'संवत १६०२ वर्षे वैसाख सुदि १० तिथौ रविवासरे नक्षत्र उत्तर फाल्गुने नक्षत्रे राजाधिराज साहि आलमराजे। नगर चंपावती मध्ये। श्री पार्श्वनाथ चैत्यालए ।। श्री मूलसिंघे नद्याम्नायेवलाकार गणे सरस्वती गछे भट्टारक श्री कुन्द कुन्दाचार्यान्वये। भट्टारक श्री पद्मनन्दीदेवातत्पट्टे भट्टारक श्री सुभचन्द्र देवा तत्पट्टे भट्टारक श्री जिनचन्द्र देवा तत्पट्टे भट्टारक श्री प्रभाचन्द्र देवा तत् सिष्य मंडलाचार्य श्री धर्मचन्द्र देवा। [illegible] सास्त्र-कल्याण व्रतं निमित्तो अर्जिका विनय श्री सजोम्बू दत्तं। ज्ञानवान्यादानेन। निर्भयो। अभइट्ठानतः अंवदानात सुधीनित्यं निव्वाधीभिपजाद्भवेत् ।।छ।।

छन्द संख्या और रचनाकाल :

कवि ने एक दोहे में ग्रन्थ का रचनाकाल और छन्दों की संख्या इस प्रकार दिया है :—

'तेतीसह छह छडिया विरचिन सत्तावीस।
वारह गुणिया तिण्णिसय हुअ दोहा चउवीस ।।३।।

अर्थात् १७२० में विरचित ३३६ (तैंतीस के साथ छः) छन्दों को यदि १२×३० (तिण्णिसय = त्रिशतः = ३६०) में छोड़ दिया जाय या निकाल दिया जाय, तो २४ दोहे शेष रह जाएँगे अर्थात् ३६० में जिस संख्या को निकाल देने से २४ संख्या शेष रह जाती है, कवि ने उतने ही छन्दों में यह काव्य लिखा। यह संख्या ३३६ होती है। 'दोहापाहुड' की प्राप्त हस्तलिखित प्रतियों में छन्द संख्या ३३५ ही है, जिनमें दो श्लोक और शेष ३३३ दोहा छन्द हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि लिपिकारों के द्वारा एक दोहा भूल से छोड़ दिया गया है। मुझे प्राप्त प्रति में तो दूसरा श्लोक भी अधूरा है। 'नमोस्त्वनन्ताय जिनेश्वरराय' के बाद दोहा संख्या ३ प्रारम्भ हो गया है। दोहापाहुड़ के एक अन्य दोहे से भी ज्ञात होता है कि दोहों की संख्या ३३४ है। दोहे का अंश इस प्रकार है :—

'चउतीस गल्ल तिण्णि सय विरचित दोहावेल्लि ।।४।।'

अर्थात् ३३४ दोहों की रचना की। इनमें दो श्लोक मिला देने से कुल छन्द संख्या ३३६ हो जाती है।

कवि ने रचना काल १७२० दिया है। यह विक्रम सम्वत् नहीं हो सकता, क्योंकि वि० सं० १५९१ और १६०२ की तो इसकी हस्तलिखित प्रतियाँ ही उपलब्ध हैं। अतएव यह वीर निर्वाण सम्वत् प्रतीत होता है। कवि ने वीर निर्वाण सम्वत् १७२० अर्थात् विक्रम सम्वत् १२५० में यह काव्य लिखा। काव्य की भाषा भी १३वीं शती की ही प्रतीत होती है। १८वीं शताब्दी में इस प्रकार के अपभ्रंश के प्रचलन का कोई प्रमाण नहीं मिलता। उस समय तो जैन कवि भी हिन्दी में काव्य रचना कर रहे थे।

ग्रंथकर्ता का परिचय :

ग्रंथ के अनेक दोहों में कर्ता के रूप में 'महयंदिण' मुनि का नाम आया है। लेकिन इनका कोई विशेष परिचय नहीं प्राप्त होता। उन्होंने इतना ही

लिखा है कि सांसारिक दुःख के निवारण के लिए वीरचन्द के शिष्य ने दोहा छन्द में यह काव्य लिखा :—

'भव दुक्खह निव्विणएण, वीरचन्दसिस्सेण।
भवियह पडिवोहण कया, दोहाकव्व मिसेण ॥४॥

इसके अतिरिक्त केवल इतना ही ज्ञात होता है कि वे विक्रम को १३वीं शती में विद्यमान थे।

काव्य रूप, नामकरण तथा ग्रंथ का विषय :

काव्य का नाम 'दोहापाहुड' है और वह 'बारहखड़ी' पद्धति पर लिखा गया है। कवि ने 'बारह खड़ी' या 'बारह अक्खर' का उल्लेख दो दोहों में किया है। प्रारम्भ में जिनेश्वर की वंदना के बाद वह कहता है :—

'बारह विउणा जिण णवमि, किय बारह अक्खरक्क ॥ ॥

इसी प्रकार ३३३वें दोहे में लिखा है :—

'किय बारक्खम कक्क, सलक्खण दोहाहिं।'

मध्यकाल में अनेक काव्य रूप जैसे शतक, बावनी, बत्तीसी, छत्तीसी, पचीसी, चौबीसी, अष्टोत्तरी आदि प्रचलित थे। उनमें एक 'बारहखड़ी' भी था। 'बारहखड़ी' को बावनी' का विकसित काव्य रूप माना जा सकता है। ककहरा और अखरावट भी इसी प्रकार का एक काव्य रूप होता है। बावनी काव्य की रचना नागरी वर्णमाला के आधार पर होती है। हिन्दी में स्वर और व्यंजन मिलाकर ५२ अक्षर होते हैं। इन बावन अक्षरों को नाद स्वरुप ब्रह्म की स्थिति का अंश मानकर इन्हें पवित्र अक्षर के रुप में प्रत्येक छन्द के आरम्भ में प्रयुक्त किया जाता है। हिन्दी में इस प्रकार के लिखे गए बावनी काव्यों की संख्या बहुत अधिक है। केवल अभय जैन ग्रंथालय, बीकानेर में ही लगभग २५–३० बावनी काव्यों की हस्तलिखित प्रतियाँ सुरक्षित हैं।

बारहखड़ी काव्य में प्रत्येक व्यंजन के सभी स्वर रूपों के आधार पर एक-एक छंद की रचना होती है। इस प्रकार एक ही व्यंजन के दस या ग्यारह रूप (जैसे क, का, कि, की, कु, कू, के, कै, को, कौ, कं आदि) बन जाते हैं। महयंदिण मुनि ने इसी पद्धति का प्रयोग किया है। इसीलिए उनके काव्य में दोहों की संख्या ३३४ या ३३५ हो गई। महयंदिण मुनि के अतिरिक्त और कवियों ने भी इस काव्य रूप को अपनाया। सं० १७६० में हिन्दी में कवि दत्त ने एक 'बारहखड़ी' की रचना की थी।[1] लेकिन इसमें ७६ पद्य ही है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने अपने इतिहास में किशोरी शरण लिखित 'बारहखड़ी' का उल्लेख किया है।[2] इसका रचनाकाल सं० १७९७ है। सं० १८५३ में चेतन

१. अगरचन्द नाहटा – राजस्थान में हिन्दी के हस्तलिखित ग्रंथों की खोज, (चतुर्थ भाग) पृ० ६६।

२. हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० ३४५।

नामक कवि ने ४३६ पदों में 'अध्यात्म बारहखड़ी' की रचना की थी और उसी समय की सूरत कवि द्वारा लिखी एक 'जैन बारहखड़ी भी मिलती है।[1]

महयंदिण मुनि ने अंत में ग्रंथ के महत्व और उसके पढ़ने का फल बताने के बाद, यह कहा है कि 'दोहापाहुड' समाप्त: :—

'जो पढ़इ पढ़ावइ संभलइ, देविणुदविलिहावइ।
महयंदु भणइ सो नित्तुलउ, अक्खइ सोक्ख परावइ ॥३३४॥

॥ इति दोहापाहुडं समाप्तं ॥

इससे स्पष्ट है कि ग्रन्थ का नाम 'दोहापाहुड' है और बारहखड़ी' उसका काव्य रूप है।

विषय :

मुनि रामसिंह के दोहापाहुड़ के ही समान इस ग्रन्थ का विषय भी अध्यात्मवाद है। लेकिन जिस ढंग से मुनि रामसिंह ने आत्मा परमात्मा के मधुर सम्बन्ध का वर्णन किया है अथवा बाह्याचार और पाखंड का उपहास किया है अथवा शिव-शक्ति के मिलन या समरसता की दशा का उल्लेख किया है, वह शैली महयंदिण मुनि में नहीं पाई जाती। इसके अतिरिक्त 'बारहखड़ी' का कवि जैन धर्म की मान्यताओं से अधिक दबा हुआ प्रतीत होता है। अनेक दोहों में तो उसने सामान्य ढंग से केवल जिनेश्वर की वन्दना या अहिंसा का उपदेश मात्र दिया है। लेकिन पूरे ग्रन्थ के अध्ययन से यह भी स्पष्ट होता है कि कवि पर मुनि रामसिंह की रहस्यवादी भावना का प्रभाव है। उसने भी अन्य रहस्यवादी कवियों के समान ब्रह्म की स्थिति घट में स्वीकार की है, गुरु को विशेष महत्व दिया है, माया के त्याग पर बल दिया है, बाह्याचार की अपेक्षा चित्त शुद्धि और इन्द्रिय नियन्त्रण पर जोर दिया है और पाप पुण्य दोनों को बन्धन का हेतु माना है। उसका कहना है कि जिस प्रकार दूध में घी होता है, तिल में तेल होता है और काठ में अग्नि होती है, उसी प्रकार परमात्मा का वास शरीर में ही है।[2] यह परमात्मा रूप, गन्ध, रस, स्पर्श, शब्द, लिंग और गुण आदि से रहित है। उसका न कोई आकार है, न गुण।[3] गौरवर्ण या कृष्ण वर्ण, दुर्बलता अथवा सबलता तो शरीर के धर्म हैं। आत्मा सभी विकारों से रहित और अशरीरी है।[4] ऐसे ब्रह्म की प्राप्ति किसी बाह्याचार से नहीं हो

---

१. अगरचन्द नाहटा—राजस्थान में हिन्दी के हस्तलिखित ग्रंथों की खोज, (चतुर्थ भाग) पृ० ६५।

२. खीरह मज्झहं जेम घिउ, तिल्लह मंझि जिम तिल्लु।
कट्ठिक वासणु जिम वसइ, तिमि देहहि देहिल्लु। २३।

३. रूप गन्ध रस फंसडा, सद्द लिंग गुण हीणु।
अच्छइसी देहडिय सउ, घिउ जिम खीरह लीणु ॥ २७ ॥

४. गोरउ कालउ दुब्बलउ, बलियउ एउ सरीरु।
अप्पा पुणु कलिमल रहिउ, गुणवन्तउ असरीरु ॥ ४० ॥

सकती। सिर मुड़ाने या केश बढ़ाने से कोई अन्तर नहीं आता। जप, तप, व्रत आदि से उसकी प्राप्ति की कामना अविवेक है।[1] रेचक, पूरक, कुम्भक, इड़ा पिंगला तथा नाद विंदु आदि के चक्कर में न पढ़ कर, अपने अन्तर में स्थित 'सन्त निरंजन' को ही खोजना चाहिए।[2] इस प्रकार आपने भी सहज भाव से परमानन्द प्राप्ति में विश्वास व्यक्त किया है और इसी को सर्वोत्तम साधना स्वीकार किया है।

(८) छीहल

छीहल सोलहवीं शताब्दी के कवि थे। हिन्दी के इतिहास लेखकों ने इनका नाम अवश्य लिया है, किन्तु सभी रचनाओं के उपलब्ध न होने से, इनके साथ न्याय नहीं हो सका। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने 'छीहल' को भक्तिकाल के फुटकल कवियों में गिनाया है। आपने लिखा है कि "ये राजपूताने की ओर के थे। सं० १५७५ में इन्होंने 'पंचसहेली' नाम की एक छोटी सी पुस्तक दोहों में राजस्थानी मिली भाषा में बनाई, जो कविता की दृष्टि से अच्छी नहीं कही जा सकती। इसमें पाँच सखियों की विरह वेदना का वर्णन है। इनकी लिखी एक बावनी भी है, जिसमें ५२ दोहे हैं"।[3] डा० रामकुमार वर्मा ने शुक्ल जी के कथन को ही दुहराया है। अपने इतिहास में 'कृष्ण काव्य' के कवियों के साथ छीहल का परिचय देते हुए आपने लिखा है कि 'इनका कविता काल सम्वत् १५७५ माना जाता है। इनकी 'पंच सहेली' नामक रचना प्रसिद्ध है। भाषा पर राजस्थानी प्रभाव यथेष्ट है, क्योंकि ये स्वयं राजपूताने के निवासी थे। रचना में वियोग शृङ्गार का वर्णन ही प्रधान है"।[4]

इधर राजस्थान के जैन शास्त्र भांडारों के हस्तलिखित ग्रन्थों की सूची तैयार होने से हिन्दी के अनेक अज्ञात कवि प्रकाश में आए हैं और अनेक नई रचनाओं का पता चला है, जो भाषा और साहित्य दोनों दृष्टियों से काफी महत्व की हैं। इस सूची में छीहल की एक अन्य रचना 'आत्म प्रतिबोध जयमाल' का भी उल्लेख किया गया है।[5] डा० शिव प्रसाद सिंह ने अपने शोध प्रबन्ध 'सूर पूर्व ब्रजभाषा और उसका साहित्य' में छीहल पर विस्तार से विचार

१. जप तव वेयहि धारणहिं, कारणु लहण न जाइ।
... ...
॥ ६१ ॥
२. रेचय पूरय कुम्भयहि, इड़ पिंगलहि म जोइ।
नाद विन्द कलवज्जियउ, सन्तु निरंजणु जोइ ॥ २७८ ॥
३. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल—हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० १८२।
४. डा० रामकुमार वर्मा—हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, पृ० ५८८।
५. राजस्थान के जैन शास्त्र भांडारों की ग्रन्थ सूची (भाग २)।

किया है और उन्हें 'रीतिकालीन शृङ्गार चेतना के उद्गम' के रूप में उपस्थित किया है। आपको छीहल की चार रचनाओं—आत्म प्रतिबोध जयमाल, पंच सहेली, छीहल बावनी और पंथी गीत का पता चला है। आपने लिखा है कि पन्थी गीत और आत्म प्रतिबोध जायमाल में कवि का नाम छीहल ही दिया हुआ है, किन्तु पन्थी गीत अत्यन्त साधारण कोटि की रचना है, जिसमें जैन कथाओं के सहारे कुछ उपदेश दिए गए हैं। आत्म प्रतिबोध जयमाल भी नाम से कोई जैन धार्मिक ग्रंथ ही प्रतीत होता है। शेष दो रचनाओं में शृङ्गार और नीति की प्रधानता है।[1] इन रचनाओं के अतिरिक्त उनकी तीन और छोटी रचनाएं 'रे मन गीत', 'उदर गीत' और 'जग सपना गीत' प्राप्त हैं।

छीहल ने सं० १५७५ में 'पंच सहेली' की रचना की थी।[2] इसके नौ वर्ष बाद सं० १५८४ के कार्तिक मास, शुक्ल पक्ष अष्टमी गुरुवार को 'बावनी' की रचना सम्पन्न की। इसके अन्तिम छप्पय में उन्होंने अपना परिचय दिया है, जिससे पता चलता है कि आप अग्रवाल वंश में 'नालिगांव' नामक स्थान में पैदा हुए थे। आपके पिता का नाम 'सिनाथु या शिवनाथ' था :—

चउरासी आगल्ल सइ जु पन्द्रह सम्वच्छर।
सुकुल पक्ख अष्टमी मास कातिक गुरुवासर॥
हिरदय उपनी बुद्धि नाम श्री गुरु को लीन्हो।
सारद तनइ पसाइ कवित सम्पूरण कीन्हो।
नालि गांव सिनाथु सुतनु अगरवाल कुल प्रगट रवि॥
बावनी वसुधा विस्तरी कवि कंकण छीहल कवि।[3]

इसके अधिक आपके सम्बन्ध में कोई विवरण प्राप्त नहीं होता।

'आत्म प्रतिबोध जयमाल' की एक हस्तलिखित प्रति मुझे जयपुर के दिगम्बर जैन मन्दिर बड़ा तेरह पंथियों के शास्त्र भांडार से प्राप्त हुई है। यह प्रति गुटका नं० ३२०, पत्र सं० ३८-३९ पर सुरक्षित है। यह कोई बड़ा ग्रन्थ नहीं है, ३३ छन्दों की छोटी रचना है। रचना के आरम्भ में 'अथ आत्म प्रतिबोध जयमाल लिख्यते।' लिखा हुआ है और अन्त में "इति आत्म संबोधन जयमाल समाप्तः।" दिया हुआ है। दोनों का तात्पर्य एक ही है। इसमें आत्मा का संबोधन या प्रतिबोधन है। इसी गुटके के पत्र ४५ पर 'आत्म संबोधन जयमाल' के दो घत्ते और पाँच चौपाइयाँ और लिपिबद्ध हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि लिपिकार से पहले यह अंश छूट गया था, अतएव बाद में उसे जोड़ दिया।

---

१. डा० शिव प्रसाद सिंह—सूर पूर्व ब्रजभाषा और उसका साहित्य—पृष्ठ १६८।

२. सम्वत पनरह पचुहत्तरइ पूनिम फागुन मास।
पंच सहेली बरनवा, कवि छीहल परगास॥ ६८॥

३. सूर पूर्व ब्रजभाषा और उसका साहित्य, पृ० १६६ से उद्धृत।

छीहल की अन्य रचनाएँ राजस्थायी मिश्रित ब्रजभाषा में हैं, किन्तु 'आत्म प्रतिबोध जयमाल' की भाषा अपभ्रंश है। यद्यपि शब्दरूपों और क्रियापदों में काफी सरलता आ गई है और हम इसको पुरानी हिन्दी, भी कह सकते हैं।

आरम्भ में कवि ने अरहंतों और सिद्धों की वन्दना की है :—

पणविवि अरहंतहं गुरु णिरगंथह,
केवलणाण अणंतगुणी।
सिद्धहं पणवेप्पिणु करम उलेप्पिणु,
सोहं सासय परम मुणी ॥छ॥

इसके पश्चात् 'आत्मा' के स्वरूप पर प्रकाश डाला गया है। आत्मा और परमात्मा की चिन्तना ही इसका प्रतिपाद्य विषय है। कवि पश्चाताप करता है कि वह विषयों में आसक्त रहकर, पुत्र कलत्र के मोह में फँसकर भव-वन में विचरण करता रहा और सत्य को न जान सका, आत्मज्ञान से वंचित ही रहा।

भव बन हिंडंतहं विसयासत्तहं, हा मैं किंपि ण जाणियउं।
लोहावल सत्तइं पुत्त कलत्तइं, मैं वंचिउ अप्पाणउ ॥६॥

पर पदार्थो के सान्निध्य से आत्म स्वरूप ही विस्मृत हो गया। वस्तुतः आत्मा समस्त पौद्‌गलिक पदार्थों से भिन्न है। कैसा है? इस पर कवि कहता है कि 'मैं दर्शन ज्ञान चरित्र हूं, देह प्रामाण्य हूं, मैं परमानन्द में विलास करनेवाला, ज्ञान सरोवर का परमहंस हूं, मैं ही शिव और बुद्ध हूँ, मैं ही चौबीस तीर्थङ्कर, बारह चक्रेश्वर नरेन्द्र, नव प्रतिहार, नव वासुदेव और नवहलधर हूँ :—

हउं दसंण णाण चरित्त सुद्धु।
हउं देह पमाणुवि गुण समिद्धु ॥
हउं परमाणंदु अखण्डु देसु।
हउं णाण सरोवर परमहंसु ॥
हउं रयणत्तय चउविह जिणंदु।
हउं बारह चक्केसर णरिंदु ॥
हउं णव पडिहर णव वासुदेव।
हउं णव हलधर पुणु कामदेव ॥

इस प्रकार इस छोटी रचना में आत्मा का संबोधन है। अंत में पुनः तीर्थङ्करों और अरहंतों की स्तुति की गई है।

(९) बनारसीदास

परिचय :

जैन कवियों में बनारसीदास का स्थान विशिष्ट माना जाता है। आप श्री नाथूराम प्रेमी के मत से १७वीं शताब्दी के और श्री कामता प्रसाद जैन के मत में सम्पूर्ण जैन सम्प्रदाय में सर्वश्रेष्ठ कवि हैं।[1] आप ही प्रथम रचनाकार हैं जिन्होंने 'आत्मचरित' लिख कर जहां एक ओर हिन्दी में नूतन परिपाटी को जन्म दिया, वहाँ दूसरी ओर अपने जीवन और चरित्र को सच्चे रूप में लिपि बद्ध किया। 'अर्धकथानक' में आपके जीवन के ५५ वर्षों का यथार्थ वर्णन मिलता है।

पूर्वज :

'अर्धकथानक' के अनुसार आपके पूर्वज मध्यभारत में रोहतकपुर के पास बिहोली नामक ग्राम के रहने वाले राजपूत थे। वहाँ एक बार एक जैन मुनि का आगमन हुआ। उनके उपदेश और आचरण से मुग्ध होकर सभी राजपूत जैन मतावलम्बी हो गए। नवकार मन्त्र की माला पहन कर श्रीमालकुल की स्थापना की और गोत्र का नाम 'बिहोलिया' रक्खा।[2] इसी वंश में गंगाधर नामक प्रसिद्ध जैनी हुए, जिनके कुल में बनारसी दास का जन्म हुआ।

इनका वंश वृक्ष इस प्रकार है :—

---
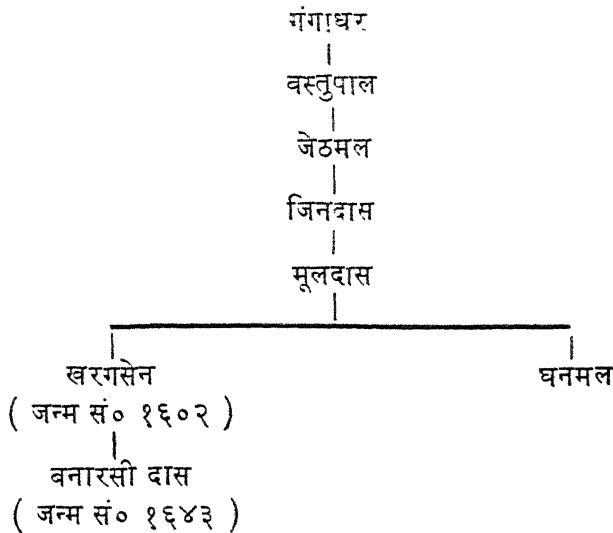
१. श्री कामता प्रसाद जैन—हिन्दी जैन साहित्य का संक्षिप्त इतिहास, पृ० ११२।

२. पहिरी माला मन्त्र की, पायो कुल श्रीमाल।
थाप्यौ गोत बिहौलिया, बीहोली रखपाल ॥ १० ॥

जन्म और बाल्यकाल :

बनारसीदास का जन्म माघ सुदी ११ वि० सं० १६४३ को जौनपुर नगर में हुआ था। आपके पिता खरगसेन ने आपका नाम 'विक्रमाजीत' रखा।[1] किन्तु बाद में एक पुजारी के द्वारा आपका नाम 'बनारसी दास' कर दिया गया। बाल्यकाल में ही आपकी प्रखर बुद्धि के प्रमाण मिलने लगे थे। आठ वर्ष की अवस्था में पांडे रूपचन्द के शिष्य रूप में आपने अध्ययन प्रारम्भ कर दिया[2] और अल्पकाल में ही नाममाला, ज्योतिषशास्त्र, अलंकार शास्त्र तथा अनेक धार्मिक ग्रन्थों का अध्ययन कर लिया।

गार्हस्थ्य जीवन :

बनारसीदास का वैवाहिक जीवन आनन्दमय नहीं रहा। आपका प्रथम विवाह दस वर्ष की ही आयु में हो गया था, किन्तु कुछ वर्षों के बाद ही आपकी पत्नी का देहान्त हो गया। इसके बाद आपके क्रमशः दो विवाह और हुए। इन तीनों पत्नियों से नौ संतानों का जन्म हुआ, किन्तु सभी अल्पायु में ही काल कवलित होती गई। कवि को इस वज्रपात से कितना मानसिक क्लेश हुआ होगा, इसका अनुमान हम 'अर्धकथानक' की दो पंक्तियों से सहज ही लगा सकते है। उसने वैयक्तिक दुःख को मानों संसार की सामान्य विशेषता या क्षणभंगुरता में पर्यवसित करते हुए लिखा है :—

नौ बालक हुए मुए, रहे नारि नर दोय।
ज्यों तरुवर पतझार ह्वै, रहैं ठूठ से दोय ॥६४३॥

(अर्ध०, पृ० ५६)

बनारसीदास का जन्म ऐसे परिवार में हुआ था, व्यापार जिसका पैतृक व्यवसाय था। अतएव आपको भी धनार्जन हेतु दूरस्थ स्थानों को, विशेष रूप से आगरा, जाना पड़ा। किन्तु इस क्षेत्र में विशेष अनुभव न होने के कारण आपको व्यापार में हानि ही हुई और कुछ ही दिनों में मूलधन भी समाप्त हो गया। आगरा में आप अनेक प्रकार के व्यक्तियों के सम्पर्क में आए। इनमें से कुछ तो विषयी, वासना प्रेमी और इन्द्रियलोलुप थे और कुछ विद्वान् अध्यात्म-

---

१. संवत सोलह सो तैताल। माघ मास सित पक्ष रसाल ॥ ८३ ॥
एकादशी बार रविनन्द। नखत रोहिणी बृष को चन्द ॥
रोहिनि त्रितिय चरन अनुसार। खरगसेन घर सुत अवतार ॥ ८४ ॥
दीनो नाम विक्रमाजीत। गावहिं कामिनि मंगल गीत ॥
(अर्धकथानक, पृ० ६)

२. आठ बरस कौ हूऔ बाल। विद्या पढ़न गयौ चटसाल ॥
गुरु पांडे सौ विद्या सिखै। अक्खर बाँचै लेखा लिखै ॥ ८६ ॥
(अर्धकथानक, पृ० १०)

रस के रसिक और ऊंचे विचार वाले थे। आप पर दोनों का प्रभाव पड़ा। प्रथम प्रभाव विषय रसिकों का ही पड़ा और आपने शृंगार रस की कविता लिखना प्रारम्भ कर दिया। कुछ ही दिनों में एक हजार छन्दों का एक विशालकाय ग्रंथ 'नवरस' बना डाला, जिसमें शृंगार की ही प्रधानता थी। कुछ समय पश्चात् जब आप अध्यात्म प्रेमियों के सम्पर्क में आए और आपको आत्मज्ञान हुआ, तो अपनी रचना से बड़ी घृणा हो गई और एक दिन उस ग्रंथ को गोमती नदी में फेंक दिया। यद्यपि इससे हिन्दी काव्य की भारी क्षति हुई तथापि यह घटना बनारसीदास के जीवन में नए मोड़ की सूचना देती है। कवि ने स्वयम् स्वीकार किया है कि उस दिन से उसने "आसिखी फासिखी" का परित्याग कर धर्म का मार्ग पकड़ा :—

पोथी एक बनाई नई। मित हजार दोहा चौपई ॥१७८॥
तामे नव रस रचना लिखी। पै विसेख वरनन आसिखी ॥
ऐसे कुकवि बनारसी भए। मिथ्या ग्रन्थ बनाए नए ॥१७९॥

× × ×

एक दिवस मित्रन्ह के साथ। नौकृत पोथी लीन्ही हाथ ॥२६४॥
नदी गोमती के बिच आय। पुल के ऊपर बैठे जाय ॥
बाँचै सब पोथी के बोल। तब मन में यह उठी कलोल ॥२६५॥
एक झूठ जो बोले कोई। नरक जाइ दुःख देखै सोई ॥
मैं तो कलपित बचन अनेक। कहे झूठ सब सांचु न एक ॥२६६॥
कैसे बनै हमारी बात। भई बुद्धि यह अकसमात ॥
यहु कहि देखन लाग्यो नदी। पोथी डार दई ज्यों रदी ॥२६७॥
हाइ हाइ करि बोले मीत। नदी अथाह महा भयभीत ॥
तामे फैलि गए सब पत्र। फिरि कहु कौन करे एकत्र ॥२६८॥

× × ×

तिस दिन सौ बानारसी, करै धरम की चाह ॥
तजी आसिखी फासिखी, पकरी कुल की राह ॥२७९॥

(अर्धकथानक, पृ० २५–२६)

विद्वानों से सम्पर्क :

अब बनारसीदास विद्वानों और अध्यात्मप्रेमियों के सम्पर्क में आए। उस समय आगरा जैन विद्वानों का केन्द्र था। वस्तुतः १७ वीं १८ वीं शताब्दी में जैन कवियों और आचार्यों द्वारा जैन मत और दर्शन सम्बन्धी जितना कार्य किया गया है, उतना सम्भवतः किसी अन्य शताब्दी में नहीं। इन दो शताब्दियों में केवल आगरा में विद्यमान जैन विद्वानों में बनारसीदास, रूपचन्द, चतुर्भुज, बैरागी, भगवतीदास, धर्मदास, कुँवरपाल, जगजीवन, भैया भगवतीदास, भूधर-दास और द्यानतराय आदि का नाम विशेषतया उल्लेखनीय हैं। इनमें से प्रथम पाँच बनारसीदास के समकालीन और उनके अभिन्न मित्र थे, जिसका उल्लेख बनारसीदास ने अपने 'नाटक समयसार' नामक ग्रन्थ में इस प्रकार किया है :–

नगर आगरा मांहि विख्याता। कारन पाइ भए बहु ज्ञाता ॥
पंच पुरुष अति निपुन प्रवीने। निसिदिन ज्ञान कथा रस भीने ॥१०॥
रूपचन्द पंडित प्रथम, दुतिय चतुर्भुज नाम।
तृतीय भगौतीदास नर, कौंरपाल गुनधाम ॥११॥
धर्मदास ए पंच जन, मिलि बेसैं इक ठौर।
परमारथ चरचा करैं, इन्हके कथा न और ॥१२॥

इनमें से रूपचन्द १७ वीं शताब्दी के प्रसिद्ध रहस्यवादी कवि हुए हैं। कुँवरपाल के सहयोग से बनारसीदास ने सोमप्रभाचार्य कृत 'सूक्तिमुक्तावली' का अनुवाद किया था। भगवतीदास ने टंडाणारास, बनजारा, समाधिरास, मनकरहारास, अनेकार्थनाममाला, लघुसीतासतु, मृगांकलेखाचरित आदि २३ ग्रन्थों की रचना की थी। जगजीवन ने संवत् १७०१ में बनारसीदास की उपलब्ध रचनाओं का 'बनारसी विलास' नाम से संग्रह किया था। भैया भगतीदास, द्यानतराय और भूधरदास १८ वीं शताब्दी के प्रसिद्ध कवि और अनेक ग्रन्थों के रचयिता थे।

कहा जाता है कि बनारसीदास की भेंट प्रसिद्ध सन्त सुन्दरदास और महाकवि गोस्वामी तुलसीदास से भी हुई थी। सन्त सुन्दरदास और बनारसी दास की मित्रता का उल्लेख 'सुन्दर ग्रन्थावली' के सम्पादक श्री हरिनारायण शर्मा ने किया है। दोनों की मैत्री असम्भव नहीं है, क्योंकि सुन्दरदास (सं० १६५३-१७४६) बनारसी दास के समकालीन और अध्यात्म प्रेमी सन्त कवि थे। गोस्वामी जी के विषय में कहा जाता है कि उनसे कवि की कई बार भेंट हुई थी। यह भी कहा जाता है कि 'इनको महाकवि ने रामायण की एक प्रति भेंट की थी। कुछ वर्षों के बाद जब कविवर की गोस्वामी जी से पुनः भेंट हुई, तब तुलसीदास जी ने रामायण के काव्य सौंदर्य के सम्बन्ध में जानना चाहा, जिसके उत्तर में कविवर ने प्रसन्न होकर एक कविता सुनाई थी—'विराजै रामायण घट माँहि···।'[1]

इसी प्रकार एक अन्य विद्वान् ने भी लिखा है कि 'एक बार बनारसी दास के काव्य की प्रशंसा सुन कर तुलसीदास जी उनसे मिलने आगरा आये और उनके साथ कई चेले भी थे। कविवर से मिल कर उनको बड़ा हर्ष हुआ। जाते समय उन्होंने अपनी बनाई रामायण की एक प्रति बनारसी दास को भेंट स्वरूप दी। बनारसी दास ने भी पार्श्वनाथ स्वामी की स्तुति की दो तीन कविताएँ गोस्वामी जी को भेंट स्वरूप प्रदान की। कई वर्ष पश्चात् कविवर की गोस्वामी जी से फिर भेंट हुई। इस बार उन्होंने 'भक्ति विरुदावली' नामक एक सुन्दर कविता कविवर जी को प्रदान की।'[2]

---

१. बनारसी विलास—सं० श्री भँवर लाल जैन, श्री नानूराम स्मारक ग्रन्थमाला, जयपुर, पृ० २८ भूमिका।

२. विद्यारत्न पं० मूल चन्द 'वत्सल'—जैन कवियों का इतिहास, प्रकाशक जैन साहित्यक समिति, जयपुर, पृ० ३५-३६।

किन्तु यह कथन ऐतिहासिक दृष्टि से सत्य नहीं प्रतीत होता। कारण, रामचरितमानस की रचना बनारसीदास के जन्म के पूर्व (सं० १६३३) में ही सम्पन्न हो चुकी थी।[1] और गोस्वामी जी की मृत्यु के समय (सं० १६८०) बनारसी दास की आयु ३७ वर्ष की ही थी। इस प्रकार गोस्वामी जी बनारसी दास की अपेक्षा आयु में काफी बड़े थे। एक वृद्ध पुरुष का, विशेष रूप से गोस्वामी जी का, एक नवयुवक के पास अपनी रचना के काव्य-सौन्दर्य की जानकारी हेतु जाना कुछ अनुपयुक्त सा लगता है। इस प्रकार की घटना का कोई उल्लेख गोस्वामी जी के जीवन चरित्र में भी नहीं मिलता है। इसके अतिरिक्त बनारसीदास ने 'अर्धकथानक' में अपने जीवन से सम्बद्ध सं० १६९८ तक की प्रत्येक घटना का उल्लेख किया है। यदि गोस्वामी जी से उनकी भेंट हुई होती तो इसका वर्णन अर्धकथानक में अवश्य होता।

बनारसीदास और गोस्वामी तुलसीदास से मिलने की कल्पना में तो कुछ औचित्य भी हो सकता है, क्योंकि दोनों महापुरुषों का आविर्भाव एक ही शताब्दी में हुआ था। किन्तु कुछ ऐसी भी किंवदन्तियाँ हैं जो बनारसीदास और गोरखनाथ में शास्त्रार्थ होने की चर्चा करती हैं।[2] भला दसवीं शताब्दी के गोरखनाथ १७ वीं शताब्दी के बनारसीदास से शास्त्रार्थ करने कैसे आ सकते थे? इसी प्रकार कबीर के सम्बन्ध में भी प्रचलित है कि उनका चित्रगुप्त और गोरखनाथ से विवाद हुआ था। "अमरसिंह बोध" में कबीर और चित्रगुप्त के संवाद का वर्णन है, जिसमें चित्रगुप्त ने कबीर द्वारा दी हुई राजा अमरसिंह की पवित्रता देखकर अपनी हार स्वीकार की है। "कबीर गोरष गुष्ट" के अनुसार गोरखनाथ और कबीर में तत्व सिद्धान्त पर प्रश्नोत्तर हुए हैं और कबीर ने गोरख को उपदेश दिया है। इस प्रकार की वार्ताओं में ऐतिहासिक सत्य खोजने की चेष्टा उचित नहीं।

जीवन के अन्तिम दिवस और मृत्यु :

कवि ने अर्धकथानक में अपने जीवन के ५५ वर्षों (सं० १६४३-१६९८) का ही विवरण दिया है। वे ५५ वर्षों को मनुष्य की पूर्ण आयु का अर्धांश ही मानते थे। इसीलिए ग्रन्थ का नाम अर्धकथानक रक्खा था।[3] उनके शेष जीवन के विषय में कोई निश्चित विवरण नहीं मिलता। उनकी अंतिम रचना

---

१. देखिए—डा० माताप्रसाद गुप्त—तुलसीदास, प्रयाग विश्वविद्यालय हिन्दी परिषद, प्र० सं० १९४२, पृ० २३०।

२. आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी—नाथ सम्प्रदाय, पृ० ९८

३. बरस पचावन ए कहे, बरस पचावन और।
बाकी मानुष आऊ मैं, यह उतकिष्टी दौर।।६६४।।
बरस एक सौ दस अधिक, परमित मानुष आउ।
सोलह सौ अट्ठानवे, समै बीच यह भाउ।।६६५।।
(अर्धकथानक, पृ० ६०–६१)

कर्मप्रकृति विधान है जो संवत् १७०० में लिखी गई थी।[1] इसके वाद वह कब तक जीवित रहे, यह नहीं कहा जा सकता। उनकी मृत्यु के सम्बन्ध में यह प्रचलित है कि जब वह मरणशय्या पर थे, उनका कंठ अवरुद्ध हो गया था। उनके कंठावरोध से लोग समझे कि बनारसीदास के प्राण मोह में फँसे हैं। इसे सुनकर बनारसीदास ने संकेत से एक पट्टिका मँगवाई और उस पर यह छन्द लिख दिया :—

ज्ञान कुतक्का हाथ, मारि अरि मोहना।
प्रगट्यो रूप स्वरूप, अनंत सुमोहना ॥
जापर जै को अंत, सत्य कर मानना।
चले बनारसीदास, फेरि नहिं आवना ॥
(मूल चन्द 'वत्सल' — जैन कवियों का इतिहास, पृ० ४१)

इस किंवदन्ती में कितना सत्य है, कहा नहीं जा सकता। वास्तव में संतों, महापुरुषों और महाकवियों के विषय में नाना प्रकार की कथाएँ गढ़ ली जाती हैं। कबीर, सूर, तुलसी आदि के सम्बन्ध में न जानें कितनी किंवदन्तियाँ प्रचलित है। लेकिन उनमें वास्तविकता कितनी है, यह उनके पाठक जानते हैं।

रचनाएँ :

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने अपने इतिहास में बनारसीदास लिखित बनारसी विलास, नाटक समयसार, नाममाला, अर्धकथानक, बनारसी पद्धति, मोक्षपदी, ध्रुववंदना, कल्याण मंदिर भाषा, वेद निर्णय पंचासिका और मारगन विद्या नामक पुस्तकों का उल्लेख किया है।[2] इनमें से कल्याण मंदिर भाषा और वेद निर्णय पंचासिका स्वतंत्र ग्रन्थ न होकर 'बनारसी विलास' में संग्रहीत हैं।[3] 'कल्याण मंदिर' बनारसीदास की मौलिक कृति भी नहीं है। वह कुमुदचन्द्र के संस्कृत ग्रंथ का भाषानुवाद है। 'मोक्षपदी और मारगना विद्या' भी क्रमशः 'मोक्षपैड़ी' और 'मार्गना विधान' नाम से 'बनारसी विलास' में संग्रहीत है।[4] 'बनारसी पद्धति' और 'ध्रुववंदना' नामक रचनाएँ प्राप्त नहीं हैं, यद्यपि 'बनारसी पद्धति' का उल्लेख कामता प्रसाद जैन ने भी किया है।[5] इनके अतिरिक्त बनारसी दास की कतिपय अन्य रचनाओं का भी पता चलता है। सभी का संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है :—

---

१. संवत सत्रह सौ समय, फागुन मास वसंत।
ऋतु शशिवासर सप्तमी, तब यह भयो सिद्धंत। ७५॥
(बनारसी विलास, पृ० १२४)

२. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल—हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० २०६।

३. बनारसी विलास, पृ० १२४ व पृ० ६१।

४. बनारसी विलास, पृ० १३२ और १०३।

५. हिन्दी जैन साहित्य का इतिहास, पृ० १२१।

(१) नवरस : यह कवि की प्रथम रचना है। इसे आपने १४ वर्ष की ही आयु में सं० १६५७ में लिखा था। इसमें एक हजार दोहा चौपाइयों में नव रसों का, विशेष रूप से शृङ्गार रस का, वर्णन किया गया था। बनारसीदास ने इसे सं० १६६२ में गोमती नदी में फेंक दिया :—

पोथी एक बनाई नई, मित हजार दोहा चौपई ॥ १८८ ॥
तामें नवरस रचना लिखी, पै विसेस वरनन आसिखी ॥
ऐसे कुकवि बनारसी भए, मिथ्या ग्रन्थ बनाए गए ॥ १८९ ॥

(अर्धकथानक, पृ० १७)

(२) नाममाला[1] : बनारसीदास की उपलब्ध रचनाओं में यह प्रथम है। यह कवि का मौलिक ग्रन्थ न होकर धनंजय कृत 'संस्कृत नाममाला' का हिन्दी पद्य में अनुवाद है। इसकी रचना सं० १६७० में हुई थी। यह एक प्रकार का कोष ग्रन्थ है, जिसमें एक-एक शब्द के अनेक पर्यायवाची दिये गये हैं। जैसे :—

आकाश : खं विहाय अम्बर गगन, अन्तरिक्ष जगधाम।
व्योम वियत नभ मेघपथ, ये अकाश के नाम ॥
बुद्धि : पुस्तक धिषना समुखी, धी मेधा मति बुद्धि।
सुरति मनीषा चेतना, आशय अंश विशुद्धि ॥

(३) नाटकसमयसार : 'समयसार' आचार्य कुन्दकुन्द द्वारा लिखित प्राकृत भाषा का ग्रन्थ है। यह जैनों के लिए धार्मिक ग्रन्थ के समान पूज्य है। जैन विद्वानों द्वारा इसकी अनेक व्याख्यायें और टीकायें प्रस्तुत की गई हैं, जिनमें आचार्य अमृतचन्द्र की संस्कृत टीका और पाण्डे राजमल्ल की हिन्दी गद्य में 'बाल बोधिनी टीका' विशेष रूप से उल्लेखनीय है। बनारसीदास ने इसी 'समयसार' का हिन्दी पद्य में 'नाटक समयसार' नाम से अनुवाद किया है। 'समयसार' के पूर्व 'नाटक' शब्द जुड़ने के कारण हिन्दी के कतिपय विद्वानों को यह भ्रम हो गया कि यह मध्यकाल में बनारसीदास द्वारा रचित हिन्दी का एक मौलिक नाटक है।[2] वस्तुतः 'समय' शब्द का अर्थ है द्रव्य का अपने स्वभाव व गुण पर्याय में स्थिर रहना। द्रव्य छः होते हैं। निश्चयनय से सभी द्रव्य अपने स्वरूप में अवस्थित रहने के कारण 'समय' कहलाते हैं। षडद्रव्यों में आत्म-द्रव्य श्रेष्ठ होने के कारण 'सार' कहलाता है। इस प्रकार आत्मा ही 'समयसार' हुआ। 'नाटक' शब्द की व्याख्या कवि ने स्वयं इस प्रकार की है :—

पूर्व बन्ध नासे सौ तौ संगीत कला प्रकासै,
नव बन्ध सन्धि ताल तोरत उछारि कै।
निसंकित आदि अष्ट अंग संग सखा जोरि,
समता अलापचारी करै स्वर भरि कै॥

---

१. वीर सेवा मन्दिर सरसावा से प्रकाशित।
२. देखिए, डा० दशरथ ओझा—हिन्दी नाटक उद्भव और विकास, पृ० १५६।

निरजरा नाद गाजै ध्यान मिरदंग बाजै,
छक्यौ महानन्द मैं समाधि रीझ करिकै।
सत्ता रंग भूमि में मुकुत भयो तिंहु काल,
नाचै सुद्ध दृष्टि नट ज्ञान स्वांग धरिकै॥

× × × ×

या घट में भ्रमरूप अनादि, विलास महा अविवेक अखारो।
तामहि और स्वरूप न दीसत पुग्गल नृत्य करै अति भारौ॥
फेरत भेख दिखावत कौतुक, सौंज लिए बरनादि पसारौ।
मोह सो भिन्न जुदौ जड़ सौ, चिन्मूरित नाटक देखन हारौ॥[1]

इस प्रकार 'नाटक समयसार' एक आध्यात्मिक ग्रन्थ है, जिसमें जीव-अजीव, कर्ता-कर्म, पाप-पुन्य, आस्रव-संवरा, निर्जरा-बंध, सम्यक्ज्ञान आदि की विवेचना की गई है। बनारसीदास ने मूलग्रन्थ का सफल अनुवाद करने के अतिरिक्त कुछ मौलिक पदों को भी जोड़ दिया है, जिससे कठिन स्थल सरल हो गए हैं।

(४) अर्धकथानक[2] : यह कवि का आत्म-चरित-काव्य है। इसमें कवि ने अपने जीवन के ५५ वर्षो का सच्चा इतिहास लिखा है। 'आत्म-चरित' के रूप में यह हिन्दी साहित्य में प्रथम प्रयास है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने कवि की सत्यनिष्ठा और रचना शैली की भूरि-भूरि प्रशंसा की है। बनारसीदास चतुर्वेदी के शब्दों में 'सत्यप्रियता, स्पष्टवादिता, निरभिमानिता और स्वाभाविकता का ऐसा जबरदस्त पुट इसमें विद्यमान है, भाषा इस पुस्तक की इतनी सरल है और साथ ही वह इतनी संक्षिप्त भी है कि साहित्य की चिरस्थायी सम्पत्ति में इसकी गणना अवश्यमेव होगी'[3]।

(५) बनारसी विलास[4] : यह बनारसीदास कृत ५७ उपलब्ध रचनाओं का संग्रह है। संग्रह आगरा निवासी जगजीवन द्वारा किया गया था। संग्रह संवत् इस प्रकार दिया गया है :—

सत्रह सै एकोत्तरे, समय चैत सितपाख।
द्वितिया में पूरन भई, यह बनारसी भाख।

(बनारसी विलास, पृ० २४१)

---

१. नाटक समयसार की भूमिका, पृ० २–३।

२. श्री नाथूराम प्रेमी द्वारा हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय हीराबाग, बम्बई न० ४ से प्रकाशित।

३. अर्धकथानक भूमिका, पृ० २।

४. श्री नाथूराम स्मारक ग्रन्थमाला, जयपुर से प्रकाशित।

इसमें 'एकोत्तरे', शब्द पर मतभेद है। श्री कामता प्रसाद जैन और राजकुमार जैन इसका अर्थ १७०१ लगाते हैं, जबकि 'बनारसी विलास' के सम्पादक श्री कस्तूरचन्द्र कासलीवाल इसका रचनाकाल सं० १७७१ मानते हैं। 'एकोत्तर' का अर्थ 'एकहत्तर' ही समीचीन प्रतीत होता है न कि 'एक उत्तर' अर्थात् सत्रह सौ के एक वर्ष उत्तर या पश्चात्। ऐसा प्रतीत होता है कि बनारसीदास की मृत्यु के पश्चात् ही यह संग्रह तैयार किया गया होगा। इसीलिए उनकी अनेक रचनाएँ संग्रहकर्त्ता को प्राप्त भी नहीं हो सकीं, क्योंकि 'इनके सिवाय तीन नवीन पदों की खोज श्रद्धेय नाथूराम जी प्रेमी ने की है तथा अभी कवि के दो नवीन पद जयपुर के पाटोदी के मन्दिर के शास्त्र भाण्डार की सूची बनाते हुए एक गुटके में हमें (कासलीवाल जी को) मिले हैं।[1] इसके अतिरिक्त बनारसीदास की एक अन्य रचना 'माझा' जयपुर के बधीचन्द के मन्दिर के शास्त्र भाण्डार में मिली है।[2] 'मोह विवेक युद्ध' नामक एक अन्य रचना बनारसीदास के नाम से प्रसिद्ध है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि यदि जगजीवन ने सं० १७०१ में बनारसीदास के समय में ही यह संग्रह तैयार किया होता तो उनकी कुछ छोटी-छोटी रचनाएँ छूट न जातीं। जगजीवन बनारसीदास के कुछ परवर्ती भी प्रतीत होते हैं। कारण, यदि वे बनारसीदास के समकालीन और मित्र होते तो 'अर्धकथानक' में उनका नाम भी गिनाया गया होता।

(६) माझा : बनारसीदास की एक छोटी रचना है। इसकी एक हस्तलिखित प्रति बधीचन्द के मन्दिर (जयपुर) से प्राप्त हुई है। इसमें १३ पद हैं। सामान्यतया जीवात्मा को उपदेश दिया गया है। माता, पिता, सुत, नारी, आदि सांसारिक सम्बन्धों को अवास्तविक और क्षणिक बताकर, उनमें न फँसने का निर्देश दिया गया है। पहला पद इस प्रकार है :—

[3]माया मोह के तू मतवाला, तू विषया विषधारी।
रागदोष पायौ वस ठग्यौ, चार कषायन मारी॥
कुरग कुटुम्ब दीया ही पायो, मात तात सुत नारी।
कहत दास बनारसी, अलप सुख कारने तौ नर अब बाजी हारी॥१॥

(६) मोह विवेक युद्ध[4] : यह रचना बनारसीदास के नाम से प्रसिद्ध है। इसकी कई हस्तलिखित प्रतियाँ जयपुर के बड़े मन्दिर के शास्त्र भाण्डार में सुरक्षित हैं तथा एक प्रति श्री नाथूराम प्रेमी को भी प्राप्त हुई थी। पुस्तक 'वीर पुस्तक भाण्डार' जयपुर से प्रकाशित भी हो चुकी है। यह एक

---

१. बनारसी विलास की भूमिका, पृ० ३५।
२. देखिए : श्री कस्तूरचन्द कासलीवाल द्वारा सम्पादित 'राजस्थान के जैन शास्त्र भाण्डारों की ग्रन्थ सूची (भाग ३) की भूमिका पृ० १७।
३. बधीचन्द के मन्दिर (जयपुर) की हस्तलिखित प्रति से।
४. वीर पुस्तक भाण्डार, मनिहारों का रास्ता, जयपुर से वीर नि० सं० २४८१ में प्रकाशित।

रूपक काव्य है, जिसमें विवेक नायक तथा मोह प्रतिनायक है। मोह और विवेक में परस्पर युद्ध होता है। विवेक विजयी होता है। रचना ११८ दोहा चौपाई छन्दों में है। प्रारम्भ में कवि ने अपने पूर्ववर्ती तीन कवियों -- मल्ल, लालदास और गोपाल-द्वारा लिखे गए 'मोह विवेक युद्ध' का संकेत किया है : —

> वपु में वर्णि बनारसी विवेक मोह की सैन।
> ताहि सुणत श्रोता सबै, मन में मानहिं चैन ॥१॥
> पूरव भए सुकवि मल्ह, लालदास गोपाल।
> मोह विवेक किएसु तिन्हि, वाणीं वचन रसाल ॥२॥
> तीनि तीनहु ग्रन्थनि महा, सुलप सुलप सधि देख।
> सारभूत संक्षेप अरु, सोधि लेत हौं सेप। ३॥

इस रचना के बनारसीदास कृत होने में सन्देह है यद्यपि श्री अगरचन्द नाहटा इसको बनारसीदास रचित ही मानते हैं।[1] किन्तु इसकी भाषा इतनी शिथिल तथा बनारसीदास की अन्य रचनाओं से भिन्न है कि इसको श्रेष्ठ कवि की रचना मानने का साहस ही नहीं होता। यदि यह कवि की प्रारम्भिक रचना होती तो 'नवरस' के समान इसका उल्लेख भी 'अर्धकथानक' में होता। श्री नाथूराम जी प्रेमी भी काफी विचार के बाद इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि इसके "कर्त्ता कोई दूसरे ही बनारसीदास मालूम होते हैं।"[2] श्री रवीन्द्र कुमार जैन को गोपाल कवि कृत 'मोह विवेकयुद्ध' की एक हस्तलिखित प्रति जयपुर के दादू महाविद्यालय से प्राप्त हुई है। इस प्रति को देखने से पता चलता है कि इसमें और बनारसीदास कृत 'मोह विवेक युद्ध' में काफी समानता है। दोनों में १५-२० दोहा चौपाइयों को छोड़कर अक्षरशः साम्य है। केवल गोपाल के स्थान पर 'बनारसी' कर दिया गया है। गोपाल दादू के प्रधान शिष्यों में से थे। इनके १३ ग्रन्थ पाए जाते हैं, जिनमें 'मोह विवेक संवाद' भी है। इनका रचनाकाल सं० १६५० माना जाता है।[3] बनारसीदास के 'मोह विवेक युद्ध' में उल्लिखित दूसरे कवि 'लालदास' हैं। इनके 'मोह विवेक युद्ध' की एक हस्तलिखित प्रति अभय जैन ग्रन्थालय, बीकानेर में सुरक्षित है। इसका रचना काल १८वीं शताब्दी के लगभग है।[4] इससे स्पष्ट है कि गोपाल, बनारसीदास के समकालीन और लालदास के परवर्ती थे। अतएव 'मोह विवेक युद्ध' बनारसीदास की रचना नहीं हो सकती। यह किसी दूसरे बनारसी की कृति है अथवा किसी अन्य व्यक्ति के द्वारा गोपाल की रचना में थोड़ा-सा परिवर्तन करके बनारसीदास के प्रति श्रद्धा का प्रदर्शन किया गया है।

---

१. देखिए, वीर वाणी, वर्ष ६, अंक १३ २४।
२. अर्धकथानक की भूमिका, पृ० ३२।
३. मोतीलाल मेनारिया—राजस्थान का पिंगल साहित्य, पृ० १८८।
४. श्री अगरचन्द नाहटा, राजस्थान में हिन्दी के हस्तलिखित ग्रन्थों की खोज (चतुर्थ भाग) पृ० ३८।

श्री टैसिटरी ने बनारसीदास की अन्य रचना 'गोरखनाथ के वचन' का उल्लेख किया है।[1] किन्तु यह उनका कोई स्वतन्त्र ग्रन्थ न होकर, मात्र चौदह पंक्तियों की छोटी सी कविता है और 'बनारसी विलास' में 'अथ गोरख नाथ के वचन' नाम से संग्रहीत है। इसमें गोरखनाथ के सिद्धांतों का संक्षिप्त विवेचन और अज्ञानी पुरुष की स्थिति का निरूपण है।

बनारसीदास अत्यन्त लोकप्रिय कवि रहे हैं। उनके ग्रन्थों की हस्तलिखित प्रतियाँ पूरे उत्तर भारत में बिखरी पड़ी हैं। विगत ५० वर्षों से नागरी प्रचारिणी सभा के तत्वावधान में हस्तलिखित हिन्दी ग्रन्थों की खोज हो रही है और शायद ही कोई ऐसा खोज विवरण हो, जिसमें बनारसीदास की एकाध रचना का उल्लेख न हो। किन्तु प्रति के अस्पष्ट होने अथवा एक ही गुटके में अनेक कवियों की रचनाओं के होने के कारण खोज कर्त्ता को प्रायः भ्रम का शिकार होना पड़ा है। जैसे सन् १९३८-४० के खोज विवरण में मथुरा से 'बनारसी विलास' की एक खंडित प्रति प्राप्त होने का उल्लेख है। प्रति के अपूर्ण होने के कारण ग्रन्थ के संग्रह कर्त्ता 'जगजीवन' का पता अन्वेषक को नहीं चला।[2] सन् १९३२-३४ के खोज विवरण में बनारसीदास की एक रचना 'दतिवार की कथा' का उल्लेख है।[3] यह प्रति आगरा से प्राप्त हुई है। इसके बनारसीदास कृत होने का कोई प्रमाण नहीं मिलता। सन् १९३५-३७ के खोज विवरण में बनारसी कृत चार पुस्तकों का उल्लेख है—ज्ञान पच्चीसी, शिव पच्चीसी, वैराग्य पच्चीसी और वेदान्त अष्टावक्र। वैराग्य पचीसी के आधार पर इन चारों का रचना काल सं० १७५० मान लिया गया है।[4] इनमें प्रथम दो—ज्ञान पच्चीसी और शिव पच्चीसी बनारसीदास रचित हैं और 'बनारसी विलास' में संग्रहीत भी हैं। किन्तु 'वैराग्य पच्चीसी' भैया भगवतीदास की रचना है। रचना के अंत में कवि ने अपना नाम भी दे दिया है:—

> भइया की यह वीनती चेतन चितहिं विचार।
> दरसत ज्ञान चरित्र में आपा लेहु निहार ॥२४॥
> एक सात पंचास के संवत्सर सुपकार।
> पोष सुकुल तिथि धरम की जै जै बृहस्पतिवार ॥२५॥
> ॥ इति श्री वैराग्य पच्चीसी सम्पूर्णम् ॥

भैया भगवतीदास के 'ब्रह्मविलास' नामक संग्रह में यह रचना (पृ० २२५-२६) प्रकाशित भी है। ऐसा प्रतीत होता है कि खोजकर्त्ता ने असावधानी में इसे

---

1. Encyclopedia of Religion and Ethics, ११ वीं जिल्द, पृ० ८३४।
2. हस्तलिखित हिन्दी ग्रन्थों का सत्रहवाँ त्रैवार्षिक विवरण, सं० पं० विद्याभूषण मिश्र, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, सं० २०१२ वि०, पृ० ६७-६८।
3. हस्तलिखित हिन्दी ग्रन्थों का पन्द्रहवाँ त्रैवार्षिक विवरण, सं० डा० पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल, पृ० ८६, ८७।
4. हस्तलिखित हिन्दी ग्रन्थों का सोलहवाँ त्रैवार्षिक विवरण, सं० डा० पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल, पृ० ६७ से ७१ तक।

वनारसी कृत मान लिया है। वनारसीदास तो सं० १७५० में जीवित भी नहीं थे। 'ज्ञान पच्चीसी' और 'शिव पच्चीसी' सं० १७०१ के पूर्व की रचनाएँ हैं। 'वेदान्त अष्टाचक्र' किसी अन्य कवि की रचना है।

काव्य-शक्तिः—

'घट-घट अन्तर राम' की अलख जगाने वाले वनारसीदास जैन परम्परा में कवीरदास के समान श्रद्धा की दृष्टि से देखे जाते हैं। जैन धर्म के नीरस और शुष्क उपदेशों तक ही अपने को सीमित न कर आपने जीवात्मा और परमात्मा के मधुर सम्वन्ध का भी सरस वर्णन किया है। उन्होंने आत्मा के स्वरूप को, विश्व की स्थिति को, परमात्म-दर्शन और मिलन के उपाय को बड़े ही मनोरम ढंग से अभिव्यक्त किया है। 'वनारसी विलास' की कुछ रचनाएँ सुभाषित तथा जैन धर्म सिद्धान्त से सम्वन्धित होने पर भी शेष अध्यात्म तत्व एवं रहस्यवाद से परिपूर्ण हैं। आप शिव तत्व एवं जीव तत्व की अद्वैतता के पोषक हैं। आपका स्पष्ट मत है कि जो शिव के महत्व को जान लेता है, वह स्वयं अविनाशी शिव हो जाता है, क्योंकि जीव और शिव अन्य पदार्थ नहीं हैं। जीव और शिव एक ही वस्तु के दो नाम हैं। व्यावहारिक दृष्टि से जो जीव है, पारमार्थिक दृष्टि से वही शिव है।

> **शिव महिमा जाके घट बसी।**
> **सो शिव रूप हुआ अविनासी॥ ३॥**
> **जीव और शिव और न होई।**
> **सोई जीव वस्तु शिव सोई॥**
> **जीव नाम कहिए व्यवहारी।**
> **शिवस्वरूप निहचै गुणधारी॥ ४॥**

(वनारसी विलास, पृ० १४६)

किन्तु इस तथ्य की जानकारी हेतु जीव को कुछ आयास करना पड़ता है। वह शरीर रूपी मण्डप में स्थित मन रूपी वेदी को शुभभाव रूपी सफेदी से स्वच्छ कर, भावलिंग रूपी मूर्ति की स्थापना कर, निरंजन देव की आराधना करे, उसे समरस रूपी जल से अभिषिक्त करावे, उपशम रूपी चन्दन लगावे, सहजानन्द रूपी पुष्पों की गुणगर्भित जयमाल चढ़ावे! इस विधान के सम्पन्न होने पर साधक स्वयं शिवरूप हो जाता है। साधक और शिव की अद्वैत अवस्था कैसे उपस्थित होती है? साधक की करुण रसमयी वाणी ही शंकर के सिर पर स्थित देवनदी 'गंगा' वन जाती है, सुमति अर्धाङ्गिनी 'गौरी' का रूप धारण कर लेती है, त्रिगुण भेद 'त्रिनेत्र' का, सम्यक् भाव 'चन्द्र लेखा' का, सद्गुरू की शिक्षा 'सिंगी' का और व्यवहारनय 'मृगचर्म' का कार्य करते हैं। जीव विवेक के वैल पर आरूढ़ हो 'कैलाश' में विचरण करने लगता है, संयम की जटाएँ धारण करके, सहजसुख का उपभोग करते हुए दिगम्बर योगी के समान समाधि में ध्यान लगाता है और अनाहद रूपी 'डमरु' का नाद सुनता है।

बनारसीदास के रूपक बड़े ही सबल हैं। आपने अनेक रूपकों के माध्यम से जीव के मुक्त होने के उपाय का वर्णन किया है। आपका दृढ़ विश्वास है कि भव सागर से पार जाने का एक मात्र साधन मन रूपी जहाज पर आरूढ़ होना है। जब तक जीव मन को नियन्त्रित नहीं करता, उसके जप, तप, ध्यान धारणा सभी व्यर्थ हैं। संसार-समुद्र विभाव रूपी जल से परिपूर्ण है, उसमें विषय-कषाय की तरंगें उठा करती हैं, तृष्णा की बड़वाग्नि भी प्रज्वलित होती रहती है, भ्रम की भँवर उठा करती है, जिनसे मन रूपी जहाज फँसकर डूबता उतरता रहता है। चेतनरूपी मालिक समुद्र की यथार्थ स्थिति से परिचित है। जब वह जगकर डूबते हुए मन-जहाज में समता की शृङ्खला डाल देता है तो वह डूबने से बच जाता है। फिर वह शुभ ध्यान रूपी बादवान के सहारे मन-जहाज को शिवदीप की ओर मोड़ देता है। अन्ततः जहाज द्वीप पहुंचता है। मालिक द्वीप को गमन करता है। अन्त में कवि स्पष्ट कर देता है कि मालिक (जीव) और (परमात्मा) में अन्तर नहीं है। दोनों एक रूप हैं:—

मालिक उतर जहाज सौं करै दीप को दौर।
जहाँ न जल न जहाज गति; नहि करनी कछु और ॥१३॥
मालिक की कालिम मिटी, मालिक दीप न दोय।
यह भवसिन्धु चतुर्दशी, मुनि चतुर्दशी होय ॥१४॥

(बना० वि०, पृ० १५३)

श्री कासलीवाल का यह कथन कि 'अध्यात्म की उत्कर्ष सीमा का नाम रहस्यवाद है। कवि की कुछ कविताएँ जिनमें अध्यात्म अपनी चरम सीमा पर पहुंच गया है, रहस्यवाद की कोटि में चली जाती हैं।......कविवर बनारसीदास भी कबीर की कोटि के ही कवि थे,'[1] अक्षरशः सत्य प्रतीत होता है।

अध्यात्म की यह चरम सीमा कवि की अनेक रचनाओं में पाई जाती है। है। वह चिल्ला-चिल्लाकर कहता है 'अध्यातम बिन क्यों पाइये हो परम पुरुष को रूप'। आत्मज्ञान के होने पर ही सहज रूपी बसन्त आता है, सुरुचि रूपी सुगन्धि प्रकट होती है और मन रूपी मधुकर उसी में आनन्द लेने लगता है। सहजावस्था रूपी बसन्त के आगमन पर सुमति रूपी कोयल प्रसन्न हो उठती है, भ्रम के मेघ फट जाते हैं, माया-रजनी का अवसान हो जाता है, समरस का प्रकाश दिखाई पड़ता है, सुरति की अग्नि प्रज्वलित होती है, सम्यक्त्व रूपी भानु का उदय होता है, जिससे हृदय रूपी कमल विकसित हो जाते हैं, निर्जरा रूपी नदी के जोर से कषाय रूपी हिमगिर गल जाते हैं और ध्यान की धार शिव सागर की ओर वह चलती है। अलख और अमूर्त आत्मा धमाल खेलने लगता है। होलिका में अग्नि लग जाने से अष्टकर्म जल जाते हैं और परम ज्योति प्रकट होती है।[2]

---

१. बनारसी विलास की भूमिका, पृ० ३८।

२. विषम विरष पूरे भयो हो, आयो सहज बसन्त।
प्रगटी सुरुचि सुगन्धिता हो, मन मधुकर मयमन्त ॥
अध्यातम बिन क्यों पाइये हो ॥२॥

बनारसीदास निश्चित रूप से कबीर से प्रभावित थे। कबीर की अनेक मान्यताओं और विचारधाराओं को बनारसीदास ने स्वीकार किया और जिस चरम सत्य का अनुभव किया, उसको निष्पक्ष और निर्भीक ढंग से व्यक्त कर दिया। (इस स्पष्टवादिता के कारण आपको अनेक जैन विद्वानों का कोप भाजन भी बनना पड़ा था।) कबीर के ही समान आपने हिन्दू मुस्लिम एकता पर जोर दिया और बाह्याडम्बर का विरोध किया। उनका कहना था कि :—

एक रूप 'हिन्दू तुरुक' दूजी दशा न कोय।
मन की द्विविधा मानकर, भए एक सो दोय ॥७॥
दोऊ भूलेभरम में, करें वचन की टेक।
'राम राम' हिन्दू करें, तुर्क 'सलामालेक' ॥८॥
इनके पुस्तक वांचिए, बेहू पड़े कितेब।
एक वस्तु के नाम द्वय जैसे 'शोभा' 'जेब' ॥९॥
तिनको द्विविधा जे लखे, रंग विरंगी चाम।
मेरे नैनन देखिए घट घट अन्तर राम ॥१०॥

(बना० वि०, पृ० २०४)

कबीर के ही समान आपके राम 'दशरथ सुत' से भिन्न हैं, घट-घट में परिव्याप्त हैं। साधक ही उनका दर्शन कर पाते हैं। बनारसीदास का विश्वास था कि राम ने कभी अवतार नहीं लिया, रावण का वध नहीं किया। 'रामायण' तो घट के अन्दर ही विद्यमान है, किन्तु उसका ज्ञान मर्मी पुरुषों को ही होता है। 'आतमा' ही राम है। विवेक रूपी लक्ष्मण और सुमति रूपी सीता उसके साथी हैं। शुद्धभाव रूपी वानरों की सहायता से वह रणक्षेत्र में उतरता है, ध्यान रूपी धनुष की टंकार से विषय वासनाएं भागने लगती हैं और धारणा की अग्नि से मिथ्यात्व की लंका भस्म हो जाती है, जिससे अज्ञान रूपी राक्षस कुल का नाश होता है। राग-द्वेष रूपी सेनापति युद्ध में मारे जाते हैं, संशय का गढ़ टूट जाने पर कुम्भकरण रूपी भव विलखने लगता है। सेतुबन्धरूपी समभाव के पश्चात् अहिरावण भी नष्ट हो जाता है, जिससे मन्दोदरी रूपी दुराशा मूर्च्छित हो जाती है। चक्रसुदर्शन की शक्ति को देखकर विभीषण का उदय

सुमति कोकिला गहगही हो, वही अपूरव बाउ।
भरम कुहर बादर फटे हो, घट जाड़ो जड़ ताउ ॥ अध्या० ॥३॥
सुरति अग्नि ज्वाला जगी हो, समकित भानु अमन्द।
हृदय कमल विकसित भयो हो, प्रगट सुजस मकरंद ॥ अध्या० ॥७॥
परम ज्योति परगट भई हो, लगी होलिका आग।
आठ काठ सब जरि बुझे हो, गई तत ई भाग ॥१६॥

(बनारसी विलास, पृ० १५५)

होता है। रावण का कवन्ध प्राणहीन होकर भूमि पर लुढकने लगता है। प्रत्येक साधु पुरुष के शरीर में निरन्तर यह 'सहज संग्राम' होता रहता है।[1]

सम्भवतः बनारसीदास ही प्रथम हिन्दी जैन कवि हैं जिन्होंने आत्मा और परमात्मा का सम्बन्ध प्रिय-प्रेमी जैसा बताया है। आत्मा में प्रिय मिलन की उत्कण्ठा होती है। वह जल विहीन मछली के समान तड़पने लगता है। वह प्रिय की खोज में पागल हो उठता है। पूरे विश्व में उसे प्रिय के अनुरूप अन्य वस्तु नहीं दिखाई पड़ती। अन्ततः उसे प्रतीत होता है कि उसका प्रिय उसके अन्तरमन में ही विद्यमान है, अहंभाव के त्याग से उसकी प्राप्ति हो सकती है। बस फिर क्या, जैसे ओला गलकर पानी में मिल जाता है, वैसे ही वह अपने को प्रिय में लीन कर देने के लिए व्यग्र हो उठता है। अन्ततः प्रिय की भी कृपा हो जाती है। फलतः द्वैत या परायेपन का परदा फट जाता है :—

> बालम तुहुँ तन चितवन गागरि फूटि।
> अंचरा गो फहराय सरम गै छूटि, बालम० ॥१॥
>
> (बनारसी विलास, पृ० २२८)

द्वैतभाव के विनाश से उसे ज्ञान होता है कि वह और उसका प्रिय एक ही है, दोनों की जाति एक है। प्रिय उसके घट में है और वह प्रिय में। दोनों का जलबीचिवत् अभिन्न सम्बन्ध है। प्रिय साध्य है तो वह साधन, प्रिय आधार है है तो वह आधेय, प्रिय शिव मन्दिर है तो वह मन्दिर की नींव, प्रिय ब्रह्मा है तो वह सरस्वती, प्रिय माधव है तो वह कमला, प्रिय शंकर है तो वह पार्वती,

---

१. विराजै रामायण घट माँहिं।
मरमी होय मरम सो जाने, मूरख मानै नाहिं, ॥ विराजै० ॥१॥
आतम 'राम' ज्ञानगुन 'लछिमन', 'सीता' सुमति समेत।
शुभपयोग 'वानरदल' मंडित, वर विवेक 'रणखेत' ॥विराजै० ॥२॥
ध्यान 'धनुष टंकार' शोर सुनि, गई विषयदिति भाग।
भई भस्म मिथ्यातम 'लंका' उठी 'धारणा' आग, विराजै० ॥३॥
जरे अज्ञान भाव 'राक्षस कुल' लरे निकांछित सूर।
जूझे रागद्वेष सेनापति संसे 'गढ़' चकचूर, विराजै० ॥४॥
बिलखत 'कुम्भकरण' भव विभ्रम, पुलकित मन दरयाव।
थकित उदार वीर 'महिरावण' 'सेतबन्धु' समभाव, विराजै० ॥५॥
मूर्छित 'मन्दोदरी' दुराशा, सजग चरन 'हनुमान'।
घटी चतुर्गति परणति 'सेना' छुटे छपकगुण 'बान', विराजै० ॥६॥
निरखि सकति गुन, 'चक्र सुदर्शन' उदय विभीषण दीन।
फिरै कबंध मही 'रावण' की प्राणभाव शिरहीन, विराजै० ॥७॥
इहि विधि सकल साधुघट अन्तर, होय सकल संग्राम।
यह विवहार दृष्टि 'रामायण' केवल निश्चय राम, विराजै० ॥८॥
(ब० वि०, पृ० १२३)

प्रिय जिनदेव है तो वह उनकी वाणी, प्रिय भोगी है तो वह भुक्ति और प्रिय जोगी है तो वह मुद्रा :—

जो पिय जाति जाति मम सोइ।
जातहिं जात मिले सब कोइ ॥१८॥
पिय मोरे घट, मै पिय मांहि।
जल तरंग ज्यों द्विविधा नाहि ॥१९॥
पिय मों करता मैं करतूति।
पिय ज्ञानी मैं ज्ञान विभूति ॥२०॥
पिय सुखसागर मैं सुखसींव।
पिय शिवमन्दिर मैं शिव नींव ॥२१॥
पिय ब्रह्मा मैं सरस्वति नाम।
पिय माधव मैं कमला नाम ॥२२॥
पिय शंकर मैं देवि भवानि।
पिय जिनवर मैं केवल बानि ॥२३॥
पिय भोगी मैं भुक्ति विशेष।
पिय जोगी मैं मुद्रा भेष ॥२४॥

(बना० वि०, पृ० १६१)

इस प्रकार बनारसीदास के विचार सन्त कवियों से मेल खाते हैं। आपकी गणना कबीर, दादू, सुन्दरदास, गुलाल साहब, धर्मदास आदि सन्त कवियों में की जा सकती है। परम्परागत जैन मतवाद का ही पिष्टपेषण न करके, आपने मौलिक चिन्तना और उदार वृत्ति का परिचय दिया है। वस्तुतः आप हिन्दी भक्ति काव्य के स्वर्णिम युग में पैदा हुए थे, जबकि अनेक पूर्ववर्ती और समकालीन सन्तों की विचार धाराओं का समाज पर प्रभाव पड़ रहा था। सन्त सुन्दरदास आपके समकालीन थे। यह भी कहा जाता है कि दोनों में मित्रता भी थी। जब दोनों एक दूसरे के सम्पर्क में आए थे तो एक दूसरे के विचारों से प्रभावित भी हुए होंगे। दोनों के काव्य में विचार साम्य के अनेक स्थल पाए भी जाते हैं। शरीर और आत्मा का सम्बन्ध, मन की स्थिति, संसार की नश्वरता, राम के सर्वव्यापक और अद्वैत रूप आदि पर दोनों के विचार एक समान हैं। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने भी इस विचार साम्य की ओर संकेत किया है।[1] बनारसीदास को इस क्रियाकाण्ड खण्डन और उदर अभिव्यक्ति के लिए, जो कहीं-कहीं पर मान्य जैन सिद्धान्तों के अनुकूल नहीं है, अनेक जैन विद्वानों का विरोध भी सहन करना पड़ा था। कुछ लोगों ने इनको 'अध्यात्मी या वेदान्ती' कहना प्रारम्भ कर दिया था। यहाँ तक कि आपके समकालीन मेघविजय उपाध्याय नमक श्वेताम्बर साधु ने प्राकृत भाषा में 'युक्ति प्रबोध' नामक एक नाटक लिखकर, आपके विरुद्ध प्रचार किया था कि बनारसीदास एक नवीन पन्थ का प्रवर्तन कर रहे हैं जो 'बनारसी या अध्यात्मी' पन्थ कहलाता है।

---

१. हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० २०६।

बनारसीदास नए पन्थ के प्रवर्तक हों या न हों, जैन समाज में नए विचारों के प्रवर्तक अवश्य हैं। आदिकालीन जैन आचार्यो के तथाकथित सिद्धान्तों के सीमित कठघरे में बन्द रहना आपको पसन्द नहीं था। आप स्वच्छन्दतावादी व्यक्ति थे, प्रत्येक तथ्य को अनुभूति की कसौटी पर कसकर व्यक्त करते थे। आपकी उदारवादी नीति का ही परिणाम है कि आपने अनुवाद कार्य में भी जहाँ एक ओर जैन विद्वानों की पुस्तकों को चुना है, वहाँ दूसरी ओर 'गोरखनाथ की बानी' को भी। काव्य में कलापक्ष की दृष्टि से भी आपका विशेष महत्व है। आप संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश और हिन्दी आदि अनेक भाषाओं के ज्ञाता थे। परिनिष्ठित व्रज भाषा के अतिरिक्त अवधी, खड़ी बोली, ढूँढारी और अपभ्रंश पदावली भी आपकी रचनाओं में देखी जा सकती है। खड़ी बोली का काव्य में प्रयोग करनेवाले आप प्रथम जैन कवि हैं। 'अर्धकथानक' में स्थान-स्थान पर सरल और बोलचाल की खड़ी बोली की शब्दावली पायी जाती है। श्री नाथूराम प्रेमी ने आपकी भाषा के विषय में लिखा है कि 'इस रचना (अर्धकथानक) से हमें इस बात का आभास मिलता है कि उस समय, अब से लगभग तीन सौ वर्ष पहले, बोलचाल की भाषा किस ढङ्ग की थी और जिसे आजकल खड़ी बोली कहा जाता है, उसका प्रारम्भिक रूप क्या था।'[1] कुछ उदाहरण देखिए :—

जैसा घर तैसी नन्हसाल

× ×

पकरे पाइ लोभ के लिए
आगे और न भाड़ा किया

× ×

कहीं जु होता था सो हुआ।

'बनारसी विलास' में भी इसी प्रकार का एक पद मिलता है, जिसमें खड़ी बोली का प्रभाव स्पष्ट रूप से परिलक्षित होता है। एक उद्धरण पर्याप्त होगा :—

केवली मथित वेद अन्तर गुपत भए,
जिनके शबद में अमृत रस चुवा है।
अब ऋगुवेद यजुर्वेद साम अथर्वण,
इनही का परभाव जगत में हुआ है॥
कहत 'बनारसी' तथापि मैं कहूँगा कछु,
सही समझेंगे जिनका मिथ्यात मुवा है।
मतवारो मूरख न माने उपदेश जैसे,
उलुवा न जाने किस ओर भानु उवा है॥२॥

(बना० वि०, पृ० ६१)

इसके अतिरिक्त तत्कालीन प्रचलित अरबी फारसी भाषाओं के शब्दों का प्रयोग भी आपके काव्य में यत्र-तत्र मिल जाता है। बनारसीदास कवि के साथ

---

१. श्री कामता प्रसाद जैन—हिन्दी जैन साहित्य का संक्षिप्त इतिहास पृ० १४० से उद्धृत।

ही साथ गद्य लेखक भी थे। आपकी दो रचनाएँ—परमार्थ वचनिका[1] और उपादान निमित्त को चिट्ठी[2] ब्रजभाषा गद्य में लिखी हुई मिलती है।

इस प्रकार बनारसीदास का व्यक्तित्व महान् और प्रतिभा सर्वतोमुखी थी। खेद है कि हिन्दी साहित्य के इतिहास में आप जिस महत्वपूर्ण स्थान के अधिकारी हैं, वह अभी तक आपको प्राप्त नहीं हो सका है।

(१०) भगवतीदास

भगवतीदास नामक कई कवि :

जैन साहित्य में 'भगवतीदास' नामक कवि की अनेक रचनाएँ मिलती हैं। इन रचनाओं के रचनाकाल में भी काफी अन्तर है। कुछ रचनाएँ १७ वीं शताब्दी की हैं और कुछ १८ वीं शताब्दी की। प्रारम्भ में कुछ विद्वान् एक ही 'भगवतीदास' का अस्तित्व स्वीकार करने के पक्ष में थे। लेकिन अब प्रायः यह निश्चित हो गया है कि 'भगवतीदास' नाम के कवियों की संख्या एक से अधिक रही है। एक 'भगवतीदास' बनारसीदास के समकालीन और उनके अभिन्न मित्र थे। इनका उल्लेख बनारसीदास ने अपने 'नाटक समयसार' में पांच प्रधान पुरुषों के रूप में किया है।[3] दूसरे भगवतीदास १८वीं शताब्दी में हुए, जो 'भैया' नाम से काव्य रचना करते थे। 'ब्रह्म विलास' इनकी प्रसिद्ध रचना है। इनका विस्तृत विवरण आगे दिया जा रहा है। पं० परमानन्द शास्त्री ने 'भगवतीदास' नामक चार विद्वानों की कल्पना की है। आपके मत से प्रथम 'भगवतीदास' पाण्डे जिनदास के शिष्य थे, दूसरे बनारसीदास के मित्र थे, तीसरे अम्बाला के निवासी और प्रसिद्ध कवि तथा अनेक ग्रन्थों के रचयिता थे और चौथे भैया भगवतीदास १८वीं शताब्दी के कवि थे।[4] शास्त्री जी

---

१. बनारसी विलास पृ० २०७ से २१५।

२. ,, ,, , पृ० २१५ से २२१।

३. नगर आगरा मांहि विख्याता,
कारन पाइ भये बहु ग्याता।
पंच पुरुष अति निपुन प्रवीने,
निशिदिन ज्ञान कथा रस भीने ॥ १० ॥
रूपचन्द पण्डित प्रथम, दुतिय चतुर्भुज नाम।
तृतिय भगौतीदास नर, कौंरपाल गुनधाम ॥ ११ ॥
धर्मदास ए पंच जन, मिलि बैसैं इक ठौर।
परमारथ चरचा करैं, इनके कथा न और ॥ १२ ॥

४. देखिए—अनेकान्त वर्ष ७, किरण ४–५, (दिसम्बर–जनवरी १९४४–४५) पृ० ५३ से ५६।

का यह अनुमान अस्पष्ट और कथन परस्पर-विरोधी है। बनारसीदास के मित्र भगवतीदास और कवि भगवतीदास को भिन्न व्यक्ति क्यों माना गया? शास्त्री जी ने इसका कोई कारण नहीं बताया। सम्भवतः कवि भगवतीदास का जन्म स्थान आगरा न होने के कारण ही शास्त्री जी को कवि भगवतीदास को बनारसीदास का मित्र मानने में संकोच हुआ। किन्तु बनारसीदास का जन्म भी आगरा में नहीं हुआ था। उनका जन्म स्थान जौनपुर नगर था और कर्मक्षेत्र आगरा।

बहुत सम्भव है कवि भगवतीदास भी बनारसीदास के मित्र बन कर आगरा में ही रहने लगे हों। शास्त्री के नं० २ और नं० ३ के भगवतीदास में समय का भी कोई अन्तर नहीं है। जैन साहित्य के प्रायः सभी विद्वान् कवि भगवतीदास को ही बनारसीदास का साथी स्वीकार करते हैं। श्री कामता प्रसाद जैन ने अपने इतिहास में कवि भगवतीदास का विस्तृत परिचय दिया है। बनारसीदास के पांच मित्रों का परिचय देते हुए आपने लिखा है कि 'भगवतीदास जी जैन साहित्य के प्रसिद्ध कवि भैया भगवतीदास से भिन्न जान पड़ते हैं और यह वह कवि प्रतीत होते हैं जो मुनि महेन्द्रसेन के शिष्य थे और सहजादिपुर के रहने वाले अग्रवाल वैश्य थे।'[1] श्री अगरचन्द नाहटा[2] और श्री नाथूराम[3] प्रेमी ने भी कवि भगवतीदास को ही बनारसीदास का मित्र स्वीकार किया है। १८वीं शताब्दी के प्रसिद्ध कवि द्यानतराय ने अपने 'धर्म विलास' नामक ग्रन्थ में आगरा नगर का वर्णन करते हुए आगरा निवासी अपने पूर्ववर्ती प्रसिद्ध कवियों का भी स्मरण किया है।[4] रूपचन्द और बनारसीदास के साथ ही भगवतीदास का स्मरण करना यह सिद्ध करता है कि बनारसीदास के मित्र रूपचन्द के समान ही कवि भगवतीदास भी आगरा में विद्यमान थे। अतएव

---

१. कामताप्रसाद जैन—हिन्दी जैन साहित्य का संक्षिप्त इतिहास, पृ० ११२।

२. देखिए–वीरवाणी, वर्ष २, अंक १ (३ अप्रैल १९४८) में श्री नाहटा जी का लेख 'भैया भगवतीदास एवं केशवदास की समकालीनता पर पुनः स्पष्टीकरण' पृ० ५।

३. बनारसीदास—अर्धकथानक का परिशिष्ट।

४. इधै कोट उधै बाग जमना बहै है बीच,
पच्छिम सौं पूरब लौं आसीन ? प्रवाह सौं।
अरमनी कसमीरी गुजराती मारवाड़ी,
तर्गैसैती जामें बहुदेस बसै चाहसौं॥
रूपचन्द बानारसी चन्द जी भगौतीदास,
जहां भले भले कवि द्यानत उछाह सौं।
ऐसे आगरे कहिय कौन भांति सोभा कहै,
बड़ौ धर्मथानक है देखिए निवाह सौं॥ ३०॥
(द्यानतराय–धर्मविलास, पृ० ११५।)

शास्त्री के नं२ और नं० ३ के भगवतीदास एक ही व्यक्ति थे, भले ही नं० १ के भगवतीदास पूर्ववर्ती और भिन्न पुरुष रहे हों। अपने एक अन्य लेख में तो शास्त्री जी ने चार के स्थान पर एक ही भगवतीदास का अस्तित्व स्वीकार किया है और 'भैया भगवतीदास' के 'ब्रह्म विलास' को भी बनारसीदास के साथो भगवतीदास की रचना बताया है। आपने लिखा है कि 'कविवर भगवतीदास पं० वनारसीदास के समकालीन विद्वान् ही नहीं, किन्तु उनके सहधर्मी पंच मित्रों में से तृतीय थे। कविवर की इस समय तीन रचनाएँ उपलब्ध हैं—अनेकार्थ-नाममाला, लघु सीतासतु और ब्रह्मविलास।'[1]

रचनाएँ और उनके विषय :

भगवतीदास की अधिकांश रचनाएँ श्री दिगम्वर जैन बड़ा मन्दिर मैनपुरी के शास्त्र भांडार में सुरक्षित एक गुटके में लिपिबद्ध हैं। यह गुटका स्वयं कवि द्वारा सं० १६८० में लिखा गया था। इससे स्पष्ट है कि इसमें संग्रहीत रचनाएँ सं० १६८० के पूर्व लिखी जा चुकी थी। ये रचनायें निम्न-लिखित हैं :--

(१) टंडाणारस, (२) वनजारा, (३) आदित्तव्रतरासा, (४) पखवाड़े का रास, (५) दशलाक्षणी रासा, (६) अनुप्रेक्षा भावना, (७) खिचड़ी रासा, (८) अनन्तचतुर्दशी चौपाई, (९) सुगन्ध दसमी कथा, (१०) आदिनाथ-शान्तिनाथ विनती, (११) समाधि रास, (१२) आदित्यवार कथा, (१३) चूनड़ी, (१४) योगीरासा, (१५) अनथमी, (१६) मनकरहा रास, (१७) वीर जिनेन्द्र गीत, (१८) रोहिणी व्रत रासा, (१९) ढमाल राजमती-नेमीसुर, (२०) सज्ञानीढमाल।

इनके अतिरिक्त आपकी तीन अन्य रचनाओं – अनेकार्थनाममाला, लघु सीता सतु और मृगांकलेखा चरित्र-का पता चला है। इसमें से प्रथम दो ग्रन्थों की हस्तलिखित प्रतियां 'पंचायती मन्दिर' देहली के शास्त्र भांडार में और अन्तिम ग्रन्थ की प्रति आमेर शास्त्र भांडार, जयपुर में सुरक्षित है। अनेकार्थ-नाममाला की रचना सं० १६८७ में आषाढ़ कृष्ण तृतीया गुरुवार के दिन श्रावण नक्षत्र में शाहजहां के शासनकाल में हुई थी।[2] इसी वर्ष 'लघु सीता सतु' भी लिखा गया। 'मृगांक लेखा चरित्र' अन्तिम रचना है। इसको हिसार नगर के

१. देखिए, अनेकान्त वर्ष ५, किरण १–२ (फरवरी–मार्च, १९४२) में परमानन्द शास्त्री का लेख, 'कविवर भगौतीदास और उनकी रचनाएँ, पृ० १४ से १७ तक।

२. सोलह सय रु सतासियइ, साढि तीज तम पाखि।
गुरु दिन श्रवण नखत्र भनि, प्राति जोगु पुनिमाखि ।।६६।।
साहिजहाँ के राजमहि, सिहरदि नगरमझारि।
अर्थ अनेक जु नाम की, माला भनिय विचारि ।।६७।।

भगवान् वर्धमान के मन्दिर में विक्रम सं० १७०० में अगहन शुक्ला पंचमी सोमवार के दिन पूर्ण किया था :—

'सतरह सय संवद तीद तहा विक्कमराय महिप्पए।
अगहण सिय पंचमि सोमदिणे, पुण्ण ठियउ अवियप्पए ॥१॥
ससिलेहा सुय वन्धु जे अहिउ कठिण जो आसि।
महुरी भासउ देसकरि भणिउ भगौतीदासि।५॥

(मृगांक लेखा चरित प्रशस्ति)

आपने सं० १६८० के गुटके में जहाँगीर के शासन का विवरण दिया है और 'अनेकार्थनाममाला' को शाहजहाँ के शासनकाल में लिखा था। इससे स्पष्ट है कि आपने दो मुगल बादशाहों—जहाँगीर (सं० १६६२-१६८४) और शाहजहाँ (सं० १६८५-१७१५) के शासन को प्रत्यक्ष रूप से देखा था। आपकी रचनाओं से यह भी विदित होता है कि आप माहेन्द्रसेन के शिष्य और अग्रवाल दिगम्बर जैनी थे।[1] पं० हीरानन्द ने सं० १७११ में 'पंचास्तिकाय' का हिन्दी पद्यानुवाद करते समय आपका उल्लेख ज्ञाता भगवतीदास नाम से किया है। इससे आपके सं० १७११ तक विद्यमान रहने की सूचना मिल जाती है : –

'तहाँ भगौतीदास है ज्ञाता'

(पंचास्तिकाय-प्रशस्ति ॥१०॥)

आपने सामान्य रूप से विविध विषयों पर और विशेष रूप से जैन धर्म के सम्बन्ध में काव्य रचना की थी। किन्तु आपकी एकाध रचना अध्यात्म सम्बन्धी भी है और वह अन्य जैन रहस्यवादी कवियों की कोटि की है। 'योगी-रासा' आपका विशुद्ध रहस्यवादी काव्य है, जिसमें सच्चे योगी के लक्षण और स्वरूप पर प्रकाश डाला गया है। एक स्थान पर आप कहते हैं :—

पेषहु हो! तुम पेपहु भाई, जोगी जगमहिं सोई।
घट घट अन्तर वसइ चिदानन्दु अलखु न लपई जाई ॥
भव बन भूलि रहयौ भ्रमिरावलु, सिवपुर सुधि विसराई।
परम अतिंदिय सिव सुख तजिकर, विषय न रहिउ भुलाई ॥

(योगीरासा)

'अनुप्रेक्षा भावना' में आपने संसार की अनित्यता का मार्मिक चित्र उपस्थित किया है। 'बनजारा' शीर्षक कविता में 'आत्मा' का एक बनजारे के रूप में वर्णन है। आत्मा, बनजारे के समान इस विश्व में भटकता रहता है। बनजारे का अपना कोई स्थायी निवास नहीं होता। आत्मा के लिए भी इस संसार में कोई स्थायी निवास नहीं है। स्वजन, परिजन, शरीर आदि के प्रति

---

१. गुरु मुणि माहिंदसेण—चरण नमि रासा कीया ॥
दास भगवती अगरवालि जिणपद मनु दीया ॥

उसका जो मोह और ममत्व है, वह क्षणिक है। यह चेतन-बनजारा काया-नगरी में निवास करता है।[1]

'श्री चूनरी' आपकी सुन्दर रचना है। इसकी एक हस्तलिखित प्रति स्थान मंगोरा, जिला मथुरा निवासी पं० वल्लभराम जी के पास सुरक्षित है।[2] कबीर ने काया को चादर कहा और भगवतीदास ने काया-चूनरी का रूपक बाँधा।

कवि चुनरी को जिनवर के रंग में रंगने के लिए लालायित है, जिससे आत्मा-सुन्दरी प्रियतम शिव को प्राप्त कर सके। सम्यकत्व का वस्त्र धारण कर, ज्ञान-सलिल के द्वारा पचीसों प्रकार के मल धोकर, सभी गुणों से मंडित सुन्दरी शिव से ब्याह करती है और तब उसके सामने जीवन-मरण का प्रश्न ही नहीं उठता :—

तुम्ह जिनवर देहि रंग इ हो विनवइ सषी पिया सिव सुन्दरी।
अरुण अनुपम माल हो मेरी भव जल तारण चूंनड़ी ॥२॥
समकित वस्त्र विसाहिले ज्ञान सलिल सग सेइ हो।
मल पचीस उतारि के, दिढिपन साजी देइ जी ॥ मेरी० ३ ॥
बड़ जानी गणधर तहाँ भले परोंसण हार हो।
सिव सुन्दरी के व्याह कौं सरस भई ज्यौंणार हो ॥ मेरी० ३० ॥
मुक्ति रमणि रंग स्यौं रमैं, वसु गुण मंडित सेइ हो।
अनन्त चतुष्टय सुष घणां जन्म मरण न ह होइ हो ॥ ३२ ॥
(श्री चूनरी)

भगवतीदास ने यह रचना सं० १६८० में बूडिए नामक स्थान में पूर्ण की थी। उस समय मुगल बादशाह जहाँगीर शासन कर रहा था।

सहर सुहावै बूडीए भणत भगौतीदास हो।
पढ़ै गुणै सो हृदै धरइ जे गावैं नर नारि हो ॥ मेरी० ३३ ॥
लिपै लिपावै चतुर ते उतरे भव पार हो ॥ मेरी० ३४ ॥
राजबली जहाँगीर के फिरइ जगत तस आँण हो।
शशि रस वसु विंदा धरहु संवत सुनहु सुजाण हो ॥ मेरी० ३५ ॥

॥ इति श्री चूनरी समाप्त ॥

---

१. चतुर बनजारे हो। नमणु करहु जिणराइ,
सारद पद सिर ध्याइ, ए मेरे नाइक को ॥
चतुर बनजारे हो। काया नगर मंझारि,
चेतनु बनजारा रहइ मेरे नाइक हो।
सुमति कुमति दो नारि, तिहि संग,
नेहु अधिक गहइ, मेरे नाइक हो ॥२॥
२. खोज रिपोर्ट (१६३८-४०)।

(११) रूपचन्द

रूपचन्द और पाण्डे रूपचन्द :

बनारसीदास के समकालीन कवियों में रूपचन्द का विशिष्ट स्थान है। किन्तु उनके व्यक्तित्व और परिचय के सम्बन्ध में कोई विशेष जानकारी अभी तक नहीं प्राप्त हो सकी है। रूपचन्द और पाण्डे रूपचन्द के सम्बन्ध में विद्वानों में कुछ भ्रम भी रहा है। प्रायः दोनों को एक ही व्यक्ति मान लिया गया है।[1] इसका प्रमुख कारण दोनों का समकालीन होना तथा दोनों का बनारसीदास से सम्बद्ध होना ही कहा जा सकता है।

लेकिन पांडे रूपचन्द और रूपचन्द भिन्न पुरुष थे। पांडे रूपचन्द विक्रम की १७वीं शताब्दी के अच्छे कवि थे। उन्हें संस्कृत भाषा का भी अच्छा ज्ञान था। आपने 'समवसरण' नामक पूजा-पाठ की एक पुस्तक की प्रशस्ति में अपना परिचय दिया है। उसके अनुसार आपका जन्मस्थान कुरु' नाम के देश में स्थित 'सलेमपुर' था। आप अग्रवाल वंश के भूषण गर्गगोत्री थे। आपके पितामह का नाम 'भामह' और पिता का नाम 'भगवानदास' था। भगवानदास की दो पत्नियां थीं। जिनमें प्रथम से ब्रह्मदास नामक पुत्र का जन्म हुआ था और दूसरी पत्नी से पाँच सन्तानें हुई थीं—हरिराज, भूपति, अभयराज, कीर्तिचन्द्र और रूपचन्द। रूपचन्द ही को प्रसिद्धि प्राप्त हो सकी। ये जैन सिद्धान्त के मर्मज्ञ विद्वान् थे। उन्होंने शिक्षार्जन हेतु बनारस की भी यात्रा की थी।[2]

भट्टारकीय पंडित होने के कारण आपको 'पाण्डे' की उपाधि से विभूषित किया गया था। यही पाण्डे रूपचन्द बनारसीदास के गुरु थे। 'अर्धकथानक' में बनारसीदास ने लिखा है :—

> 'आठ बरस कौ हुऔ बाल।
> विद्या पढ़न गयौ चटसाल॥
> गुरु पांडे सौं विद्या सिखै।
> अक्खर बांचै लेखा लिखै॥ ८६॥
>
> (अर्धकथानक, पृ० १०)

व्यापार करना बनारसीदास का पैतृक व्यवसाय था। इसी सम्बन्ध में उनको आगरा की भी यात्रा करनी पड़ी थी। व्यापार धन्धे में अनुभव न होने के कारण बनारसीदास को हानि उठानी पड़ी थी। यहाँ तक कि वे मूलधन भी गँवा बैठे

---

१. देखिए, कामता प्रसाद जैन—हिन्दी जैन साहित्य का संक्षिप्त इतिहास, पृ० १०७। राजकुमार जैन—अध्यात्मपदावली, पृ० ६४ और हिन्दी साहित्य (द्वि० खं०) सं० डा० धीरेन्द्र वर्मा में श्री अगरचन्द नाहटा का का लेख, जैन साहित्य, पृ० ४८२।

२. देखिए, अनेकान्त वर्ष १०, किरण २, (अगस्त १९४९) पं० परमानन्द शास्त्री का लेख 'पाण्डे' रूपचन्द और उनका साहित्य, पृ० ७७।

थे। वस्तुतः बनारसीदास की अभिरुचि धर्म और साहित्य की ओर थी। अतएव वे आगरा में अपना अधिकांश समय काव्य रचना और विद्वानों की बैठक में ही व्यतीत करते थे। सम्वत् १६९२ में अनायास इनके गुरु पाण्डे रूपचन्द का आगरा आगमन हुआ। पाण्डे रूपचन्द ने आकर तिहुना साहु नामक व्यक्ति के यहाँ डेरा डाला।[1] इनके आगमन से बनारसीदास को काफी प्रोत्साहन मिला। वे अन्य अध्यात्म प्रेमी जैनियों के साथ वहां प्रायः जाने लगे और पाण्डेजी से 'गोम्मटसार' नामक प्रसिद्ध ग्रन्थ की व्याख्या सुनी :—

तिहुना साहु देहरा किया।
तहां आइ तिन डेरा लिया॥
सब अध्यातमी कियो विचार।
ग्रन्थ बचायौ गोमटसार॥ ६३१॥
(अर्धकथानक, पृ० ५८)

उनके द्वारा स्याद्वाद की व्याख्या सुनकर तथा जैन सिद्धान्तों एवं दार्शनिक ग्रन्थों को सुन कर बनारसीदास की जैनधर्म के प्रति भक्ति और अधिक दृढ़ हो गई। लेकिन यह साथ अधिक दिन तक नहीं रह सका। दैवयोग से दो वर्ष बाद ही सम्वत् १६९४ में पाण्डे रूपचन्द की मृत्यु हो गई।[2]

रूपचन्द का विस्तृत विवरण ज्ञात नहीं है। बनारसीदास के 'नाटक समयसार' में इनका उल्लेख मिलता है। १७ वीं शताब्दी में आगरा जैन विद्वानों का केन्द्र था। रूपचन्द भी आगरावासी थे तथा बनारसीदास के मित्रों में से थे। बनारसीदास ने अपने पांच मित्रों का उल्लेख किया है और बताया है कि उनके साथ बैठकर प्रायः ज्ञान चर्चा हुआ करती थी :—

नगर आगरा मांहि विख्याता,
कारन पाइ भये बहु ज्ञाता।
पंच पुरुष अति निपुन प्रबीने,
निशिदिन ज्ञान कथा रस भीने॥ १०॥
रूपचन्द पंडित प्रथम, दुतिय चतुर्भुज नाम।
तृतिय भगौतीदास नर, कौंरपाल गुनधाम॥ ११॥

---

१ सोलह सै बानवे लौं, कियौ नियत रस पान।
पै कवीसुरी सब भई, स्याद्वाद परवान॥ ६२६॥
अनायास इस ही समय, नगर आगरे थान।
रूपचन्द पंडित गुनी, आयौ आगम जान॥ ६३०॥
(बनारसीदास - अर्धकथानक, पृ० ५७)

२. तब बनारसी औरै भयो, स्याद्वाद परिनति परिनयौ।
पांडे रूपचन्द गुरु पास, सुन्यो ग्रन्थ मन भयो हुलास। ६३४॥
फिरि तिस समै बरस द्वै बीच, रूपचन्द को आई मीच।
सुनि सुनि रूपचन्द के बैन, बानारसी भयौ दिढ़ जैन॥ ६३५॥
(बनारसीदास—अर्धकथानक, पृ० ५८)

धर्मदास ये पंचजन, मिलि बैसें इक ठौर।
परमारथ चरचा करें, इनके कथा न और॥ १२॥

श्री नाथूराम जी प्रेमी ने भी रूपचन्द को पाण्डे रूपचन्द से भिन्न माना है। बनारसीदास के 'अर्धकथानक' की परिशिष्ट में आपने लिखा है कि 'पाण्डे रूपचन्द और पं० रूपचन्द नाम के दो विद्वानों का पता चलता है। जिनमें से एक तो वे हैं, जिनका बनारसीदास जी ने अपने गुरु के रूप में उल्लेख किया है और जिनके पास उन्होंने गोमटसार का अध्ययन किया था। उन्होंने तिहुना साहु के मन्दिर में आकर डेरा लिया था, इससे भी इस अनुमान की पुष्टि होती है। दूसरे रूपचन्द का उल्लेख बनारसीदास ने अपने 'नाटक समयसार' में अपने पाँच साथियों में से एक के रूप में किया है, जिनके साथ वे निरन्तर परमार्थ की चर्चा किया करते थे।'[1]

पांडे रूपचन्द्र ने कितने ग्रन्थों की रचना की और रूपचन्द कृत कौन-कौन से ग्रन्थ हैं? इस विषय पर भी काफी भ्रम रहा है। प्राय: एक की रचना को दूसरे की रचना मान लिया गया है। इन रचनाओं में कहीं पर रचना काल भी नहीं दिया गया है। इससे कर्ता का विभेद और कठिन हो जाता है। और फिर जिन विद्वानों ने एक ही रूपचन्द के अस्तित्व को स्वीकृति दी, उनके समक्ष कर्ता का प्रश्न ही नहीं उठा। 'जैन हितैषी' में दिगम्बर जैन ग्रन्थ कर्ताओं की सूची प्रकाशित हुई है। उसमें रूपचन्द और उनकी रचनाओं का विवरण इस प्रकार दिया हुआ है।[2]

(१) रूपचन्द (पंडित)—श्रावक प्रायश्चित, समवसरणपूजा, शील कल्याणकोद्यान।
(२) रूपचन्द पांडे (बनारसीदास के समकालीन) परमार्थीदोहाशतक, गीता परमार्थी (पद जकड़ी) पंचकल्याण मंगल।
(३) रूपचन्द (द्वितीय) बनारसीकृत नाटक समयसार की टीका, (सं० १७९८)

इस विवरण से यह प्रश्न उठता है कि क्या रूपचन्द नाम के तीन व्यक्ति थे? और यदि तीन व्यक्ति एक ही नामधारी थे तो उनमें किसने, किस ग्रन्थ की और कब रचना की? उक्त विवरण में 'रूपचन्द पांडे' के नाम से जो पुस्तकें गिनाई गई हैं, वह सही नहीं हैं, क्योंकि परमार्थीदोहाशतक, गीत परमार्थी और पंच कल्याण मंगल की जो हस्तलिखित प्रतियाँ प्राप्त हुई हैं, उसमें कर्ता का नाम केवल 'रूपचन्द' दिया हुआ है। 'पांडे' शब्द का उल्लेख कहीं नहीं है। इन ग्रन्थों के अतिरिक्त 'अध्यात्म सवैया' 'खटोलना गीत' तथा कुछ फुटकर पद और प्राप्त

---

१. बनारसीदास—अर्धकथानक, पृ० ७८।
२. जैन हितैषी—सं० श्री नाथूराम प्रेमी, प्र० श्री जैन ग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय; हीराबाग, पो० गिरगाँव, बम्बई। अंक ५६, पृ० ५५ और अंक ७।८ पृ० ४९ (फाल्गुन—चैत्र, वीर नि० सं० २४३६) (वैशाख—ज्येष्ठ, वी० नि० सं० २४३६)।

हुए हैं। इनमें भी कर्ता का नाम केवल 'रूपचन्द' ही दिया हुआ है। यदि रूपचन्द, 'पाण्डे रूपचन्द' होते तो कवि ने जहाँ जहाँ पर अपना नामोल्लेख किया है, उसमें कहीं न कहीं 'पाण्डे' का भी प्रयोग करता अथवा कम से कम किसी लिपिकार ने उनके नाम के पूर्व 'पांडे' शब्द का प्रयोग अवश्य किया होता।

'समवसरणपूजा' अथवा 'केवलज्ञान कल्याणचर्चा 'पांडे रूपचन्द' की रचना है, क्योंकि इस ग्रन्थ की प्रशस्ति में कवि ने जो अपना परिचय दिया है, उसमें 'पांडे' शब्द का उल्लेख है। बहुत सम्भव है कि पांडे रूपचन्द ने संस्कृत में ही ग्रन्थों की रचना की हो और 'श्रावक प्रायश्चित' तथा 'शीलकल्याणकोद्यान' भी पांडे रूपचन्द की ही रचनाएँ हों।

बनारसीदास के 'नाटक समयसार' के टीकाकार 'रूपचन्द' से समस्या और भी उलझ जाती है। इस टीका का रचनकाल सं० १७९८ बताया गया है। दिसम्बर सन् १८७६ में भीमसी मणिक ने 'प्रकरण रत्नाकर' के दूसरे भाग में बनारसीदास के 'समयसार नाटक' को गुजराती टीका सहित प्रकाशित किया था। उसके प्रारम्भ में लिखा है कि "इन ग्रन्थ की व्याख्या कोई रूपचन्द नामक पंडित ने की है, जो हिन्दुस्तानी भाषा में होने के कारण सबकी समझ में नहीं आ सकती। इसलिए उसका आश्रय लेकर हमने गुजराती में व्याख्या की है।" व्याख्याकर्ता ने आदि में यह मंगलाचरण दिया है :—

"श्री जिन बचन समुद्र कौ, कौं लगि होइ बखान।
रूपचन्द तौहू लिखे, अपनी मति अनुमान।।"

श्री नाथूराम प्रेमी का अनुमान है कि यह टीका 'बनारसीदास' के साथी रूपचन्द की होगी, गुरु रूपचन्द की नहीं।[१] 'नाटक समयसार' के टीकाकार का बनारसीदास का समकालीन होना सम्भव नहीं है, क्योंकि बनारसीदास के समय और ग्रन्थ के टीकाकाल में काफी अन्तर पड़ जाता है। बनारसीदास का समय सं० १६४३ से सं० १७०१ तक माना जाता है। बनारसीदास के साथी रूपचन्द, उनके समवयस्क अथवा अधिक से अधिक आयु में दस पाँच वर्ष ही छोटे होंगे। इस प्रकार सं० १७०१ में रूपचन्द की आयु ५० वर्ष से कम नहीं रही होगी (बनारसीदास उस समय ५८ वर्ष के थे।) यदि इस सम्भावना को सत्य मान लिया जाय तो 'नाटक समयसार' की टीका के समय उनकी आयु १४७ वर्ष की हो जाती है। रूपचन्द इतने अधिक वर्ष जीवित रहे होंगे, इस पर सहसा विश्वास नहीं किया जा सकता।

श्री अगरचन्द नाहटा ने अपने लेख 'समयसार के टीकाकार विद्वद्वर रूपचन्द'[२] में टीकाकार का जो विस्तृत परिचय दिया है, उससे तीसरे रूपचन्द महोपाध्याय रूपचन्द का अस्तित्व प्रकाश में आया है। ये रूपचन्द बनारसीदास

१. देखिए, बनारसीदास—अर्धकथानक की परिशिष्ट, पृ० ७६।
२. देखिए, अनेकान्त वर्ष १२, किरण ७, दिसम्बर १९५३, पृ० २२८ से २३० तक।

के परवर्ती थे। इनका जन्म सं० १७४४ और मृत्यु सं० १८३४ है। इनकी अनेक रचनाएँ यती बालचन्द जी के संग्रह में सुरक्षित हैं। उपलब्ध रचनाओं में समुद्र बद्ध कवित्त, गौतमीयकाव्य, सिद्धान्त चन्द्रिका वृत्ति, गुण माला प्रकरण, हेमीनाम माला तथा अमरुशतक, भर्तृहरि शतकत्रय, लघुस्तवन, भक्तामर, कल्याण मंदिर, शत श्लोकी सन्निपात कालिका आदि संस्कृत ग्रन्थों की भाषा टीका प्रमुख हैं। इन टीकाओं के अतिरिक्त इनकी एक अन्य रचना 'जिन सुखसूरि मजलस' का भी पता चला है। इसका दूसरा नाम 'द्वावैत' भी है।[1] इन रचनाओं में आपने अपना परिचय भी दिया है, जिसके अनुसार आपका वंश ओसवाल व गोत्र आचलिया था। आचलिया गोत्र के व्यक्ति बीकानेर के अनेक गाँवों में अब भी रहते हैं। इसी आधार पर नाहटा जी का अनुमान है कि रूपचन्द बीकानेर के रहने वाले थे। महोपाध्याय रूपचन्द ने अपनी रचनाओं में गुरु-परम्परा का उल्लेख करते हुए अपने को क्षेम शाखा के शान्तिहर्ष के शिष्य, वाचक सुखवर्धन के शिष्य, वाणारस दयासिंह का शिष्य बतलाया है।

नाहटा जी की इस खोज से स्पष्ट है कि 'नाटक समयसार' के टीकाकार बनारसीदास के परवर्ती और तीसरे रूपचन्द थे। ये संस्कृत, हिन्दी आदि भाषाओं के ज्ञाता थे, मौलिक ग्रन्थों की रचना के साथ, कुछ प्रमुख ग्रन्थों की टीका लिखा था।

इस प्रकार रूपचन्द जी, पाण्डे रूपचन्द से आयु में छोटे और महोपाध्याय रूपचन्द के पूर्ववर्ती सिद्ध होते हैं। उनके द्वारा रचित उपलब्ध ग्रन्थों का विवरण इस प्रकार है :—

रचनाएँ :

(१) पंच मंगल या 'मंगल गीत प्रबन्ध'—एक छोटी-सी रचना है। यह जैन साहित्य प्रसारक कार्यालय, बम्बई से प्रकाशित भी हो चुकी है।

(२) परमार्थ दोहा शतक या दोहा परमार्थ—इसमें १०१ दोहा छन्द हैं। इसकी एक हस्तलिखित प्रति लूणकर जी के मन्दिर जयपुर, दूसरी प्रति बड़े मन्दिर जयपुर तथा तीसरी प्रति बधीचन्द मन्दिर के शास्त्र भाण्डार जयपुर में सुरक्षित है।[2] आमेर शास्त्र भाण्डार (जयपुर) के गुटका नं० ४० वेष्टन नं० ३७१ में 'दोहा परमार्थ' की एक अन्य प्रति मुझे देखने को मिली। बधीचन्द मन्दिर की प्रति भी मुझे प्राप्त हो गई है। इसके प्रारम्भ में 'दोहा परमार्थ रूपचन्द कृत' लिखा है और अन्त में 'इति रूपचन्द कृति दोहा परमार्थ

---

१. हिन्दी साहित्य (द्वितीय खंड) सं० डा० धीरेन्द्र वर्मा, पृ० ४६६,

२. देखिए—राजस्थान के जैन शास्त्र भाण्डारों की ग्रन्थ सूची (द्वि० भाग) पृ० ७३ और १६०।

सम्पूर्ण' लिखा है। अन्तिम १०१ नं० के दोहे में कवि ने अपना नाम भी दे दिया है।[1]

रूपचन्द सद्गुरन की जन बलिहारी जाइ।
आपुन जे सिवपुर गए, भव्यन पंथ लगाइ ॥ १०१ ॥

'दोहापरमार्थ' के प्रारम्भिक दोहों में कवि ने विषय वासना की अनित्यता, क्षणभंगुरता और असारता का वर्णन किया है। प्रत्येक दोहे के प्रथम चरण में कवि ने विषय जनित दुःख तथा उसके उपभोग जनित असन्तोष का वर्णन किया है और दूसरे चरण में उपमा अथवा उदाहरण के द्वारा उसकी पुष्टि की है। जैसे :—

विषयन सेवत हउ भले, तृष्णा तउ न बुझाइ।
जिमि जल खारा पीवतइ, वाढ़इ तिस अधिकाइ ॥४॥
विषयन सेवत दुःख वढ़इ, देखहु किन जिय जोइ।
खाज खुजावत ही भला, पुनि दुःख दूनउ होइ ॥६॥
सेवत ही जु मधुर विषय, करुए होहिं निदान।
विष फल मीठे खात के, अंतहिं हरहिं परान ॥११॥

विषय सुखों की अवास्तविकता का रहस्योद्घाटन करने के पश्चात् कवि 'सहज सुख' का वर्णन करता हैं, जिसके प्राप्त होने पर सभी प्रकार के अभावों का तिरोभाव हो जाता है और आत्मा परमसुख का अनुभव करता है। कवि चेतन जीव को सचेत करता है कि सहज सलिल के बिना पिपासा शान्त नहीं हो सकती :—

चेतन सहज सुख ही बिना, इहु तृष्णा न बुझाइ।
सहज सलिल बिन कहहु, क्यउ उसन प्यास बुझइ ॥३०॥

वस्तुतः आत्मा सर्वव्यापी है तथा उसकी स्थिति शरीर मे भी है। कवि ठीक कबीर की ही शैली में कहता है कि जिस प्रकार पत्थर में सुवर्ण होता है, पुष्प में सुगन्ध होती है, तिल में तेल होता है, उसी प्रकार आत्मा प्रत्येक घट में विद्यमान रहता है।[2] किन्तु जीव पौद्गलिक पदार्थों में इतना फँस जाता है कि वह इस सत्य से अवगत नहीं हो पाता। वह शरीर और आत्मा में अन्तर ही

---

१. 'परमार्थ दोहाशतक' को श्री नाथूराम प्रेमी ने 'जैन हितैषी' में 'रूपचन्द शतक' (कविवर रूपचन्द कृत परमार्थी दोधक वा दोहा) नाम से प्रकाशित किया है। इस प्रति के अन्त में लिखा है 'इति रूपचन्द कृत दोहरा परमार्थिक समाप्त' देखिए—जैन हितैषी, अंक ५-६, पृ० १२ से २१ तक।

२. पाहन माहि सुवर्ण जउँ, दारु विषय अंत भोजु।
तिम तुम व्यापक घट विषइ, देखहु किन करि खोजु ॥५४॥
पुष्पन विषइ सुवास जिम, तिलन विषइ जिम तेल।
तिम तुम व्यापक घट विषइ, निज जानइ दुहु खेल ॥५५॥

नहीं कर पाता। शरीर को ही आत्मा समझने लगता है और उसे ही सभी सुखों का आधार मानने लगता है। वह शरीर और आत्मा में अभिन्न सम्बन्ध स्थापित कर लेता है। अतएव जब तक स्व-पर विवेक नहीं जागृत होता, तब तक जीव और पुद्गल का अंतर बना रहता है।[1] जब तक साधक चेतन की सत्ता से अवगत नहीं हो जाता, तब तक सभी क्रियाएँ निष्फल हैं। जप-तप आदि बाह्याचार उसी प्रकार निरर्थक हैं, जिस प्रकार कण के बिन तुष का कूटना अथवा शालि विहीन खेत में पानी देना।[2] केवल पुस्तकीय ज्ञान से भी सम्यक् ज्ञान की प्राप्ति नहीं हो सकती। साधक को साधना के पथ में गुरु का सहयोग नितान्त रूप से वांछनीय है। गुरु की कृपा के बिना भवसागर से उद्धार नहीं हो सकता।[3] गुरु ही जीव और अजीव पदार्थों में भेद स्थापित करता है। इस प्रकार आपने गुरु के महत्व को अविकल रूप से स्वीकार किया है।

(३) गीतपरमार्थी अथवा परमार्थ गीत—यह एक छोटी सी रचना है। इसमें १६ पद हैं। इसकी एक हस्तलिखित प्रति आमेरशास्त्र भांडार के गुटका नं० ५४ में सुरक्षित है। सभी पद आध्यात्मिक हैं। जीव को उद्बोधन दिया गया है। उसे माया मोह आदि से सचेत किया गया है। प्रारम्भ में लिखा है 'परमार्थ गीत रूपचन्द'। पहला पद इस प्रकार है :—

> चेतन हो चेत न चेतऊ काहिन हो।
> गाफिल होइ व कहा रहे विधिवस हो॥
> ....चेतन हो ॥१॥

(४) नेमिनाथ रास[4]—अभी तक अप्रकाशित है। इसमें २२ वें तीर्थङ्कर नेमिनाथ के चरित्र का वर्णन है।

---

१. खीर नीर ज्यूं मिलि रहे, कउन कहइ तनु अउरु।
   तुम चेतन समुझत नहीं, होत मिले मैं चउरु ॥४०॥
   स्व पर विवेक नहीं तुम्हइ, परसउ कहत जु आपु।
   चेतन मति विभ्रम भए रज्जु विषइ ज्यउं सापु ॥४१॥

२. चेतन चित परिचइ बिना, जप तप सबइ निरत्थु।
   कण बिन तुष जउं फटकतइ, आवइ कछू न हत्थु ॥८६॥
   चेतन स्यउं परचउ नहीं, कहा भए व्रत धारि।
   सालि विहूना खेत की, वृथा बनावति वारि ॥८७॥

३. ग्रन्थ पढ़ै अरु तप तपै, सहै परीसह साहु।
   केवल तत्व पिछान बिनु, कहूँ नहीं निरवाहु ॥६४॥
   गुरु बिन भेद न पाइय, को पर को निज वस्तु।
   गुरु बिन भवसागर विषइ, परत गहइ को हस्त ॥६७॥

४. पं० परमानन्द शास्त्री ने अपने लेख 'पाण्डे रूपचन्द और उनका साहित्य' में इस ग्रंथ की सूचना दी है। यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि रचना रूपचन्द की है या पाण्डे रूपचन्द की। शास्त्री जी ने एक रूपचन्द का ही अस्तित्व स्वीकार किया है और सभी रचनाओं को 'पाण्डे

(५) अध्यात्म सवैया - यह १०१ कवित्त, सवैया छन्दों में लिखा गया है। इसकी एक प्रति बधीचन्द मंदिर (जयपुर) से प्राप्त हुई है। एक अन्य प्रति ठोलियों के मंदिर (जयपुर) में सुरक्षित है।[1] प्राय: सभी छन्दों में अध्यात्म की चर्चा की गई है। विश्व की स्थिति, जीव के स्वरूप तथा उसकी वर्तमान दशा पर अच्छा प्रकाश डाला गया है। कुछ छन्दों में जैन धर्म के सिद्धान्तों की प्रशंसा भी की गई है। रचना के अंत में लिखा है– 'इति श्री अध्यातम रूपचन्द कृत कवित्त समाप्त।'

यह जीव महासुख की शय्या का त्याग करके, किस प्रकार पर क्षणिक सुख (विषय सुख) के लोभ में आकर भटकता रहता है और अनेक प्रकार के कष्टों को सहन करता रहता है? इन कष्टों का निवारण 'समिता रस' द्वारा ही सम्भव है। इसकी एक झलक निम्नलिखित सवैया में मिल जाती है :—

> भूल गयौ निज सेज महासुख, मान रह्यौ सुख सेज पराई।
> आस हुतासन तेज महा जिहि सेज अनेक अनंत जराई॥
> कित पूरी भई जु मिथ्यामत्ति की हृति भेद विग्यान घटा जु भराई।
> उमग्यौ समिता रस मेघ महा, जिह वेग ही आस हुतास सिराई ॥८२॥

कवि का यह भी विश्वास है कि जीव अपने कर्मों के कारण ही पौद्गलिक पदार्थों में फँस गया है और अपने स्वरूप को भूल गया है। किसी दूसरे व्यक्ति अथवा वस्तु के द्वारा इसको भ्रम में नहीं डाला गया है और न दूसरों के द्वारा इसका उद्धार ही हो सकता है। जीव स्वयं मिथ्यात्व का विनाश करके अपने में स्थित परमात्मा का दर्शन कर सकता है :—

> काहू न मिलायौ जीव करम संजोगी सदा।
> छीर नीर पाइयौ अनादि ही की धरा है॥
> अमिल मिलाय जड़ जीव गुन भेद न्यारे।
> न्यारे पर भाव परि आप ही में धरा है।
> काहू भरमायौ नाहि, भम्यो भूल अपान ही।
> आपनै प्रकास थै विभाव भिन्न धरा है॥
> साचौ अविनासी परमातम प्रकट भयौ।
> नास्यौ है मिथ्यात वस्यौ जहाँ ग्यान धरा है॥६५।

रूपचन्द ने फुटकर पदों की भी रचना की है, लेकिन इनकी संख्या निश्चित नहीं है। जयपुर के विभिन्न शास्त्र भांडारों में अब तक ६२ पद प्राप्त हो चुके हैं। इनको शीघ्र ही 'श्री दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र जी महावीर जी जयपुर' से प्रकाशित किया जा रहा है। इसी प्रकार अभय जैन ग्रन्थालय बीकानेर में रूपचन्द

रूपचन्द' लिखित बताया है। देखिए—अनेकान्त, वर्ष १०, किरण २, (अगस्त १६४६)

१. राजस्थान के जैन शास्त्र भांडारों की ग्रंथ सूची (भाग ३) की भूमिका, पृ० १८।

के ६९ पद प्राप्त हुए हैं। ये पद एक गुटका में संग्रहीत हैं। गुटका का लेखन काल १७ वीं शताब्दी है। इनमें से कुछ पद और जयपुर के शास्त्र भांडारों के पद एक ही हैं। अतएव दोनों स्थानों की प्रतियों के आधार पर इनके प्रकाशन की आवश्यकता है। ये पद विभिन्न विषयों से सम्बन्धित हैं। लेकिन अधिकांश पद अध्यात्म सम्बन्धी हैं। कवि को बाह्याडम्बर में बिल्कुल विश्वास नहीं था। वह विभिन्न प्रकार के वेषधारी तथाकथित साधुओं का घोर विरोधी था। ये वेषधारी और विभिन्न सम्प्रदायों के जन्मदाता किस प्रकार आत्म-तत्व से अनभिज्ञ रहते हैं, इसको कवि ने निम्नलिखित पद में स्पष्ट किया है :—

[2]औरन सौं रंग न्यारा न्यारा, तुम सूं रंग करारा है।
तू मन मोहन नाथ हमारा, अब तो प्रीति तुम्हारा है ॥१।

जोगी हुवा कान फंडाया, मोटी मुद्रा डारी है।
गोरख कहै त्रसना नहीं मारी, घरि घरि तुम चो न्यारी है ॥२॥ औरन० ॥

जग मे आवै बाजा बजावै, आछी तान मिलावे है।
सबका राम सरीखा जान्या, काहे को भेप लजावे है ॥ ३॥ औरन० ॥

जती हुआ इन्द्री नहीं जीती, पंचभूत नहि मार्‌या है।
जीव अजीव को समझा नाहीं भेष लेई करि हार्‌या है ॥ ४ ॥ औरन० ॥

वेद पढ़ै अरु बराभन कहावै, बरम दस नहीं पाया है।
आत्म तत्व का अरथ न समज्या, पोथी का जनम गुमाया है ॥ ५ ॥
॥औरन०॥

जंगल जावे भस्म चढ़ावै, जटा व धारी कैसा है।
परभव की आसा नहि मारी, फिर जैसा का तैसा है ॥ ६ ॥ औरन० ॥

काजी किताब को खोलि के बैठे, क्या किताब में देख्या है।
बकरी की तो दया न आनी, क्या देवैगा लेखा है ॥ ७ ॥ औरन० ॥

जिन कञ्चन का महल बनाया, उनमें पीतल कैसा है।
डरे गरे में हार हीरे के, सब जुग का जी कहता है ॥ ८ ॥ औरन० ॥

रूपचन्द रंग मगन भया है, नेम निरंजन धारा है।
जनम मरण का डर नहीं वाकु चरना सरन हमारा है ॥ ९ ॥ औरन० ॥

रूपचन्द की एक अन्य छोटी रचना 'खटोलना गीत' जयपुर के आमेर शास्त्र भांडार में सुरक्षित है। इसका उल्लेख पं० परमानन्द शास्त्री ने भी अपने एक लेख में किया है।[3] यह १३ पद्यों का एक रूपक काव्य है। रूपक इस प्रकार

---

१. अगरचन्द नाहटा—राजस्थान में हिन्दी के हस्तलिखित ग्रन्थों की खोज (चतुर्थ भाग) पृ० १४६।

२. छाबड़ों का मन्दिर, जयपुर, के गुटका नं० ३७ की हस्तलिखित प्रति से।

३. देखिए—अनेकान्त, वर्ष १०, किरण २ (अगस्त १९४९) पृ० ७९।

है। संसाररूपी मन्दिर में एक खटोला है, जिसमें कोपादि चार पग हैं, काम और कपट का मिरवा तथा चिन्ता और रति की पाटी लगी है। वह अविरति के बानों से बुना हुआ है और उसमें आशा की अडवाइनि लगाई गई है। मन रूपी बढ़ई ने विविध कर्मों की सहायता से इसका निर्माण किया है। जीव रूपी पथिक इस खटोलना पर अनादि काल से लेटा हुआ मोह की गहरी निद्रा में सो रहा है, पांच चोरों ने उसकी सम्पत्ति को भी चुरा लिया है। मोह-निद्रा के न टूटने के कारण ही जीव को निर्वाण नहीं प्राप्त हो रहा है। चतुर जन ही गुरु कृपा से जाग पाते हैं। जगने पर काल रात्रि का अन्त हो जाता है, सम्यकत्व का विहान होता है, विवेकरूपी सूर्य का उदय होता है, भ्रान्तिरूपी तिमिर का विनाश हो जाता है। साधक तीनों गुप्त रत्नों (सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चरित्र) को प्राप्त कर लेता है, खटोलना का परित्याग कर देता है और शिव देश को गमन करता है। शिव देश कैसा है? वह सिद्धों का सदैव से निवास स्थान रहा है। वहाँ पहुंचने पर साधक सहज-समाधि द्वारा परम सुखामृत का पान करता है, जरा मरण के भय से मुक्त हो जाता है। अन्त में कवि ऐसे ही सिद्धों की विनय करता है और स्वयं 'जगने' की कामना करता है[1]:—

'रूपचन्द जन वीनवे, हूजौ तुव गुण लाहु।
ते जागा जे जागसी, तेहउ वंदउ साहु ॥१३॥

इसके अतिरिक्त काशी नागरी प्रचारिणी सभा की खोज रिपोर्ट (१९३८-४०) से रूपचन्द की चार रचनाओं—विनती, पंचमंगल तपकल्याणक और ज्ञानकल्याणक का पता चला है। इनमें से पंचमंगल का उल्लेख पहले ही हो चुका है। शेष तीन रचनाओं में से 'विनती' में जिन भगवान की स्तुति की गई है। इसमें केवल १० पद हैं। इसकी हस्तलिखित प्रति इटावा के लाला शंकरलाल के पास सुरक्षित है। 'तपकल्याणक' में भी दस पद हैं। इसमें जिनदेव के तप करने का वर्णन है। इसकी एक प्रति इटावा के पं० भागवत प्रसाद के पास सुरक्षित है। ज्ञानकल्याणक में जिनराज के ज्ञानोपदेश का वर्णन है। इसमें बारह पद हैं। इसकी एक प्रति इटावा निवासी पं० भागवत प्रसाद के पास सुरक्षित है[2]।

इन रचानाओं से स्पष्ट है कि रूपचन्द जी एक प्रतिभा सम्पन्न, अध्यात्म प्रेमी कवि थे। वे मुनि योगीन्दु, मुनि रामसिंह और बनारसीदास के समान ही परमात्म लाभ के लिए साधना पक्ष पर जोर देते थे। वे चित शुद्धि के समर्थक थे और वाह्याडम्बर के विरोधी थे।

---

१. रचना परिशिष्ट में संलग्न है।

२. हस्तलिखित हिन्दी ग्रन्थों का सत्रहवाँ त्रैवार्षिक विवरण, पृ० ३२५ से ३३१ तक।

(१२) ब्रह्मदीप

ब्रह्मदीप खोज में प्राप्त नए कवि हैं। इनकी दो रचनाओं—अध्यात्म बावनी और मनकरहाराम की हस्तलिखित प्रतियाँ जयपुर के भिन्न भिन्न शास्त्र भाण्डारों से प्राप्त हुई हैं। इनके अतिरिक्त कुछ फुटकल पद भी प्राप्त हुए हैं।

'अध्यात्म बावनी' (ब्रह्म विलास) कुछ बड़ी रचना है। इसमें ७७ दोहा-चौपाई छन्द हैं। इसकी एक हस्तलिखित प्रति लूणकरण जी पाण्डया मन्दिर (जयपुर) के गुटका नं० १८८ से प्राप्त हुई है। इसके आरम्भ में अरहन्तों और सिद्धों की वन्दना है। इसके पश्चात् हिन्दी के वर्णों के क्रम से आत्मा, परमात्मा, मोक्ष, सहज साधना आदि का वर्णन है। जैसे :—

'झझा झझडि कीए नहिं पावै,
　　झगड़ा छोड़ि सहज नहि आवै।
सहज जि सहज मिलै सुख पावै।
　　छूटै झूठ ध्यान मनि लावै ॥२६॥
नना नहि कोई आपणौं,
　　घरु परिग्रणु तणु लोइ।
जिहि अवारइ घटि बसै,
　　सो हम अप्पा जोइ ॥२८॥

अन्तिम अंश इस प्रकार है :—

'अंछर धातु न विपये,
　　किथितं वृम्ह विलास ॥७७॥
॥ इति वृम्हदीप कृत अध्यात्म बावनी समाप्त ॥
॥ इत्यलम् ॥

'मनकरहारास' आपकी दूसरी रचना है। इसमें २० पद हैं। इसकी एक हस्तलिखित प्रति आमेर शास्त्र भाण्डार के गुटका नं० २९२।५४ से प्राप्त हुई है। इस गुटके का लेखन काल सं० १७७१ है। इससे अनुमान होता है कि ब्रह्मदीप का आविर्भाव काल १८ वीं शताब्दी के पूर्व होगा।

जैन कवियों ने मन को करहा या करभ मानकर भव-बन में लगी हुई विष बेलि को न खाने का उपदेश दिया है। मुनि रामसिंह के 'दोहापाहुड' में अनेक दोहों में 'मनकरहा' रूपक का प्रयोग हुआ है। भगवतीदास ने 'मनकरहा' नामक स्वतन्त्र ग्रन्थ की रचना १७ वीं शताब्दी में की थी। इसी प्रकार ब्रह्मदीप ने भी 'मन' को करभ मानते हुए 'विश्व वन' में लगी हुई विष बेलि को न खाने का उपदेश दिया है। आरम्भ का अंश इस प्रकार है :—

'श्री वीतरागाय नमः
मनकरहा भव बनि मा चरइ
　　तदि विष वेल्लरी बहूत।
तहं चरंतहं बहु दुख पाइयउ
　　तब जानहि गौ मीत ॥ मन० ॥१॥

अरे पंच पयारह तूं रुलिउ,
नरक निगोद मझारी रे।
तिरिय तने दुख ते सहै,
नर सुर जोनि मझारी रे॥ मन० ॥२॥

अन्त में कवि ने कहा है कि उसने भीमसेन टोडरमल के जिन चैत्यालय में आकर 'मनकरहारास' की रचना की :—

'भीमसेणि टोडउ मल्लउ,
जिन चैत्यालय आइ रे।
ब्रह्मदीप रासौ रचो,
भवियहु हिए समाइ रे॥ मन० २०॥

इति मनकरहा समाप्त

'टोडा भीम' नामक स्थान राजस्थान के भरतपुर जनपद में है तथा चारों ओर से पर्वतमालाओं से घिरा हुआ प्राचीन स्थान है। इससे यह तो स्पष्ट ही हो जाता है कि ब्रह्मदीप ने राजस्थान का भ्रमण किया था। उनकी भाषा पर राजस्थानी प्रभाव देककर यह भी अनुमान किया जा सकता है कि सम्भवतः वे राजस्थान के ही रहने वाले हों।

आमेर शास्त्र भाण्डार के विभिन्न गुटकों में आपके कुछ फुटकल पद भी सुरक्षित हैं। ऐसे प्राप्त पदों की संख्या दस है। किन्तु खोज से अधिक पद प्राप्त होने की आशा है। ये पद आपकी अध्यात्म साधना के प्रतीक हैं। आपका कहना है कि सच्चा योगी वह है, जो बाह्याडम्बरों में न फँसकर शुद्ध निरंजन का ध्यान करता है, अहिंसा व्रत का पालन करता है, ध्यान रूपी अग्नि और वैराग्य रूपी पवन की सहायता से कर्म रूपी ईंधन को जला देता है, मन को गुप्त गुहा में प्रवेश कराकर सम्यकत्व को धारण करता है, पंच महाव्रत की भस्म और संयम की जटाएं धारण करता है, सुमति ही जिसकी मुद्रा है और जो शिवपुर में भिक्षा प्राप्त करता है, घट के भीतर ही अपना दर्शन करता है और गुरु-शिष्य के जाल में नहीं पड़ता है :—

'औधू सो जोगी मोहि भावै। सुद्ध निरंजन ध्यावै॥
सील हुडं सुरतर समाधि करि, जीव जंत न सतावै।
ध्यान अगनि वैराग पवन करि, इंधण करम जरावै॥ औधू० १॥
मन करि गुपत गुफा प्रवेश करि, समकित सींगी बावै।
पंच महाव्रत भसम साधि करि, संजम जटा धरावै॥ औधू० २॥
ग्यान कछोटा दो कर खप्पर, दया धारणा धावै।
सुमति गुपति मुद्रा अनुपम सिवपुर भिख्या लावै॥ औधू० ३॥
आप ही आप लखै घट भीतरि, गुरू सिख कौन कहावै।
कहै ब्रह्मदीप सजन समझाई, करि जोति में जोति मिलावै॥ औधू० ४॥
(आमेर शास्त्र भाण्डार, जयपुर, गुटका नं० २६, पृ० ७६)

(१३) आनन्दघन

परिचय :

कबीर के समान फक्कड़ साधकों में 'आनन्दघन' का स्थान विशिष्ट है। आपका परिचय और व्यक्तित्व भी अनेक सन्तों के समान कुज्झटिकाछन्न एवं किम्वदन्तियों का आगार बन गया है। प्रारम्भ में जैन मर्मी आनन्दघन, शृङ्गार-काल के रीति मुक्त, स्वच्छन्द प्रेमी कवि घनानन्द और कोकसार के रचयिता कवि आनन्द को एक ही व्यक्ति समझा जाता था। शिवसिंह सरोज के आधार पर सर जार्ज ग्रियर्सन ने एक ही 'आनन्दघन' के अस्तित्व को स्वीकार किया था।[1] मिश्र बन्धुओं ने अपने 'विनोद' में अवश्य घनानन्द को आनन्दघन से भिन्न माना है। उन्होंने 'जैन आनन्दघन' के सम्बन्ध में यह विवरण दिया है[2] :—

नाम—(३८४। १) आनन्दघन
ग्रन्थ—(१) आनन्दघन बहत्तरीस्तवावली
रचनाकाल—१७०५
विवरण—यशोविजय के समसामयिक थे।

प्रेमी घनानन्द और उनकी रचनाओं पर आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने विस्तार से विचार किया है और उनके जीवन सम्बन्धी घटनाओं का अच्छा विश्लेषण किया है, किन्तु 'आनन्दघन' की प्रामाणिक जीवनी का कोई आधार अभी तक उपलब्ध नहीं हो सका है। जैन साहित्य के प्रमुख उद्धारक और अन्वेषक श्री नाथूराम प्रेमी ने 'आनन्दघन' के सम्बन्ध में केवल इतना ही लिखा है कि 'श्वेताम्बर सम्प्रदाय में एक प्रसिद्ध महात्मा हो गये हैं। उपाध्याय यशोविजय जी से सुनते हैं इनका एक बार साक्षात्कार हुआ था। यशोविजय जी ने आनन्दघन जी की स्तुति रूप एक अष्टक बनाया है। अतः इन्हें यशोविजय जी के समय में हुआ समझना चाहिए'[3]। यशोविजय और आनन्दघन के साहचर्य का उल्लेख श्री क्षितिमोहन सेन ने भी किया है। जैन मर्मी आनन्दघन पर विचार करते हुए आपने लिखा है कि 'मेड़ता नगर में आनन्दघन के साथ यशोविजय ने कुछ समय बिताया था। इसलिए ये दोनों ही समसामयिक थे'[4]।

---

१. डा० सर जार्ज अब्राहम ग्रियर्सन कृत 'द माडर्न वर्नाक्यूलर लिटरेचर आफ हिन्दुस्तान, का किशोरीलाल गुप्त द्वारा सटिप्पण अनुवाद, पृ० २०४।
२. मिश्रबन्धु विनोद (द्वितीय भाग) पृ० ४२८।
३. श्री नाथूराम प्रेमी—हिन्दी जैन साहित्य का इतिहास, पृ० ६१।
४. देखिए—वीणा (मासिक पत्रिका) वर्ष १२, अंक १, सं० १९९५ (नवम्बर सन् १९३८) इन्दौर के अन्तर्गत आचार्य श्री क्षितिमोहन सेन का लेख 'जैन मरमी आनन्दघन का काव्य' पृ० ८।

मुनि यशोविजय का जीवन काल निश्चित ही है। वह श्वेताम्बर सम्प्रदाय के प्रसिद्ध विद्वान् हो गए हैं। संस्कृत तथा अन्य प्रादेशीय भाषाओं के आप अच्छे पण्डित थे। आपने लगभग ५०० ग्रन्थों की रचना की है, जिनमें जैन तर्क भाषा, ज्ञान बिन्दु, नयरहस्य, नयप्रदीप आदि काफी प्रसिद्ध हैं। उनका जन्म सम्वत् १६८० और मृत्यु सं० १७४५ माना जाता है। बड़ौदा के अन्तर्गत 'दभोई' नगर में उनकी समाधि बनी हुई है. जिस पर लिखा है कि सम्वत् १७४५ के मार्गशीर्ष मास की शुक्ला एकादशी को उनका देहावसान हुआ।

काल निर्धारण :

मुनि यशोविजय के इस विवरण से इतना तो निश्चित ही हो जाता है कि आनन्दघन भी सं० १६८० और सं० १७४५ के बीच विद्यमान थे। यशोविजय ने 'आनन्दघन' की प्रशस्ति में जो अष्टपदी लिखी है, उससे यद्यपि आपके सम्बन्ध में कोई विशेष जानकारी नहीं प्राप्त होती, फिर भी इतना संकेत मिलता है कि आनन्दघन सच्चे साधक थे, सांसारिक सुख-दुःख और माया-मोह से ऊपर उठकर अध्यात्म-परक जीवन व्यतीत करते थे। सदैव आत्मिक आनन्द अथवा परमात्मानुभूति में मग्न रहते थे और यशोविजय जी को भी इनके सत्संग से लाभ हुआ था तथा भगवद्भक्ति की प्रेरणा मिली थी। यशोविजय ने लिखा है कि सच्चे 'आनन्द' की अनुभूति उसी को हो सकती है, उसी के हृदय में आनन्द ज्योति का प्रस्फुटन सम्भव है तथा सहज सन्तोष उसी को प्राप्त होता है, जो आनन्दघन का ध्यान करता है :—

[1]आनन्द कोउ नहिं पावै, जोइ पावै सोइ आनन्दघन ध्यावै।
आनन्द कौन रूप ? कौन आनन्दघन ? आनन्द गुण कौन लखावै ?
सहज सन्तोष आनन्द गुण प्रगटत, सब दुविधा मिट जावै।
जस कहै सो ही आनन्दघन पावत, अन्तर ज्योति जगावै ॥३॥

आनन्दघन सदैव 'अचल अलख पद' में विचरण करते हुए 'सहज सुख' में आनन्द मग्न रहा करते थे। ऐसी दशा ही चित्त के अन्तर में जब प्रगट हो, तब कोई व्यक्ति आनन्दघन को पहचान सकता है :—

[2]आनन्द की गति आनन्द जाने।
वाई सुख सहज अचल अलख पद, वा सुख सुजस बखाने।
सुजस विलास जब प्रगटे आनन्द रस, आनन्द अक्षम खजाने।
ऐसि दसा जब प्रगटे चित अन्तर, सोहि आनन्दघन पिछाने ॥६॥

---

१. आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र—घनआनन्द और आनन्दघन, पृ० ३३१।
२. आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र—घनआनन्द और आनन्दघन, पृ० ३३२।

इस प्रशस्ति के अन्तिम पद में यशोविजय ने स्वीकार किया है कि आनन्दघन की सत्संगति से ही उनमें विवेक जाग्रत हुआ और पारस के स्पर्श से जैसे लोहा कंचन बन जाता है, उसी प्रकार यशोविजय भी 'आनन्द सम' हो गये :—

> 'आनन्दघन'[1] के संग सुजस हीं मिले जब,
> तब आनन्द सम भयो सुजस।
> पारस संग लोहा जो परसत,
> कंचन होत हैं ताके कस।
> खीर नीर जो मिल रहे आनन्द,
> जस सुमति सखि के संग तस।
> भयो है एक रस, भव खपाइ सुजस विलास,
> भये सिध सरूप लिये धसमस ॥ ८ ॥

यशोविजय जी की इस प्रशस्ति से स्पष्ट है कि वे आनन्दघन की साधना से काफी प्रभावित थे। बहुत सम्भव है आनन्दघन यशोविजय जी से आयु में भी कुछ बड़े हों। आचार्य श्री क्षितिमोहन सेन का भी अनुमान है कि उनका जन्म सन् १६१५ ई० (सं० १६७२) के आस-पास हुआ होगा। सेन जी को भक्तों से यह भी विदित हुआ है कि आनन्दघन की भेंट और बातचीत दादू के शिष्य मस्कीन जी से हुई थी। मस्कीनदास का रचनाकाल सं० १६५० माना जाता है। 'वाणी' इनकी प्रमुख रचना है।[2] यदि आनन्दघन को मस्कीन जी का समकालीन मान लिया जाय तो उनका समय और पहले आ जाता है। लेकिन दोनों के साक्षात्कार का कोई प्रमाण नहीं मिलता। स्वयं सेन जी ने आनन्दघन का जन्म सं० १६७२ के लगभग माना है। अतएव दोनों का मिलन सम्भव नहीं।

आनन्दघन का जन्म स्थान कहाँ था? इसका भी कोई विवरण प्राप्त नहीं है। कुछ विद्वानों ने बुन्देलखण्ड को उनका जन्मस्थान माना है। इस मान्यता का भी कोई पुष्ट आधार नहीं है। लेकिन उनके पर्यटन और भ्रमण का पता चलता है। राजस्थान, पंजाब, गुजरात आदि के अधिकांश भागों का उन्होंने भ्रमण किया था। उनके अन्तिम जीवन का अधिकांश भाग राजस्थान में ही व्यतीत हुआ था। मेड़ता नामक स्थान पर यशोविजय जी भी उनके साथ कुछ समय तक रहे थे। उनकी रचनाओं पर राजस्थानी का काफी प्रभाव है। सेन जी का अनुमान है कि शायद राजपुताना के ही किसी भाग में उनका जन्म हुआ हो। सम्भवतः भाषा के आधार पर श्री परशुराम चतुर्वेदी ने भी अनुमान लगाया है कि "वे कहीं गुजरात प्रान्त व राजस्थान की ओर के निवासी थे और उनके अन्तिम दिन जोधपुर राज्य के अन्तर्गत बने हुए मेवाड़ नगर में व्यतीत हुए थे, जो मीराबाई की जन्मभूमि है।"[3] उनका अन्तिम दिनों में मेड़ता निवास तो प्रमाणित होता है, किन्तु केवल भाषा के आधार पर किसी भी सन्त

---

१. आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र—घनआनन्द और आनन्दघन, पृ० ३३२।
२. मोतीलाल मेनारिया—राजस्थान का पिंगल साहित्य, पृ० २१४।
३. परशुराम चतुर्वेदी—सन्त काव्य, पृ० ३२८।

के जन्मस्थान का पता नहीं लगाया जा सकता, क्योंकि मध्यकालीन सन्तों (जिनमें अधिकांश अशिक्षित अथवा अल्प शिक्षित थे तथा देश के विभिन्न भागों की यात्रा करते रहते थे) की रचनाओं में प्रायः विभिन्न भाषाओं और बोलियों के शब्द आ जाते थे। पूर्वी प्रदेश में पैदा होने वाले कबीर की रचनाओं में राजस्थानी, पंजाबी, गुजराती आदि भाषाओं के ही नहीं, विदेशी भाषाओं के शब्द भी बहुलता से पाए जाते हैं। वस्तुतः कबीर, आनन्दघन तथा अन्य सन्तों के द्वारा प्रयुक्त भाषा उस समय की जन सामान्य की भाषा थी, जिसका प्रयोग न केवल उत्तर भारत के विभिन्न क्षेत्रों में होता था, अपितु दक्षिण के साधक भी उसका प्रयोग करते थे। आचार्य श्री क्षितिमोहन सेन ने ठीक ही लिखा है कि 'उस युग में भारतवर्ष में एक सार्वभौम सांस्कृतिक भाषा थी। एक प्रकार की अपभ्रंश भाषा बंगाल के पुराने बौद्ध गानों और दोहों में दिखाई देती है। प्रायः इसी से मिलती जुलती अपभ्रंश भाषा, इसी युग में राजपूताना, गुजरात, महाराष्ट्र यहाँ तक कि कर्नाटक में प्रचलित थी[1]।'

इसके अतिरिक्त निश्चित रूप से यह भी नहीं कहा जा सकता है कि आनन्दघन जी की मूल रचना कैसी थी और उसमें लिपिकर्ता अथवा संग्रहकर्ता के द्वारा कितना परिवर्तन कर दिया गया। आपकी रचनाों में गुजराती, राजस्थानी और पंजाबी भाषाओं के शब्दों का जो बाहुल्य पाया जाता है, बहुत सम्भव है, वे उनके परवर्ती विभिन्न क्षेत्रीय भक्तों और लिपिकों द्वारा अनायास ही आ गए हों। गुजरात में उनके पदों का काफी प्रचार रहा है। इधर उनकी रचनाओं के जितने संग्रह प्रकाशित हुए हैं, उनमें अधिकांश गुजराती क्षेत्र के ही हैं। अतएव भाषा के आधार पर उनके जन्मस्थान के सम्बन्ध में कोई निश्चित निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता।

गम्भीरविजय नामक जैन विद्वान् के अनुसार आनन्दघन ने गच्छ में दीक्षा ग्रहण की थी। कुछ लोगों का कहना है कि उनका वास्तविक नाम 'लाभानन्द' था और वे अपने पदों में ही 'आनन्दघन' शब्द का प्रयोग करते थे। १८वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में देवचन्द्र नामक एक प्रसिद्ध जैन पंडित हो गए हैं, उन्होंने अपने 'प्रश्नोत्तर' नामक ग्रन्थ में आनन्दघन की रचना का 'लाभानन्द जी' के नाम से उल्लेख किया है। श्री अगरचन्द नाहटा का भी विश्वास है कि 'आनन्दघन' का मूल नाम लाभानन्द था।[2] आप कब तक जीवित रहे और कब आपको मोक्ष लाभ हुआ? यह भी अज्ञात है। अतएव अनुमान का विषय बना हुआ है। सेन जी ने आपका मृत्यु काल सन् १६७५ ई० (सं० १७३२) माना है। किन्तु यदि सं० १७३२ में आनन्दघन जी की मृत्यु हुई होती तो यशोविजय जी ने निश्चित रूप से इस घटना पर शोक व्यक्त किया होता। अतएव मेरा अनुमान है कि आनन्दघन की मृत्यु सं० १७४५ (यशोविजय का मृत्यु समय) के बाद ही हुई होगी।

---

१. वीणा, वर्ष १७, अंक १ (नवम्बर १९३८) पृ० ६।
२. देखिए—वीरवाणी (पाक्षिक) वर्ष २, अंक ६ (१८ जून १९४८) पृ० ७८।

ग्रन्थ :

आनन्दघन के दो ग्रन्थ उपलब्ध हैं—(१) आनन्दघन चौबीसी अथवा स्तवावली और (२) आनन्दघन बहोत्तरी। मिश्रबन्धुओं ने भूल से इन दोनों रचनाओं को एक ही मान लिया है। दोनों रचनाएँ गुजरात प्रदेश में काफी जनप्रिय हैं। गुजराती भाषा टीका के साथ इनके कई संस्करण भी प्रकाशित हो चुके हैं।

आनन्दघन चौबीसी :

आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने चार प्रकाशित प्रतियों के आधार पर इसका संपादन किया है।[1] श्री महावीर जैन विद्यालय के 'रजत महोत्सव संग्रह' में प्रकाशित 'अध्यात्मी आनन्दघन अने श्री यशोविजय' शीर्षक लेख में बताया गया है कि उनकी 'चौबीसी' की कई पंक्तियाँ मर्द श्री समयसुन्दर (सं० १६७२) जिनराज सूरि (सं० १६७८) सकलचन्द्र (सं० १६४०) और प्रीतिविमल (सं० १६७१) के जिन स्तवनादि ग्रंथों में आए चरणों से मिलती हैं। इससे चौबीसी का समय (सं० १६७८) के अनन्तर ही ठहरता है। सेन जी ने आपका जन्म सं० १६७२ के आस पास अनुमानित किया है। इससे 'चौबीसी' का रचनाकाल और आगे बढ़ जाता है। इसमें चौबीस तीर्थङ्करों की स्तुति की गई है। कहा जाता है कि अंतिम दो पद आनन्दघन कृत नहीं हैं। परवर्ती विद्वानों द्वारा उनको जोड़ा गया है। सं० १७६८ में ज्ञानविमल सूरि ने इन स्तवनों की सर्वप्रथम व्याख्या की थी। उन्हें २२ पद ही प्राप्त थे। अतएव दो पद उन्होंने जोड़ दिया। इसके पश्चात् श्री ज्ञानसार ने 'चौबीसी' की विशद व्याख्या की। कहा जाता है कि श्रीमद् ज्ञानसार जी ने ३७ वर्षों के श्रम के पश्चात् स्तवनों पर 'बालावबोध' नामक टीका की रचना की थी, फिर भी उनको ये पद अतीव गम्भीर प्रतीत हुए।[2] आपने स्तवनों की गहनता को इन शब्दों में स्वीकार किया है :—

आशय आनन्दघन तणो अति गम्भीर उदार।
बालक बांह पसारि जिम कहे उदधि विस्तार ॥१॥

कवि ने इस चौबीसी में तीर्थङ्करों की स्तुति मात्र ही नहीं की है, अपितु इसके माध्यम से उसने स्वानुभूति को अभिव्यक्त किया है, अलख निरंजन का गीत गाया है और आत्मा की तड़पन को उच्छ्वसित किया है। कभी तो वह सांसारिक पुरुषों के अज्ञान के प्रति दुःख प्रकट करता हुआ प्रतीत होता है और

---

१. घन आनन्द और आनन्दघन, पृ० ३३३ से ३५५।
२. वीर वाणी (पाक्षिक) वर्ष २, अंक ६ में श्री अगरचन्द नाहटा के लेख 'महान् संत आनन्दघन और उनकी रचनाओं पर विचार' पृ. ७८ से उद्धृत।

कभी सच्चे मार्ग का प्रदर्शन करते हुए। वह कहता है कि सामान्यतया व्यक्ति चर्म चक्षुओं से 'मार्ग' खोजने का प्रयास करते हैं, किन्तु जिनके दूसरे नेत्र (विवेक के नेत्र) खुल जाते हैं, वही दिव्य विचार के पुरुष हैं। सांसारिक पुरुषों की परम्परा के ज्ञान पर दृष्टि रखना तो अंधों के पीछे अंधे का दौड़ना है। इसी प्रकार तर्क या विचार तो वादों की परम्परा मात्र है, जिसका अंत नहीं। वास्तविक तत्व को जानने वाला तो कोई विरला ही होता है।[1] 'श्री सुमतिनाथ जिन स्तवन' में वह 'आत्मा' के स्वरूप पर प्रकाश डालता है, वहिरात्मा का परित्याग कर, अन्तरात्मा के द्वारा 'परमात्मा' की अनुभूति का पथ बताता है।[2] संत साहित्य के प्रमुख पारखी आचार्य श्री क्षितिमोहन सेन ने इन स्तवनों पर अपना दृष्टिकोण स्पष्ट करते हुए बड़े ही सुन्दर शब्दों में लिखा है कि 'आनन्दघन ने अपनी रचित 'चौवीसी' में जैन तीर्थङ्करों की स्तुति की है, किन्तु उनमें जैन स्तुति की अपेक्षा वे अपनी मानसिक समस्याओं को लेकर ही अधिक व्यस्त दिखाई देते हैं।......उस समय जैन धर्म नियम और अनुशासन के वज्र बंधन में रुद्धश्वास हो उठा था। इन 'पक्षवादियों' के दुःसह बंधन को तोड़कर आनन्दघन निष्पक्ष 'सहज सरल साधना' के लिए व्याकुल हो उठे होंगे'।[3]

आनन्दघन बहोत्तरी :

यह आपकी दूसरी रचना है। नाम के अनुसार इसमें ७२ पद होने चाहिए। किन्तु भिन्न-भिन्न प्रतियों में इसकी पद संख्या भिन्न-भिन्न पाई जाती है। आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने तीन प्रकाशित प्रतियों के आधार पर 'वहोत्तरी'

---

१. चरम नयन करि मारग जोवतां रे भूलो सयल संसार।
जैसे नयण करि मारग जोइयो रे नयण ते दिव्य विचार।।
पुरुष परंपर अनुमान जोवतां रे अंधोअंध पुलाय।
वस्तु विचारे रे जो आगमै करी रे चरण धरण नहीं ठाय।।
तर्क विचारे रे वादपरंपरा रे पार न पोंहचे कोय।
अभिमत वस्तु रे वस्तुगतें कहे रे ते बिरला जग जोय।।
(घनआनन्द और आनन्दघन—श्री अजितनाथ जिन स्वतन, पृ० ३३४)

२. त्रिविध सकल तनुधर गत आतमा, बहिरातमा धुरि भेद।
बीजो अंतर-आतम, तिसरो परमातम अविछेद।।
आतम बुद्धि कायादिक ग्रह्यो, बहिरातम अघरूप।
कायादिक नो साखीधर रह्यो, अंतर आतम रूप।।
ज्ञानानंद हो पूरण पावनो बरजित सकल उपाध।
अतिंद्रिय गुणगणमणि आगरु इम परमातम साध।।
बहिरातम तजि अंतर आतमा रूप थई थिर भाव।
परमातम नूं हो आतम भाववूं आतम अरपण दाव।।
(श्री सुमतिनाथ जिन स्तवन, पृ० ३३६)

३. वीणा, वर्ष १२, अंक १ (नवम्बर १९३८) पृ० ७।

का सम्पादन किया है। इसमें १०६ पदों के अतिरिक्त परिशिष्ट में आनन्दघन (जैन कवि) के नाम से पांच पद और दिए गए हैं। रामचन्द्र काव्य माला से जो 'आनन्दघन वहत्तरी' छपी है, उसमें १०७ पद हैं। आचार्य बुद्धिसागर सूरि ने १०९ पदों की विस्तृत व्याख्या की है। यह ग्रन्थ अध्यात्म ज्ञान प्रसारक मण्डल 'पादरा' से प्रकाशित है। भीमसीमणिक द्वारा सम्पादित पुस्तक में १०७ पद हैं। नाहटा जी के शास्त्र भाण्डार में एक हस्तलिखित प्रति गुटका नं० २७ में उपलब्ध है। इसके केवल ६५ पद ही हैं। यह प्रति पूर्ण नहीं प्रतीत होती। इससे आनन्दघन रचित पदों की निश्चित संख्या का पता लगाना कठिन हो गया है। प्रश्न यह है कि क्या आनन्दघन के केवल ७२ पदों की रचना की थी, शेष पद दूसरे कवियों के मिल गए हैं अथवा उनके द्वारा रचित पदों की संख्या ७२ से अधिक है? 'बहोत्तरी' के कुछ पद तो अवश्य ही दूसरे कवियों के हैं। (पद नं० ४२, १०६) द्यानतराय, (पद नं० ९३, ९९) कबीर, (पद नं० १४४) बनारसीदास और (पद नं० ९६) भूधरदास के हैं। केवल 'आनन्दघन' के स्थान पर द्यानत, कबीर, बनारसीदास अथवा सूरदास कर देने से और एक दो शब्दों को परिवर्तित कर देने से वे पद इन कवियों के हो जाते हैं। किन्तु ऐसे पदों की संख्या अधिक नहीं है। यदि ऐसे ११ पदों को निकाल भी दिया जाय तो १०० पद शेष रह जाते हैं। अतएव 'आनन्दघन' ने केवल ७२ पदों की ही रचना की थी, इसे बलपूर्वक नहीं कहा जा सकता। सम्भवतः 'बहोत्तरी' नामकरण भी कवि का किया हुआ नहीं है।

मूल्यांकन :

आनन्दघन, निर्गुणियां सन्तों, विशेष रूप से 'कबीर की श्रेणी में आते हैं। 'चौबीसी' की जैन सीमाएँ, 'बहोत्तरी' में भग्न हो गई है। शैली भी सन्तों की आ गई है। 'साखी' की रचना हुई है। बिरहिणी नायिका के समान कवि की आत्मा प्रियतम से मिलने के लिए व्यग्र दिखाई पड़ती है। बनारसीदास के बाद आनन्दघन ही ऐसे श्रेष्ठ जैन कवि हैं, जिन्होंने बड़े ही विस्तार से और स्पष्ट शब्दावली में 'आत्मा' की तड़पन को दिखाया है, परमात्मा का प्रियतम या पति के रूप में उल्लेख किया है और अवधू को सम्बोधित किया है। कवि कहता है कि 'मैं निशिदिन अपने पति के आगमन की प्रतीक्षा करता रहता हूँ, अपलक दृष्टि से मार्ग देखता रहता हूँ, किन्तु पता नहीं वह कब आएगा? मेरे जैसे उसके लिए अनेक हैं, किन्तु उसके समान मेरे लिए दूसरा कोई नहीं।[1] प्रिय के वियोग में सुधि-बुधि ही भूल गई है, कहीं आंखे भी नहीं लगती।[2] शरीर, गृह, परिवार

---

१. निसदिन जाऊँ (तारी) बाटड़ी घरे आवो न ढोला।
मुज सरिखी तुज लाख है, मेरे तु ही ममोला। (पद १६, पृ० ३६३)

२. पिया बिन सुधि बुधि भूली।
आंख लगाई दुख महल के झरूखे झूली हो। (पद ४१, पृ० ३७५)

और स्नेहियों से भी मन विरक्त हो गया है। रात दिवस एक ही कामना है— प्रिय से मिलन कैसे हो? अन्न वस्त्र भी छोड़ दिया है।[1] प्रिय मिलन से ही उसका 'सुहाग' पूर्ण होता है। आत्मा प्रेम के रंग में मस्त हो उठता है। वह अपना पूर्ण शृङ्गार करता है। वह भक्ति की मेंहदी और भाव का अंजन लगाता है, सहज स्वभाव की चूड़ी, स्थिरता का कंकण धारण करता है। सुरति का सिन्दूर शोभित होता है, अजपा की अनहद ध्वनि उत्पन्न होती है और तब अविरल आनन्द की झड़ी लग जाती है।[2]

जिसको इस स्थिति की अनुभूति हो जाती है, वह साम्प्रदायिक भेद के पचड़े में नहीं पड़ता। उसके लिए राम और रहीम, केशव और करीम में कोई अन्तर नहीं दिखाई पड़ता। पार्श्वनाथ और ब्रह्मा उसके लिए समान हो जाते हैं। इसीलिए आनन्दघन कहते हैं कि राम कहो या रहीम, कृष्ण कहो या महादेव, पार्श्वनाथ कहो या ब्रह्मा, परमात्मा एक है, अखण्ड है। जिस प्रकार एक मृतिका पिण्ड से नाना प्रकार के पात्र बनते हैं तथा मृत्तिका की अवस्थिति सर्वत्र रहती है, उसी प्रकार हम अखण्ड ब्रह्म में अनेक प्रकार के खण्डों की कल्पना कर लेते हैं। वस्तुतः राम वह है जो सर्वत्र रमण कर रहा है, रहीम वह है जो दया करता है, कृष्ण वह है जो कर्मों का कर्षण करता है, महादेव वह है जो निर्वाण प्राप्त कर चुका है, पार्श्वनाथ वह है जो रूप का स्पर्श करता है, ब्रह्मा वह है जो ब्रह्म को पहचान जाता है। यही चरम सत्य है। इसी की जानकारी प्रत्येक साधक का लक्ष्य है।[3] इस लक्ष्य की प्राप्ति हेतु साधक को बाह्य उपकरण के अवलम्ब की आवश्यकता नहीं पड़ती। इड़ा-पिंगला के मार्ग का परित्याग कर 'सुषमना घर वासी' होना पड़ता है, ब्रह्मरंध्र के मध्य 'श्वासपूर्ण' होने पर 'अनहद नाद' सुनाई पड़ने लगता है और साधक ब्रह्मानुभूति का साक्षात्कार करने की स्थिति में हो जाता है। आनन्दघन 'अवधू' को सम्बोधित करते हुए कहते हैं कि 'तू तन मठ में क्या सो रहा है, जगकर घट में क्यों नहीं देखता? उसी में 'ब्रह्म' का वास है, जिसे तू बाहर खोजता रहा। नश्वर शरीर

---

१. प्यारे आप मिलो कहा अंतै जात, मेरो विरह व्यथा अकुलात गात।
एक पैसा भर न भावै नाज, न भूषण नहीं पट समाज। (पद ५८, पृ० ३८३)

२. देखिए - आज सुहागन नारी, अवधू आज० (पद २०, पृ० ३६५)

३. राम कहो रहमान कहो कोउ, कान कहो महादेव री।
पारसनाथ कहो कोउ ब्रह्मा, सकल ब्रह्म स्वमेव री।
भाजन भेद कहावत नाना, एक मृत्तिका रूप री।
तैसे खण्ड कल्पना रोपित, आप अखण्ड सरूप री।
निज पद रमे राम सो कहिए, रहिम करे रहेमान री।
करसे करम कान सो कहिए, महादेव निर्वाण री।
परसे रूप पारस सो कहिए, ब्रह्म चिन्हे सो ब्रह्म री।
इह विध साधो आप आनन्दघन चेतनमय निःकर्म री॥
(घनआनन्द और आनन्दघन, पद ६७, पृ० ३८८)

और चपल मन का विश्वास न करके वह प्रयत्न कर, जिससे तू अपने उद्देश्य में सफल हो सके। आशाओं का हनन करने से, योग की साधना से, 'अजपा जाप' को जगाने से ही 'निरंजन' की प्राप्ति सम्भव है।[1]

आनन्दघन एक ऐसे साधक प्रतीत होते हैं जो अनुभूति में ही विश्वास करते हैं और स्वसंवेदन ज्ञान को ही महत्व देते हैं। आप में कोई पूर्वाग्रह नहीं है। जैन होते हुए भी अनेक बातें ऐसी भी कह जाते है जो जैन मत में मान्य नहीं हैं या उसके प्रतिकूल हैं। वस्तुतः सच्चा साधक किसी विशेष धर्म या सम्प्रदाय के बन्धन में बंधा नहीं रह सकता। उसका तो एक अपना धर्म होता है। वह किसी का अनुगामी नहीं होता, अनुगामियों की सृष्टि करता है। कबीर इसी कोटि के साधक थे और आनन्दघन पर भी यह सत्य लागू होता है।

(१४) यशोविजय

श्वेताम्बर सम्प्रदाय के प्रसिद्ध मुनि यशोविजय आनन्दघन के समकालीन थे। कहा जाता है कि वह काफी समय तक आनन्दघन के साथ मेड़ता नामक स्थान में रहे थे। वह आनन्दघन की साधना से काफी प्रभावित थे और उनकी प्रशस्ति में 'आनन्दघन अष्टपदी' की रचना की थी। यह आठ पदों की लघुकाय रचना कविता की दृष्टि से काफी अच्छी है। आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने इसको 'घनआनन्द और आनन्दघन' के साथ ही प्रकाशित किया है। श्री नाथूराम प्रेमी ने आपका जन्म सं० १६८० बताया है।[2] आपकी मृत्यु सं० १७४५ में हुई थी। बड़ौदा के अन्तर्गत 'दभोई' नगर में आपकी समाधि बनी हुई है। इस पर लिखा है कि सं० १७४५ के मार्गशीर्ष मास की शुक्ला एकादशी को उनका देहावसान हुआ।

यशोविजय संस्कृत ग्रन्थों के रचयिता के रूप में काफी प्रसिद्ध रहे हैं। प्रेमी जी के अनुसार आपने संस्कृत में लगभग ५०० ग्रन्थों की रचना की। इनमें से अधिकांश उपलब्ध हैं। कुछ तो प्रकाशित भी हो चुके हैं। प्रकाशित ग्रन्थों में अध्यात्म परीक्षा, अध्यात्मसार, नयरहस्य, ज्ञानसार आदि काफी महत्वपूर्ण हैं।[3]

---

१. अवधू क्या सोवै तन मठ में, जाग विलोक न घट में।
तन मन की परतीत न कीजै, ढहि परै एकै पल में।
आसा मारि आसन धरि घट में, अजपा जाप जगावै।
आनन्दघन चेतनमय मूरति, नाथ निरंजन पावै॥
(घनआनन्द और आनन्दघन, पद ७, पृ० ३५८)

२. श्री नाथूराम प्रेमी—हिन्दी जैन साहित्य का इतिहास, पृ० ६२।

३. देखिए—हरि दामोदर वेलनकर, जिन रत्नकोश (पृ० ६, १४६ और २०४)

आपने जहाँ एक ओर संस्कृत ग्रन्थों की प्रभूत मात्रा में रचना की, वहाँ दूसरी ओर हिन्दी में भी अनेक ग्रन्थों की रचना की। राजस्थान में हिन्दी के हस्तलिखित ग्रन्थों की खोज में आपकी कई रचनाएँ प्राप्त हुई हैं, जिससे आपके हिन्दी अनुराग और ज्ञान का पता चलता है। आपकी ऐसी छः रचनाएँ मुझे देखने को मिली हैं। ये रचनाएँ निम्नलिखित हैं :—

(१) समाधितन्त्र, (२) श्रीपालरास, (३) गीतसंग्रह, (४) इग्यारह अंग स्वाध्याय, (५) समताशतक, (६) दिगपट खंडन।

'समाधितन्त्र' उच्च कोटि का रहस्यवादी काव्य है। इसमें १०५ दोहा छन्द हैं। इसकी एक हस्तलिखित प्रति सरस्वती भांडार (मेवाड़) में सुरक्षित है। इसमें रचनाकाल नहीं दिया गया है। लिपिकाल सं० १८८१ है। हम पहले ही कह चुके हैं कि वह आनन्दघन से काफी प्रभावित थे और उसी प्रकार की साधना में स्वयं भी लीन रहते थे। एक स्थान पर वह कहते हैं कि बाह्याचरण से कोई लाभ नहीं, आत्मबोध ही शिव पन्थ पर ले जाने में सक्षम है :—

'केवल आतम बोध है परमारथ शिव पंथ।
तामें जिनकी मगनता, सोई भावनि यंथ ॥२॥

'समाधितन्त्र' में रहस्यवादी भावनाओं की प्रचुरता के कारण और यशोविजय का अधिक परिचय न प्राप्त हो सकने के कारण श्री मोतीलाल मेनारिया ने अनुमान लगाया कि ये कोई निरंजनी साधु प्रतीत होते हैं।[1] 'समाधितन्त्र' के अंतिम दोहों में कवि और रचना का नामोल्लेख हुआ है :—

दोधक सत के ऊपरयौ, तन्त्र समाधि विचार।
धरो एह बुध कंठ में, भाव रतन को हार ॥१०२॥
ज्ञान विमान चरित्रय, नन्दन सहज समाधि।
मुनि सुरपती समता शची, रंग रमे अगाधि ॥१०३॥
कवि जस विजय ए रचे, दोधक सतक प्रमाण।
एइ भाव जो मन धरे, सो पावे कल्यांण ॥१०४॥
मति सर्वंग समुद्र है स्यादवाद नय युद्ध।
षडदर्शन नदीयां कही, जांणो निश्चय बुद्ध ॥१०५॥

'श्रीपालरास' आपकी दूसरी रचना है। इसमें चार खण्ड हैं, जिनमें प्रथम दो विनयविजय तथा अन्तिम दो यशोविजय कृत हैं। इसका रचना काल सं० १७३८ है। इसकी एक हस्तलिखित प्रति 'वर्द्धमान ज्ञान मंदिर, उदयपुर' में सुरक्षित है।[2] आपकी तीसरी रचना 'इग्यारह अंग स्वाध्याय' है। इसमें ७५ पद्य हैं। इसका रचना काल सं० १७२२ है। इसका विषय जैन धर्म वार्ता है।

---

१. मोतीलाल मेनारिया—राजस्थान में हिन्दी के हस्तलिखित ग्रन्थों की खोज (प्रथम भाग) पृ० १६८।

२. उदयसिंह भटनागर—राजस्थान में हिन्दी के हस्तलिखित ग्रन्थों की खोज, (तृतीय भाग) पृ० ११२–१३।

भाषा पर राजस्थानी का प्रभाव अधिक है। इसकी एक हस्तलिखित प्रति बर्द्धमान ज्ञान मन्दिर, उदयपुर में सुरक्षित है।[1]

वर्द्धमान ज्ञान मन्दिर, उदयपुर में आपका एक 'गीत संग्रह' भी सुरक्षित है। इसमें २६४ पद हैं। खोजकर्ता ने इसका रचनाकाल सं० १७७१ बताया है,[2] जो गलत प्रतीत होता है, क्योंकि यशोविजय का सं० १७४५ में ही स्वर्गवास हो गया था। 'समताशतक' आपकी पाँचवीं रचना है। इसमें १०५ छन्द हैं। इसकी एक हस्तलिखित प्रति अभय जैन ग्रंथालय बीकानेर में सुरक्षित है।[3] अन्तिम दोहे इस प्रकार हैं :—

> बहुत ग्रन्थ नय देखि के, महापुरुष कृत सार।
> विजय सिंह सूरि कियौ, समतासत को हार ॥१०३॥
> भावत जाकू तत्व मन, हो समता रस लीन।
> ज्युं प्रगटे तुझ सहज सुख, अनुभव गम्य अहीन ॥१०४॥
> कवि यशविजय सु सीखए, आप आपकूं देत।
> साम्य शतक उद्धार करि, हेम विजय मुनि हेत ॥१०५॥

आपकी छठी रचना 'दिगपट खण्डन' है। इसमें साम्प्रदायिकता की गन्ध अधिक है। इसकी एक हस्तलिखित प्रति अभयजैन ग्रन्थालय, बीकानेर में सुरक्षित है।[4]

(१५) भैया भगवतीदास

परिचय :

अठारहवीं शताब्दी के जैन रहस्यवादी कवियों में भैया भगवतीदास का नाम प्रमुख है। आपकी छोटी बड़ी ६७ रचनाएँ—जिनमें एक (द्रव्य संग्रह—ले० नेमिनाथ) अनूदित और शेष मौलिक हैं—'ब्रह्मविलास' नामक ग्रन्थ में संग्रहीत हैं। यह ग्रन्थ सर्वप्रथम वीर निर्वाण सम्वत् २४३० (सन् १९०३) में जैन ग्रन्थ रत्नाकर (मुम्बई) से प्रकाशित हुआ था, वहीं से तेइस वर्ष पश्चात् इसका दूसरा संस्करण निकला। इस ग्रन्थ के अन्त में आपने अपना संक्षिप्त परिचय दिया है, जिसके अनुसार आप आगरा के रहनेवाले कटारिया गोत्र के ओसवाल जैनी थे। आप दशरथ साहु के पौत्र और लाल जी के पुत्र थे। अन्तःसाक्ष्य के आधार पर

---

१. उदयसिंह भटनागर—राजस्थान में हिन्दी के हस्तलिखित ग्रन्थों की खोज (तृतीय भाग) पृ० ४।
२. राजस्थान में हिन्दी के हस्तलिखित ग्रन्थों की खोज (तृतीय भाग) पृ० १२।
३. अगरचन्द नाहटा—राजस्थान में हिन्दी के हस्तलिखित ग्रन्थों की खोज (चतुर्थ भाग) पृ० ८१।
४. अगरचन्द नाहटा—राजस्थान में हिन्दी के हस्तलिखित ग्रन्थों की खोज (चतुर्थ भाग) पृ० १३६।

इतना और ज्ञात होता है कि आप जिस समय काव्य रचना कर रहे थे, उस समय आगरा दिल्ली शासन के अन्तर्गत था, जहाँ औरंगजेब शासन कर रहा था।[1] ऐसा प्रतीत होता है कि कवि ने समय-समय पर स्फुट रचनाएँ किया था और उन्हें सम्वत् १७५५ में स्वयं ही 'ब्रह्म विलास' नाम से संग्रहीत कर दिया था। 'ब्रह्म विलास' की दो रचनाएँ—द्रव्य संग्रह और अहिक्षितिपार्श्वनाथ स्तुति—सम्वत् १७३१ की हैं[2] और संग्रहकाल सम्वत् १७५५ दिया गया है।[3] इससे स्पष्ट है कि भैया भगवतीदास का रचनाकाल सम्वत् १७३१ से सम्वत् १७५५ तक रहा।

औरंगजेब ने सम्वत् १७१५ से सं० १७६४ तक शासन किया था। भैया भगवतीदास इस अवधि में विद्यमान थे। किन्तु वे कब पैदा हुए और कब तक जीवित रहे? इसका कोई निश्चित प्रमाण नहीं मिलता है। 'ब्रह्म विलास' में एक पद है, जिसमें कवि ने केशवदास की 'रसिक प्रिया' नामक श्रृङ्गाररस पूर्ण रचना के लिए खेद प्रकट करते हुए कहा है कि रक्त, अस्थि, मांस आदि तत्वों से निर्मित नारी के शरीर पर रीझकर 'रसिकप्रिया' की रचना करना लज्जा की बात है। पद इस प्रकार है :—

---

१. जम्बूदीप सु भारतवर्ष। तामें आर्य क्षेत्र उत्कर्ष ॥
तहां उग्रसेनपुर थान। नगर आगरा नाम प्रधान ॥१॥
नृपति तहां राजै औरंग। जाकी आज्ञा बहै अभंग ॥
ईति भीति व्यापै नहि कोय। यह उपकार नृपति को होय ॥
तहां जाति उत्तम बहु बसैं। तामे ओसवाल पुनि लसैं ॥
तिनके गोत बहुत विस्तार। नाम कहत नहि आवै पार ॥४॥
सबते छोटो गोत प्रसिद्ध। नाम कटारिया रिद्धि समृद्ध ॥
दशरथ साहु पुण्य के धनी। तिनके रिद्धि वृद्धि अति घनी ॥५॥
तिनके पुत्र लाल जी भये। धर्मवन्त गुणधर निर्भये ॥
तिनके पुत्र भगवतीदास। जिन यह कीन्हों ब्रह्मविलास ॥६॥
(भैया भगवतीदास—ब्रह्मविलास, पृ० ३०५)

२. संवत सत्रह सै इकतीस, माघसुदी दशमी शुभदीस।
मंगलकरण परमसुखधाम, द्रव्यसंग्रह प्रति करहुं प्रणाम ॥७॥ (पृ० ५५)

× × ×

सत्रह सौ इकतीस की, सुदी दशमी गुरुवार।
कार्तिक मास सुहावनो, पूजे पार्श्वकुमार ॥७॥ (पृ० १०८)

३. भूल चूक निज नयन निहारि। शुद्ध कीजियो अर्थ विचारि ॥
संवत सत्रह पंचपचास। ऋतु वसन्त वैशाख सुमास ॥८॥
शुक्ल पक्ष तृतीया रविवार। संघ चतुर्विध को जयकार ॥
पढ़त सुनत सबको कल्यान। प्रकट होय निज आतमज्ञान ॥६॥ (पृ० ३०५)

बड़ी नीत लघु नीत करत है, बाय सरत बद्बोय भरी।
फोड़ा बहुत फुनगणी मंडित, सकल देह मनु रोग दरी॥
शोणित हाड़ मांसमय मूरत, तापर रीझत घरी घरी।
ऐसी नारि निरखिकरि केशव? 'रसिक प्रिया' तुम कहा करी॥ १६॥
(ब्रह्म०, पृ० १८४)

इस पद के नीचे एक टिप्पणी लिखी हुई है कि "दन्तकथा में प्रसिद्ध है कि केशवदास जी कवि जो किसी स्त्री पर मोहित थे, उन्होंने उसके प्रसन्नतार्थ 'रसिक प्रिया' नामक ग्रन्थ बनाया। वह ग्रन्थ समालोचनार्थ भैया भगवतीदास जी के पास भेजा, तो उसकी समालोचना में यह कवित्त रसिकप्रिया के पृष्ठ पर लिखकर वापिस भेज दिया था।"[1] उक्त पद के आधार पर ही श्री कामता प्रसाद जैन ने भैया भगवतीदास को केशवदास का समकालीन मानते हुए लिखा है कि 'कविवर भगवतीदास जी के समय में रीतिकालीन आदि कवि केशवदास विद्यमान थे।'[2] रसिकप्रिया की रचना कातिक सुदी सप्तमी चन्द्रवार सम्वत् १६४८ वि० को हुई थी।[3] इससे उक्त 'दन्तकथा' और कामता प्रसाद जी का मत सही नहीं प्रतीत होते, क्योंकि यदि ३६ वर्षीय केशवदास ने सम्वत् १६४८ में रसिकप्रिया को सम्मत्यर्थ भैया भगवतीदास के पास भेजा होगा तो उस समय 'भैया' जी की अवस्था कम से कम ३० वर्ष से ऊपर अवश्य होनी चाहिए। ब्रह्मविलास का संग्रह सं० १७५५ में हुआ था। इस प्रकार इस ग्रन्थ के पूर्ण होने तक कवि की आयु १३७ वर्ष से भी अधिक पहुंच जाती है, जो अधिक विश्वसनीय नहीं प्रतीत होती। आपकी सं० १७३१ के पूर्व की कोई रचना भी नहीं मिलती। अत: यह प्रश्न भी उठता है कि क्या आपने ११३ वर्ष की आयु तक कुछ लिखा ही नहीं? आचार्य केशवदास का मृत्यु सं० १६७४ माना जाता है। अतएव उक्त किंवदन्ती किसी भी प्रकार ऐतिहासिक दृष्टि से सत्य नहीं सिद्ध होती। दन्तकथा में यह भी कहा गया है कि केशवदास ने रसिकप्रिया की रचना किसी स्त्री को प्रसन्न करने के लिए की थी। किन्तु इस कथन में भी सार नहीं प्रतीत होता, क्योंकि 'रसिक प्रिया' की रचना केशवदास के आश्रयदाता ओड़छाधीश मधुकरशाह के पुत्र इन्द्रजीत सिंह के प्रीत्यर्थ उन्हीं की आज्ञा से की गई थी, न कि किसी स्त्री को प्रसन्न करने के लिए।[4] अतएव उक्त पद से इतना ही निष्कर्ष

---

१. ब्रह्मविलास, पृ० १८४।
२. कामता प्रसाद जैन – हिन्दी जैन साहित्य का संक्षिप्त इतिहास, पृ० १४५।
३. संवत सोरह सै बरस बीते अड़तालीस।
कातिक सुदि तिथि सप्तमी, बार बरन रजनीस॥११॥
अति रति गति मति एक करि, विविध विवेक विलास।
रसिकन को रसिकप्रिया, कीन्ही केशवदास।१२॥ (रसिकप्रिया, पृ० ११)
४. इन्द्रजीत ताको अनुज, सकल धर्म को धाम।८॥
तिन कवि केशवदास सों कीन्हो धर्म सनेहु।
सब सुख दै करि यों कह्यो, रसिकप्रिया करि देहु॥१०॥
(डा० हीरालाल दीक्षित—आचार्य केशवदास, पृ० ६० से उद्धृत)

निकलता है कि जब कभी भैया भगवतीदास ने 'रसिक प्रिया' देखा होगा, तो उन्हें रीतिकाल के बढ़ते हुए शृङ्गार से ग्लानि हुई होगी और उन्होंने यह पद लिख डाला होगा। वस्तुतः यह पद ऐतिहासिक तथ्य को इतना अधिक स्पष्ट नहीं करता है, जितना कि तत्कालीन काव्य की पतनोन्मुखी प्रवृति को। आपके समकालीन प्रसिद्ध सन्त सुन्दरदास (सं० १६५३-१७४६) को भी 'रसिकप्रिया' की स्थूल शृङ्गारिकता को देखकर क्षोभ हुआ था और उन्होंने भी इसी प्रकार उसकी निन्दा की थी :—

'रसिकप्रिया' 'रसमंजरी' और 'सिंगार' हि जानि।
चतुराई कर बहुत विधि विषै बनाई आंनि॥
विषै बनायी आंनि लगत विषियन कौं प्यारी।
जागै मदन प्रचण्ड सराहैं नखशिख नारी॥
ज्यौं रोगी मिष्टान्न खाइ रोगहि विस्तारै।
सुन्दर यह गति होइ जु तौ 'रसिकप्रिया' धारै॥ १॥

(सन्त सुधा सार सं० श्री वियोगी हरि, पृ० ६२०)

अतएव अन्तःसाक्ष्य के आधार पर भैया भगवतीदास जी के जीवन का विस्तृत परिचय नहीं मिलता। हाँ, केवल यह अनुमान लगाया जा सकता है कि आपने जब सं० १७३१ में काव्य रचना प्रारम्भ की होगी, तब आपकी आयु कम से कम २०-२५ वर्ष की अवश्य रही होगी और रचना पूर्ण (सं० १७५५) करने के पश्चात् ३-४ वर्ष अवश्य जीवित रहे होंगे। इस प्रकार आपका जन्म सं० १७०६ और १७१० के बीच हुआ तथा आप सं० १७६० के पश्चात् जीवित नहीं रहे होंगे।

काव्यगत विशेषताएँ :

भैया भगवतीदास एक प्रतिभाशाली कवि थे। आप 'भैया' नाम से कविता करते थे। इसके अतिरिक्त कहीं-कहीं पर 'भाविक'[1] उपनाम का भी प्रयोग मिलता है। आपके काव्य ग्रन्थ के अध्ययन से पता चलता है कि आपने न केवल जैन समाज में प्रचलित अध्यात्म परम्परा का पोषण ही किया, अपितु अपनी मौलिक उद्भावना शक्ति और काव्य प्रतिभा से उसका उन्नयन और विकास भी किया। जैन रहस्यवाद के मूलभूत सिद्धान्तों—आत्मा का स्वरूप और उसके भेद, मोक्ष प्राप्ति के उपाय, संसार की क्षणभंगुरता, बाह्याचार की सारहीनता आदि पर विचार किया ही, रूपक शैली और पौराणिक आख्यान का सहारा लेकर आत्म-तत्व की विवेचना भी की।

'चेतन कर्म चरित्र'[2] में युद्ध का रूपक आपकी कवित्व शक्ति का परिचायक है। चेतन जीव अनादिकाल से कर्मवश मिथ्यात्व की नींद में सोता रहा है।

---

१. देखिए—ब्रह्मविलास—पृ० २ (पद २), पृ० ५४ (पद २), पृ० ७३ (पद १७६)।
२. ब्रह्मविलास—चेतन कर्म चरित्र, पृ० ५५ से ८४ तक।

जब वह भवजाल काटकर सम्यक् दृष्टि से अपने चतुर्दिक जड़ तत्वों (पुद्गल) को देखता है तो उनके विषय में जानकारी प्राप्त करने हेतु सुबुद्धि से प्रश्न करता है। प्रियतमा सुबुद्धि उसे बताती है कि ये (पुद्गल) उसके शत्रु हैं, जिन्होंने उसे (जीव को) अनादि काल से भ्रम में डाल रक्खा है। अब उसे सचेत हो जाना चाहिए। सुबुद्धि के इस कथन को सुनकर उसकी सपत्नी कुबुद्धि रुष्ट हो जाती है और अपने पिता 'मोह' के घर जाकर अपनी उपेक्षित अवस्था की सूचना देती है, जिसे सुनकर मोह क्रोधाविष्ट होकर अपने दूत 'काम' को आज्ञा देता है कि वह जाकर चेतन जीव को उसकी अधीनता स्वीकार करने के लिए कहे। काम के संदेश को जीव ठुकरा देता है। फलतः दोनों ओर से युद्ध की तैयारी प्रारम्भ हो जाती है। मोह अपने बलिष्ट सेनापतियों और चतुर मंत्रियों को एकत्र कर जीव पर आक्रमण करने का आदेश दे देता है। उसके मंत्री राग-द्वेष और वीर सरदार-ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनी, आयु कर्म, नाम कर्म, अंतराय आदि अपनी अपनी सेनाएँ लेकर जीव पर आक्रमण कर देते हैं।[1] चेतन जीव भी आक्रमण की सूचना पाकर अपने मंत्री (ज्ञान) से परामर्श करता है। मंत्री तत्काल सेनानायकों को बुलाकर आक्रान्ता को दंड देने का आदेश देता है। फलतः स्वभाव, सुध्यान, चरित्र, विवेक, संवेग, समभाव, संतोष, सत्य, उपशम, दर्शन, दान, शील, तप आदि सेनापति अपने-अपने सैनिकों के साथ मोह की सेना का सामना करने के लिये उद्यत होते हैं। दोनों ओर से भयंकर युद्ध प्रारम्भ हो जाता है। दोनों दल एक दूसरे का संहार करने के लिए पूरा प्रयत्न करते हैं। किन्तु अंत में चेतन (जीव) की विजय होती है। मोह बलहीन होकर इधर उधर छिपता फिरता है :—

> मोह भयो बलहीन, छिप्यो छिप्यो जित तित रहै।
> चेतन महाप्रवीन, सावधान ह्वै चलत है ॥२५२॥
> (ब्रह्म०, पृ० ८०)

इस युद्ध रूपक में जहाँ एक ओर कवि ने जीव के स्वरूप, उसकी मुक्ति के उपाय, उसके शत्रु-मित्र पर प्रकाश डाला है, वहाँ दूसरी ओर युद्ध का भी सजीव वर्णन किया है। इस रूपक में दृष्टव्य यह है कि कवि ने युद्ध वर्णन और वीर रस के अनुकूल ही ओज गुण और मरहठा, करिखा आदि छन्दों को अपनाया है। जैसे :—

मरहठा छन्द

> वज्जहिं रण तूरे, दल बहु पूरे, चेतन गुण गावंत।
> सूरा तन जग्गो, कोउ न भग्गो, अरि दल पै धावंत ॥

---

१. दै धौंसा सब चढ़ै, जहाँ चेतन बसै।
आए पुर के पास, न आगे को धसै ॥ ४३॥ (पृ० ५६)

ऐसे सब सूरे, ज्ञान अंकूरे, आए सन्मुख जेह।
आपाबल मंडे, अरिदल खंडे, पुरुषत्वन के गेह ॥१०५॥

× × ×

रणसिंगे बज्जहिं, कोउ न भज्जहिं, करहि महा दोउ जुद्ध।
इत जीव हंकारहि निज परिवारहि, करहु अरिन को रुद्ध ॥
उत मोह चलावे, तव दल धावे, चेतन पकरो आज।
इहविधि दोऊदल में, कल नहिं पल, करहिं अनेक इलाज ॥१६५॥

जीव अनादिकाल से इस विश्व में भ्रम रहा है। विषय सुख को ही सच्चा सुख मानने के कारण उसे अनेक प्रकार के कष्टों का सामना करना पड़ता है। नाना विपत्तियों को सहते हुए भी वह ऐन्द्रिक आनन्द का पान करने की लालसा में मग्न रहता है और सद्गुरु के उपदेश की भी उपेक्षा करता है। इसे सिद्ध करने के लिए कवि ने एक पौराणिक आख्यान—मधुविन्दुक की चौपाई[1]—का आश्रय लिया है। आख्यान इस प्रकार है—एक पुरुष बन में मार्ग भूल गया है। वह स्वपथ-प्राप्ति-हेतु भटकता फिरता है। बन अतीव भयानक एवं हिंसक जन्तुओं से युक्त है। वह इस आगत विपत्ति से चिन्तित होता है कि कहीं वह वन्य पशु का शिकार न बन जाय। इसी समय वह देखता है कि एक उन्मत्त गज उस पर आक्रमण करने के लिए चला आ रहा है। अतएव वह भयभीत होकर भागता है और एक कुएं में प्राण रक्षा हेतु कूद पड़ता है। कुँए के निकट एक वट वृक्ष लगा है, उसकी शाखाएँ फलवती हैं तथा उसमें मधुमक्खियों का एक छत्ता लगा हुआ है। पुरुष एक शाखा के सहारे कुएँ में लटक जाता है। जब उसकी दृष्टि नीचे जाती है तो उसे एक भयंकर ऊर्ध्वमुख अजगर दिखाई पड़ता है। वह अपने चारों ओर भी नाग समूह देखता है। भयग्रस्त हो वह ऊपर देखता है। वहाँ उसे दो चूहे दिखाई पड़ते हैं जो उसी शाखा को काट रहे हैं। उसी समय हाथी भी आकर उस वृक्ष को झकझोरने लगता है। फलतः मक्खियों का समूह उड़कर पुरुष को काटने लगता है। उधर छत्ते से मधु-विन्दु भी टपक टपक कर उसके मुख में गिरने लगता है। अतएव वह सभी कष्टों को भूल कर मधु के आस्वादन में निमग्न हो जाता है। दैवयोग से उसी मार्ग से एक विद्याधर-युग्म निकलता है। पुरुष की दयनीय स्थिति को देख कर, वह इसे मुक्त करने के लिए प्रयत्नशील होता है। किन्तु पुरुष गिरते हुए मधु विन्दु के पान की लालसा में वहीं लटकना पसन्द करता है। विद्याधर को निराश होकर लौटना पड़ता है।

कवि अन्त में इस दृष्टान्त को स्पष्ट करता है कि यह संसार महावन है, जिसमें भवभ्रम कूप है। काल गज के रूप में विचरण कर रहा है। वट वृक्ष की शाखा ही आयु है, जिसे रात्रि दिवस रूपी दो चूहे काट रहे हैं। मधु मक्खियाँ शारीरिक रोग हैं, अजगर निगोद है और चार नाग चारों

---

१. ब्रह्मविलास—मधुविन्दुक की चौपाई, पृ० १३१ से १४० तक।

गतियों के लिए आए हैं। मधु की बूंद विषय सुख है, जिसमें जीव आसक्त रहता है और विद्याधर रूपी सद्गुरु के वचन का अनुसरण नहीं करता है। परिणामतः इस विश्व वन के संकटों का अन्त नहीं होता है। इस प्रकार कवि ने बड़े ही सुन्दर ढंग से विश्व की स्थिति को, जीव की दशा को और उसकी मुक्ति के उपाय को, एक रूपक के माध्यम से व्यक्त किया है। संसार के सच्चे सुख-दुख का वर्णन करके, कवि जीव को सद्गुरु के वचनामृत द्वारा सचेत हो जाने का उपदेश देता है :—

'एतो दुख संसार में, एतो सुख सब जान।
इमि लखि 'भैया' चेतिए, सुगुरू वचन उर आन ॥५८॥
(ब्रह्म०, पृ० १४०)

आपने इसी प्रकार अन्यत्र 'आतम-शुक-रूपक' के माध्यम से आत्मा के स्वरूप का स्पष्टीकरण किया है। रूपक इस प्रकार है आत्मा रूपी शुक को सद्गुरू उपदेश देता है कि वह कर्म रूपी वन में कदापि प्रवेश न करे, क्योंकि वहाँ लोभ रूपी नलिनी ने मोह रूप धोखा देने के लिए विषय सुख रूप अन्न को संजो रक्खा है। यदि अज्ञानवश वह कर्म-वन में पहुंच भी जाय तो उसे दृढ़ भाव से ग्रहण न करे, यदि दृढ़ भाव से ग्रहण भी करे तो उलट न जाय, यदि कदाचित उलट भी जाय तो तत्काल उड़कर भाग जाय। गुरु के इस उपदेश को नित्य प्रति सुनने वाला आत्म-शुक एक दिन अटवी को उड़कर जाता ही है और वहाँ विषय सुख देखकर उनकी ओर आकृष्ट भी हो जाता है। फलतः ज्यों ही वह लोभ नलिन पर बैठता है, विषय स्वाद रस में लटक जाता है। विषयों में फँस जाने पर कोई उसका उद्धारकर्ता नहीं दिखाई पड़ता। अन्ततः उसे गुरु उपदेश का स्मरण होता है और प्रभु स्मरण से वह विषय जाल काटने में पुनः समर्थ होता है। निश्चय ही : -

'यह संसार कर्म वन रूप। तामहि चेतन सुआ अनूप।
पढ़त रहै गुरु वचन विशाल। तौहु न अपनी करै संभाल ॥२२॥
लोभ नलिन पै बैठे जाय। विषय स्वाद रस लटके आय।
पकरहि दुर्जन दुर्गति परै। तामें दुःख बहुत जिय भरै ॥२३॥
(ब्रह्म०, पृ० २७०)

कवि ने यह स्पष्ट कर दिया है कि पुरुष विषय सुखों के भ्रम में आकर आत्म-स्वरूप को भूल जाता है और साँसारिक पीड़ाओं को भुगतने के लिए विवश हो जाता है। आपने अन्य रहस्यवादी सन्तों के समान गुरु के महत्व को अविकल रूप से स्वीकार किया है। आपका विश्वास है कि सद्गुरु के मार्गदर्शन के बिना जीव का कल्याण नहीं हो सकता, किन्तु सद्गुरु भी बड़े भाग्य से मिलता है :—

'सुअटा सोचै हिए मझार। ये गुरु साँचे तारनहार ॥२५॥
मैं शठ फिर्यो करम वन माँहि। ऐसे गुरु कहु पाए नाहिं।
अब मो पुण्य उदय कछु भयो। साँचे गुरु को दर्शन लयो ॥२६॥
(ब्रह्म०, पृ० २७०)

'पंचेन्द्रिय सम्वाद'[1] में आपने इन्द्रियों के पारस्परिक संलाप द्वारा, उनके मर्म का उद्घाटन किया है। नाक, कान, आँख, जिह्वा और स्पर्श क्रमशः अपने-अपने महत्व और गुरुत्व का प्रतिपादन स्वतः करते हैं, किन्तु एक इन्द्रिय के गुणों का तिरस्कार और प्रत्याख्यान दूसरी के द्वारा हो जाता है। तदनन्तर पंचेन्द्रिय सम्राट् मन अपनी सर्व-व्यापकता और सर्वशक्तिमत्ता का वर्णन करते हुए, इन्द्रियों से अपने को श्रेष्ठ सिद्ध करने का प्रयत्न करता है :—

> मन राजा मन चक्रि है, मन सबको सिरदार।
> मन सों बड़ो न दूसरो, देख्यो इहि संसार ॥११२॥
> (पृ० २४६)

किन्तु अन्त में मुनिराय मन को परमात्मोन्मुख होने का उपदेश देते हैं और बताते हैं कि परमात्मा का ध्यान करने से ही मन का कल्याण हो सकता है, अन्यथा नहीं। मन परमात्मा के अस्तित्व से अनभिज्ञता प्रकट करता है। अतएव सर्व प्रथम मुनिराय इन्द्रिय सुख की क्षणभंगुरता और नश्वरता का वर्णन करते हैं, फिर परमात्मा की प्राप्ति का उपाय बताते हैं। उनका कहना है कि जहाँ राग द्वेष नहीं है, वहीं परमात्मा का आवास है। उसका ध्यान करने से साधक स्वयं परमात्मा बन जाता है :—

> 'परमातम उहि ठौर है, राग द्वेष जिहिं नाहिं।
> ताको ध्यावत जीव ये, परमातम ह्वै जाहिं ॥१२३॥
> (पृ० २५०)

वह अविनाशी, अविकारी और सदैव समान रहने वाला है, परद्रव्यों से सर्वथा भिन्न है। परमात्मा पंच वर्ण, पंचरस, आठ स्पर्श और दोनों प्रकार के गन्ध से भी भिन्न है :—

> बढ़े घटै कबहूं नहीं रे, अविनाशी अविकार।
> भिन्न रहै परद्रव्य सों रे, सो चेतन निरधार ॥१३६॥
> पंच वर्ण में जो नहीं रे, नहीं पंच रस मांहि।
> आठ फरस तैं भिन्न है रे, गंध दोऊ कोउ नाहिं ॥१४०॥
> (पृ० २५१)

इस प्रकार भगवतीदास ने बड़े ही मनोरम ढङ्ग से इन्द्रियों के स्वरूप और अचिरन्तनता का वर्णन करने के पश्चात् आत्मा और परमात्मा का स्वरूप-विश्लेपण किया है।

भैया भगवतीदास का महत्व केवल उच्चकोटि की अध्यात्म परक काव्य रचना करने वाले कवि की दृष्टि से ही नहीं है, अपितु आपके काव्य का कला पक्ष भी अतीव सबल है। आपका अध्ययन प्रगाढ़ था। आपने न केवल जैन आचार्यों के दार्शनिक ग्रन्थों का ही अध्ययन किया था, अपितु संस्कृत और हिन्दी

---

१. ब्रह्मविलास—पंचेन्द्रिय संवाद, पृ० २३८ से २५२ तक।

के उच्चकोटि के ग्रन्थों का भी अवलोकन किया था। इसके अतिरिक्त आप समय की गति के प्रति भी जागरुक थे। यहाँ यह स्मरण रखना आवश्यक है कि आपका आविर्भाव उस समय हुआ था जब हिन्दी का रीतिकालीन काव्य अपनी युवावस्था पर था। अतएव आपके काव्य पर तत्कालीन कवियों के आचार्यत्व तथा चमत्कार-प्रदर्शन की भावना का प्रभाव पड़ना स्वाभाविक ही है। आपने जहाँ एक ओर स्वामी कार्तिकेय के 'द्वादशानुप्रेक्षा' के समान 'बारह भावना' (ब्रह्म०, पृ० १५३-५४) पर कलम उठाई है, अमीरखुसरो के समान बहिर्लापिका और अन्तर्लापिका (ब्रह्म०, पृ० १८८-१९२) लिखा है, मलिक मोहम्मद जायसी के 'अखरावट' के समान 'अक्षर बत्तीसिका' (पृ० ८४-८८) की रचना की है, सूरदास के समान 'दृष्टकूट' और 'चित्रबद्ध काव्य'[1] की सर्जना की है, वहाँ दूसरी ओर रीतिकालीन आचार्यों के समान भाषा को सजाने की चेष्टा की है, व्रजभाषा के अतिरिक्त खड़ी बोली और अरबी-फारसी[2] के शब्दों के उचित प्रयोग और उन पर अधिकार को सिद्ध कर दिखाया है, विविध वार्णिक और मात्रिक छन्दों को सफलतापूर्वक काव्य में स्थान दिया है और श्लेष,[3] यमक, अनुप्रास आदि अलंकारों का चमत्कार

---

१. आपने चित्रबद्ध कविता के अन्तर्गत नागबन्ध [illegible] चित्रम्, त्रिपदीबद्ध चित्रम्, एकाक्षरत्रिपदीबद्धचक्रम, कपाटबद्धचक्रम्, अश्वगतिबद्ध चित्रम्, सर्वतोभद्रगति चित्रम्, पर्वतबद्ध चित्रम्, चामराकारबद्ध चित्रम् आदि की रचना की है। दे० (पृ० २६२ से ३०४ तक)

२. एक छन्द में अरबी-फारसी के शब्दों का प्रयोग देखिए :—

मान यार मेरा कहा दिल की चशम खोल,
साहिब नजदीक है तिसको पहचानिये।
नाहक फिरहु नाहिं गाफिल जहान बीच,
सुकन गोश जिनका भलीभाँति जानिये॥
पावक ज्यों बसता है, अरनी पखान माँहि,
तोसरीज चिदानन्द इसही में मानिये।
पंज से गनीम तेरी उमर साथ लगे हैं,
खिलाफ तिसें जानि तूँ आप सच्चा आनिये॥५६॥ (पृ० २१)

३. यमक और श्लेष के चमत्कार संबंधी एक एक छन्द उद्धृत कर देना पर्याप्त होगा :—

मैनकाम जीत्यो बली, मैनकाम रसलीन।
मैनकाम अपनी कियो, मैनकाम आधीन॥८॥ (पृ० २८०)
बालापन गोकुल बसे, यौवन मनमथ राज।
वृन्दावन पर रस रचे, द्वारे कुबजा काज॥४६॥ (पृ० २८६)

(दूसरे दोहे में कवि ने कृष्ण-चरित वर्णन के अतिरिक्त गोकुल, मनमथ, वृन्दावन और कुबजा के श्लेष द्वारा क्रमशः इन्द्रियों का कुल, कामदेव, कुटुम्ब, और आस्रव (द्वार) अर्थ करके मानव जीवन की नश्वरता का संकेत भी किया है।)

दिखाया है। यह सब होते हुए भी आपने गोस्वामी तुलसीदास के समान 'कवि लघुता' भी दिखाई है। वस्तुतः आप में भक्तिकालीन संतों और रीतिकालीन आचार्यों के गुणों का अद्भुत सामंजस्य है। हिन्दी साहित्य के प्रमुख कवियों में आपका विशिष्ट स्थान है। आशा है हिन्दी साहित्य के भावी इतिहासकार भैया भगवतीदास को उनके गौरवपूर्ण स्थान से वंचित न करेंगे।

(१६) पांडे हेमराज

पांडे हेमराज हिन्दी गद्य लेखक और टीकाकार के रूप में काफी प्रसिद्ध हैं। आपने प्राकृत और अपभ्रंश भाषा के कई जैन आध्यात्मिक ग्रन्थों का हिन्दी गद्य-पद्य में अनुवाद अथवा टीका लिखा है। 'मिश्रबन्धु विनोद' में आपके सम्बन्ध में यह विवरण दिया हुआ है[1] :—

नाम (३७८।१) हेमराज पांडे।

ग्रन्थ—(१) प्रवचनसार टीका (२) पंचास्तिकाय टीका (३) इभक्तामर भाषा (४) गोम्मटसार (५) नयचक्र वचनिका (६) सितपट (७) चौरासी बोल।

रचनाकाल—१७०९।

विवरण—रूपचन्द के शिष्य तथा गद्य हिन्दी के अच्छे लेखक थे।

पंचास्तिकाय टीका के अन्त में आपको रूपचन्द का शिष्य बताया गया है—'यह श्री रूपचन्द गुरु के प्रसाद पांडे श्री हेमराज ने अपनी बुद्धि माफिक लिखत कीना।'[2] सम्भवतः यह रूपचन्द, बनारसीदास के साथी रूपचन्द होंगे, गुरु पांडे रूपचन्द नहीं, क्योंकि पांडे रूपचन्द की मृत्यु सं० १६९४ में ही हो चुकी थी।

आपने कितने ग्रन्थों की रचना की, इसका अभी तक निश्चित रूप से पता नहीं चल सका है। मिश्रबन्धुओं ने आपके सात ग्रन्थों की सूची दी है। जैन हितैषी (अंक ७।८) में दिगम्बर जैन ग्रन्थ कर्ताओं की सूची में पांडे हेमराज कृत उक्त सात पुस्तकों के अतिरिक्त 'स्वेताम्बर मत खण्डन' नामक आठवीं रचना का उल्लेख है।[3] राजस्थान के जैन शास्त्र भांडारों की खोज से हिन्दी साहित्य की बहुत-सी अनुपलब्ध और अज्ञात सामग्री प्रकाश में आई है। श्री दिगम्बर जैन अतिशय

---

१. मिश्रबन्धु विनोद (भाग २) पृ० ४५७।

२. श्री नाथूराम प्रेमी-हिन्दी जैन साहित्य का इतिहास, पृ० ५१ से उद्धृत।

३. हेमराज नयचक्र की वचनिका (सं० १७२४) गोमटसार की सक्षिप्त वचनिका, प्रवचनसार वचनिका (सं० १७०९) पंचास्तिकाय वचनिका, भक्तामर स्तोत्र छन्दो०, प्रवचनसार छन्दो०, चौरासी अछेड़ा छ०, स्वेताम्बर मतखण्डन (जैनहितैषी, अंक ७।८, वैशाख-ज्येष्ठ, वीर नि० सं० २४३६, पृ० ५५)।

क्षेत्र श्री महावीर जी (जयपुर) नामक संस्था के कार्यकर्ता श्री कस्तूरचन्द कासलीवाल ने आपके १२ ग्रन्थों की सूची दी है।[1] इसमें 'परमात्मप्रकाश' की हिन्दी गद्य टीका और रोहिणी व्रत कथा भी सम्मिलित है। आपकी एक अन्य नई रचना 'उपदेश दोहा शतक' 'ठोलियों के मन्दिर जयपुर से प्राप्त हुई है। इसकी एक अन्य हस्तलिखित प्रति बधीचन्द मन्दिर (जयपुर) के शास्त्र भाँडार में गुटका नं० १३ में सुरक्षित है।

'उपदेश दोहा शतक' की रचना सं० १७२५ में हुई थी। यह १०१ दोहा छन्दों में लिखा गया अध्यात्म विषय प्रधान ग्रन्थ है। इससे यह भी पता चलता है कि पांडे हेमराज सांगानेर (जयपुर) में पैदा हुए थे और बाद में 'कामागढ़' में जाकर रहने लगे थे, जहाँ कीर्तिसिंह नामक नरेश शासन कर रहे थे :—

'उतनी सांगानेरि कौं, अब कामागढ़ वास।
तहाँ हेम दोहा रचे, स्वपर बुद्धि परकास ॥९८॥
कामागढ़ सु वस जहाँ, कीरतिसिंघ नरेस।
अपनी खग बलि वस किए, दुर्जन जितेक देस ॥९९॥
सत्रह सै र पचीस कौ, बरनै संवत सार।
कातिक सुदि तिथि पंचमी, पूरब भयो विचार ॥१००॥
एक आगरे एक सौ, कीए दोहा छन्द।
जो हित दै बांचै पढ़ै, ता उरि बढ़ै अनंद ॥१०१॥

पाँडे जी की चार रचनाओं में ही रचना सम्वत् दिया गया है। प्रवचनसार की की टीका सं० १७०९ में लिखी गई, नयचक्र की वचनिका सं० १७२४ में और उपदेश दोहा शतक सं० १७२५ में लिखा गया। रोहिणीव्रत कथा की रचना सं० १७४२ में हुई। इससे आपके सं० १७०९ से १७४२ तक के रचनाकाल का पता चलता है। इसके पूर्व उन्होंने कब काव्य रचना प्रारम्भ की और आपकी अन्तिम रचना कब लिखी गई, यह अज्ञात है।

पांडे जी निर्विवाद रूप से हिन्दी साहित्य के अच्छे गद्य लेखक हो गए हैं। १८वीं शताब्दी के आरम्भ की गद्य रचनाएँ, हिन्दी गद्य के विकास की महत्वपूर्ण कड़ी हैं। किन्तु ऐसे महत्वपूर्ण गद्य लेखक को हिन्दी साहित्य के इतिहास में कोई स्थान प्राप्त नहीं हुआ।[2] आपके गद्य का नमूना इस प्रकार है :—

'जो जीव मुनि हुवा चाहै है सो प्रथम ही कुटुम्ब लोक कौं पूछि आपकौं छुटावै है बन्धु लोगनि सौं इस प्रकार कहै है—अहो इस जन के शरीर के तुम भाई बन्धु हौ, इस जन का आतमा, तुम्हरा नाहीं, यौ तुम निश्चय करि जानौ।'

(प्रवचनसार टीका)

---

१. देखिए—अनेकान्त, वर्ष १४, किरण १० (मई १९५७) में कासलीवाल जी का लेख 'राजस्थान के जैन शास्त्र भांडारों से हिन्दी के नए साहित्य की खोज', पृ० २९१।

२. मिश्रबन्धु विनोद में सूचना मात्र दी गई है।

'उपदेश दोहा शतक' में स्वानुभूति पर जोर दिया गया है, मन को वश में रखना अनिवार्य बतलाया गया है, केवल बाह्य तप को व्यर्थ सिद्ध किया गया है, घट में ही निरंजन देव का अस्तित्व स्वीकार किया गया है और तीर्थ भ्रमण को अलाभकर बताया गया है।[1] कवि का यह विश्वास है कि यदि 'शिव' सुख को प्राप्त करना है तो 'जप, तप, व्रत' आदि के बखेड़े में न पड़कर, कर्मों की निर्जरा हेतु, 'सोहं' शब्द को प्रमाण मानना होगा। यह स्वसंवेदन ज्ञान ही सब जपों का जप है, तपों का तप है, व्रतों का व्रत है और सिद्धिदायक है।

(१७) द्यानतराय

द्यानतराय का जन्म सं० १७३३ में आगरा में हुआ था। आपके पूर्वज हिसार के रहने वाले थे। आपके पितामह का नाम वीरदास और पिता का नाम श्यामदास था। सं० १७४६ में आपने बिहारीदास और मानसिंह के शिष्य के रूप में अध्ययन प्रारम्भ किया। ऐसा प्रतीत होता है कि बनारसीदास के समान आप भी युवावस्था में अनंग रंग में फँसकर आचरणहीन हो गए थे, बाद को सं० १७७५ में माता के उपदेश से ठीक रास्ते पर आए। सं० १७७७ में आपने शिखर समेद जी की यात्रा की थी।

द्यानतराय ने चार मुगल बादशाहों—औरंगजेब (सं० १७१५-१७६४), बहादुरशाह (सं० १७६४-१७६९), फर्रुखसियर (सं० १७७०-१७७६) और मुहम्मदशाह (सं० १७७६-१८०५) का शासन निकट से देखा था। उनके द्वारा किए गए अत्याचारों का भी आपने उल्लेख किया है। लेकिन मुहम्मदशाह के शासन की प्रशंसा की है।[2] इससे विदित होता है कि आपने उसके शासन के

---

१. सिव साधन कौ जानिये, अनुभौ बड़ो इलाज।
मूढ़ सलिल मंजन करत, सरत न एकौ काज ॥५॥
ठौर ठौर सोधत फिरत, काहे अन्ध अबैव।
तेरे ही घट में बसै, सदा निरंजन देव ॥२५॥
सिव सुख कारनि करत सठ, जप तप विरत विधान।
कर्म्म निर्जरा करन कौ, सोहं सबद प्रमान ॥५६॥

२. अकबर जहाँगीर साहजहाँ भए बहु,
लोक में सराहै हम एक नाहि पेखा है।
अवरंगशाह बहादुरसाह फैजदीन,
फरकसेर में जेजिया दुःख बिसेखा है॥
द्यानत कहाँ लग बड़ाई करै साहब की,
जिन पातसाहन कौ पातसाह लेखा है।
जाके राज ईत भीत बिना सब लोग सुखी,
बड़ा पातसाह महंमदसाह देखा है ॥४६॥
(धर्मविलास, पृ० २६०)

परवर्ती दिनों की दुर्दशा नहीं देखा था। अन्तिम दिनों में उनके साम्राज्य में अराजकता फैल गई थी और सं० १७९६ में नादिरशाह के आक्रमण से तो मुगल साम्राज्य की नींव ही हिल गई थी।

'धर्मविलास' ग्रन्थ में आपने सं० १७८० तक का जीवन चरित संक्षेप में लिखा है। वह एक प्रकार के 'आत्मचरित' का कार्य करता है।[1] सं० १७८० के बाद वह कब तक जीवित रहे, यह आपके 'आगम विलास' नामक दूसरे ग्रन्थ से स्पष्ट हो जाता है। इसमें विभिन्न विषयों पर लिखी गई फुटकल रचनाओं को संग्रहीत किया गया है। यह संग्रह संवत् १७८४ में माघ सुदी चौदह को मैनपुरी में पं० जगतराय द्वारा द्यानतराय की मृत्यु के पश्चात् किया गया था। इस संग्रह में द्यानतराय की मृत्यु तिथि सं० १७८३ को कार्तिक शुक्ल चतुर्दशी दी गई है[3] :—

'संवत विक्रम नृपत के गुण वसु सेल सितर्रा।
कातिक सुकल चतुरदसी द्यानत सुरग तुंस ॥१॥

नागरी प्रचारिणी सभा की खोज रिपोर्ट (१९३२-३४) में द्यानतराय की पाँच रचनाओं का विवरण दिया गया है। इनमें 'बावन अक्षरी छैढाल्यो' नामक पुस्तक का रचनाकाल सं० १७९८ वि० दिया हुआ है :—

---

१. द्यानतराय—धर्मविलास (द्यानतविलास)—प्र० जैन ग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय, बम्बई, प्रथम फरवरी, १९१४।

२. अग्र नाम तरसौं तिसनौं अगरोहा भया,
तिसकी सन्तान सब अग्रवाल गाए हैं।
ठारै सुत भए तिन, ठारै गोत नाम किए,
तहाँ सों निकसि कै हिसार माहि आए हैं॥
फिर लालपुर आय व्है कै 'चौकसी' कहाय,
ताही के सपूत स्यामदास के द्यानतराय,
देसपुर गाम सारे साहसी कहाए हैं ॥२६॥ (पृ० २५७)
सत्रहसय तैंतीस जन्म व्याले पिता मर्ने,
अठताले व्याह सात सुत सुता तीन जी।
छयाले मिले सुगुरू विहारीदास मानसिंघ,
तिनी जैन मारग का सरधानी कीन जी॥
पछत्तर माता मेरी सील बुद्धि ठीक करी,
सतत्तरि सिखर समेद देह कीन जी।
कछु आगरे मैं कछु दिल्ली माहि जोर करी,
अस्सी मांहि पोथी पूरी कीनी परवीन जी ॥२८॥ (पृ० २५८)

३. देखिए—वीरवाणी, वर्ष २, अंक १९-२० (१८ जनवरी १९४९) में श्री अगरचन्द नाहटा का लेख, कवि द्यानतराय और उनके ग्रंथ, पृ० २५४।

[1]हित सू अर्थ बताइयो सुगुर बिहारीदास।
सतरासै अट्ठानवै, वदि तेरस कातिक मास ॥५०॥
ज्ञान वान जैनी वसै, वसै आगरे माहिं।
आनसज्ञानी बहु मिलै, मूरख कोई नाहिं ॥५१॥
पय उपसम वलि मैं कहे, द्यानति अच्छर एह।
देपि संबाधे पंचासिका, बुधजन सुध करि लेहु ॥५२॥

। इति संबोध पंचासिका को छैढ़ाल्यौ सम्पूर्ण ॥

किन्तु यह रचना संवत् गलत प्रतीत होता है। सम्भवतः 'अट्ठावनै' को भूल से लिपिकार ने 'अट्ठानवै' लिख दिया है। वास्तव में इसका रचनाकाल सं० १७५८ है। श्री अगरचन्द नाहटा के शास्त्र भांडार में गुटका नं० ७० में इस ग्रन्थ की एक हस्तलिखित प्रति सुरक्षित है। उसमें भी रचना सं० १७५८ ही दिया गया है।[2]

ग्रन्थ :

धर्मविलास या द्यानतविलास—यह आपका प्रसिद्ध संग्रह है। इसमें कवि ने अपनी छोटी बड़ी ४५ रचनाओं को सं० १७८० में संग्रहीत किया था। इनमें अधिकांश रचनाएँ जैन धर्म और पूजा-पाठ सम्बन्धी ही हैं। श्री नाथूराम प्रेमी ने इसको जैन ग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय, बम्बई से फरवरी १९१४ में प्रकाशित किया था। इसके 'निवेदन' में आपने लिखा है कि 'इसमें (धर्मविलास) के कई अंश जुदा छप गए हैं और इसलिए उनको इसमें शामिल करने की आवश्यकता नहीं समझी गई।'[3] जुदा छपनेवाली रचनाओं में एक विशालकाय 'जैद पद संग्रह' है, जिसमें ३३३ पद हैं। (इसके ९० पद 'जिनवाणी प्रचारक कार्यालय' से भी 'द्यानत पद संग्रह' नाम से प्रकाशित हुए हैं।[4]) पदों के अतिरिक्त दूसरा अंश 'प्राकृत द्रव्य संग्रह' का पद्यानुवाद, तीसरा 'चरचाशतक' और चौथा 'भाषा पूजाओं' का संग्रह है।

आगमविलास—आपकी दूसरी रचना है। इसका संकलन उनकी मृत्यु के पश्चात् पं० जगतराय द्वारा किया गया था। कहा जाता है कि द्यानतराय की मृत्यु के पश्चात् उनकी रचनाओं को (द्यानतविलास के अतिरिक्त) उनके पुत्र लाल जी ने आलमगंजवासी किसी झाझू नामक व्यक्ति को दे दिया। पं० जगत

---

१. हस्तलिखित हिन्दी ग्रन्थों का पन्द्रहवां त्रैमासिक विवरण, पृ० १३०।
२. वीरवाणी—वर्ष ५, अंक २-३ (मई-जून १९५१) में श्री नाहटा जी का लेख—'हमारे संग्रहालय में दि० ग्रन्थों की हस्तलिखित प्रतियाँ, पृ० ४७।
३. द्यानतराय—धर्मविलास, (निवेदन) पृ० १।
४. द्यानतराय—द्यानतपद संग्रह—जिनवाणी प्रचारक कार्यालय, हरीसेनरोड, कलकत्ता, ७।

राय ने उन रचनाओं को एकत्र कर और यह विचार कर कि भविष्य में यह नष्ट न हो जाँय, एक गुटके में संग्रहीत कर दिया :—

> द्यानत[1] का सुत लाल जी चिट्ठे ल्याओ पास।
> सो ले झाझू को दिए आलम गंज सुवास ॥१३॥
>
> तासे पुन से सकल ही चिट्ठे लिए मगाय।
> मोती कटले मेल है, जगतराय सुख पाय ॥१४॥
>
> तब मन माहि विचार पोथी कीन्हीं एकठी।
> जोरि पढ़ैं नर नारि धर्म ध्यान में थिर रहैं ॥१५॥
>
> संवत सतरह सै चौरासी माघ सुदी चतुर्दशी भासी।
> तब यह लिखत समापत कीन्हीं मैनपुरी के माहि नवीनी ॥१६॥

आगमविलास की एक प्रति श्री अगरचन्द नाहटा के पास सुरक्षित है। इसमें ४६ रचनाएँ संग्रहीत हैं। प्रारम्भ में १५८ सवैया छंदों में सैद्धान्तिक विषयों की चर्चा है। नाहटा जी का अनुमान है कि सैद्धान्तिक विषयों की प्रधानता होने के कारण ही इसका नाम 'आगम विलास' रक्खा गया।[2]

भेद विज्ञान और आत्मानुभव—यह भी आपकी एक अन्य रचना बताई जाती है। इसमें आपने जीव द्रव्य और पुद्गलादि पर-द्रव्यों का विवेचन किया है और दोनों का अन्तर स्पष्ट किया है। आपका विश्वास है कि आत्म-तत्व रूपी चिन्तामणि के प्राप्त होने से ही सभी इच्छाएँ पूर्ण हो सकती हैं, अन्यथा नहीं। वह चैतन्य ज्योति ससरस है, जिसके पावन प्रकाश में वे सब पद, अपद प्रतीत होने लगते हैं, जिसकी चाह में इस मूढ़ प्राणी ने अपना सर्वस्व खोया है। आत्म तत्व की उपलब्धि होने पर विषय रस फीके हो जाते हैं। किन्तु यह आत्मानुभूति तीर्थादिकों के भ्रमण से नहीं होती, क्योंकि वह 'परमतत्व' तो घट में ही विराजमान है, जिस तरह तिल में तेल। कवि के शब्दों में—

> 'मैं[3] एक शुद्ध ज्ञानी निर्मल सुभाव राता।
> दृग ज्ञान चरन धारी, थिर चेतना हमारी।
> तिहु काल परसों न्यारा, निरद्वन्द निर्विकारा,
> आनन्दकन्द चन्दा, द्यानत जगत सदंदा,
> अब चिदानन्द प्यारा, हम आपमें निहारा ॥'

---

१. अनेकान्त—वर्ष ११, किरण ४–५ (जुलाई १९५२) पृ० १९८–९९ से उद्धृत।
२. देखिए—वीर वाणी, वर्ष २, अंक १९–२० (१८ जनवरी, १९४९) पृ० २५५ पर श्री नाहटा जी का लेख 'कवि द्यानतराय और उनके ग्रंथ'।
३. अनेकान्त—वर्ष ११, किरण ४–५ (जुलाई १९५२) पृ० १९६ से उद्धृत।

इन रचनाओं के अतिरिक्त 'मिश्रबन्धु विनोद' में 'एकी मौन भाषा' और 'एकीभाव भाषा' नामक दो अन्य ग्रन्थों की सूचना दी गई है।[1] इसके अतिरिक्त आपने काफी मात्रा में फुटकल पदों की भी रचना की थी। ३३३ पद प्रकाशित हो चुके हैं, किन्तु विभिन्न जैन शास्त्र भाण्डारों में अभी और फुटकल पद सुरक्षित हैं। जयपुर के शास्त्र भाण्डारों में १४३ पद पाए गए हैं, इनमें अनेक नए पद भी हैं।

आपकी इन रचनाओं के अध्ययन से पता चलता है कि आप मूलतः धार्मिक प्रवृत्ति के लेखक थे। जैन धर्म द्वारा मान्य सिद्धान्तों और विधि विधानों का अनुमरण और प्रचार ही आपकी काव्य रचना का उद्देश्य था। फिर भी आपके काव्य में यत्र तत्र उस अध्यात्मवादी और रहस्यवादी प्रवृत्ति के लक्षण मिल जाते हैं, जो आपके पूर्ववर्ती और समकालीन जैन कवियों की सामान्य विशेषता थी। 'जैन पद संग्रह' में यह प्रवृत्ति प्रधान रूप से दिखलाई पड़ती है। एक स्थान पर आप कहते हैं कि ऐ मेरे भाई। ऐसा सुमिरन कर कि पवन रुक जाय, मन नियन्त्रित हो जाय। तप ऐसा हो कि फिर तप न करना पड़े, जप ऐसा हो कि पुनः उसकी आवश्यकता न पड़े, व्रत ऐसा धारण करे कि उसकी पुनरावृत्ति की आवश्यकता न पड़े और मृत्यु भी ऐसी हो कि फिर मृत्यु से ही मुक्ति मिल जाय।[2] ऐसे जप तप से ही सहज वंसत का आगमन होता है और तब साधक शिव आनन्द में किलोल करने लगता है। 'धर्म विलास' में भी ऐसी कुछ रचनाएँ हैं, जो धार्मिक संकीर्णता के पाश से मुक्त होकर आत्मानुभव का रस पान कराती हैं। 'उपदेश दोहा शतक', 'ज्ञान दशक' और विशेष रूप से 'अध्यात्म पंचासिका' को हम इसी कोटि की रचनाएँ मान सकते हैं। 'ज्ञान दशक' में आप कहते हैं कि तू 'मैं मैं' क्या करता है तन धन भवन आदि को देख कर, वस्तुतः यह संसार तो विनाशशील है और तू अविनाशी है।[3] किन्तु मोह और अज्ञान में फँसकर तू अपने को भूल गया है। तेरे श्वासोछ्वास के साथ 'सोहं सोहं' शब्दायमान होता रहता है, यही

---

१. मिश्रबन्धु विनोद, पृ० ६२२।

२. ऐसा सुमिरन कर मेरे भाई।
पवन थमै मन कितहु न जाई ।टेक॥

....
....

सो तप तपो बहुरि नहिं तपना, सो जप जपो बहुरि नहिं जपना।
सो व्रत धरो बहुरि नहिं धरना, ऐसो मरो बहुरि नहिं मरना ॥ऐसो०३॥

३. मैं मैं काहे करत है, तन धन भवन निहार।
तू अविनाशी आतमा, विनासीक संसार ॥४॥
(धर्म विलास, पृ० ६५)।

तीनों लोकों का सार है। अतएव तू इसी 'अजपाजप' में अपने को लगा दे।[1] परमात्मा घट घट व्यापी है, किन्तु वह घट धन्य है, जिसमें वह प्रगट हो जाय।

द्यानतराय ब्रज भाषा के पंडित थे। किन्तु आपकी रचनाओं में हिन्दी की अन्य बोलियों के शब्दों के अतिरिक्त अरबी-फारसी के शब्द भी पाए जाते हैं। कुछ पदों पर तो पूर्ण रूप से विदेशी पदावली का प्रभाव है, जैसे :—

> 'जिंदगी सहल पै नाहक धरम खोवै,
> जाहिर जहान दीखै ख्वाब का तमासा है।
> कबीले के खातिर तू काम बन्द करता है।
> अपना मुलक छोड़ि हाथ लिया कांसा है॥
> कौड़ी-कौड़ी जोरि-जोरि, लाख कोरि जोरता है,
> काल की कुमक आए चलना न मासा है।
> साइत न फरामोश हूजिए गुसइंया को,
> यही तो सुखन खूब ये ही काम खासा है॥४४॥
>
> (धर्म विलास, पृ० ९६)

---

१. सोहं सोहं होत नित, सांस उसास मंझार।
ताको अरथ विचारिए, तीन लोक में सार॥
जैसा तैसो आप, थाप निहचै तजि सोहं।
अजपा जाप संभार, सार सुख सोहं सोहं॥७॥

(धर्म विलास, पृ० ६५)।

तृतीय खण्ड

चतुर्थ अध्याय

मूल्यांकन की दो दृष्टियाँ—व्यवहारनय और निश्चयनय

●

नय द्वय :

जैन अध्यात्म भिन्नता में अभिन्नता और अनेकता में एकता का पोषक है। वह अनेक दिखाई पड़नेवाले और समझे जानेवाले पदार्थों के मूल में एकरूपता के दर्शन करता है। यह सिद्धान्त 'आत्मतत्व' के साथ विशेषरूप से संलग्न है। सामान्यत: आत्मा के विषय में विद्वानों में अनेक मत प्रचलित हैं। उसकी सत्ता को अनेक प्रकार से स्पष्ट करने का यत्न किया जाता है। अनेक विशेषणों और गुणों से युक्त कर उसकी नाना अवस्थाओं और पर्यायों की कल्पना की जाती है। दर्शन, ज्ञान, चरित्र आदि गुणों को उसका अनिवार्य और प्रधान अंग माना जाता है। साथ ही यह भी प्रश्न उठाया जाता है कि क्या दर्शन, ज्ञान और चरित्र जो 'आत्मा' के गुण हैं, उससे किस मात्रा में भिन्न और किस मात्रा में अभिन्न हैं अर्थात् पदार्थ और गुण में क्या सम्बन्ध है? क्या गुण को ही पदार्थ मान लिया जाय? अथवा गुण और पदार्थ को भिन्न-भिन्न सत्ता माना जाय? यदि गुण को ही पदार्थ माना जाय तो किस गुण विशेष को? इस विवादपूर्ण और पेचीली समस्या का उत्तर देने के लिए और आत्मतत्व के मूल्यांकन हेतु जैन दर्शन दो दृष्टियों या नयों को अपनाता है। वे हैं—व्यवहारनय और निश्चयनय।

व्यवहारनय :

व्यवहारनय या बाह्य दृष्टि से पदार्थों में जो भेद और अनेकता दिखाई पड़ती है, निश्चयनय या परमार्थनय में उसी में एकत्व की प्रतीति होने लगती है। जैन अध्यात्म इन्हीं दोनों दृष्टियों को अपनाकर गूढ़ और रहस्यमय विषयों को समझाने में सफल हुआ है। व्यावहारिक दृष्टि सामान्यजनों के लिए है, जो तर्क और विश्लेषण के द्वारा किसी सत्य की जानकारी प्राप्त करना चाहते हैं। आत्मतत्व की पेंचीली सत्ता को जो व्यक्ति बौद्धिक आयास के माध्यम से जानने की चेष्टा करते हैं, उसके एक अथवा एकाधिक पक्ष के परिज्ञान से ही सन्तुष्ट हो जाते हैं, उन अनुसन्धित्सुओं के मार्ग को व्यवहारनय कहा जाता है।

निश्चयनय या परमार्थनय :

किन्तु इस पथ से हम 'आत्मा' की पूर्ण जानकारी नहीं प्राप्त कर सकते, क्योंकि वह बाह्यज्ञान या तर्क से परे है, अत: हमें उसके अन्तरतम में प्रवेश पाने के लिए निश्चयनय का अवलम्ब ग्रहण करना पड़ता है। इसके द्वारा हम चरम सत्य का पूर्ण ज्ञान प्राप्त करते हैं। प्रो० ए० चक्रवर्ती के शब्दों में 'परमार्थ' शब्द परमात्मा का द्योतक है और सत्य के अन्तरतम में प्रवेश करने का दार्शनिक पथ प्रदान करता है, जिससे हम चरम सत्य के यथार्थ स्वभाव का पूर्ण परिचय पाते हैं।[1]

व्यवहारनय से वस्तु में जो भेद दिखाई पड़ता है, परमार्थनय से उसी में अभेद की प्रतीति होती है। साधारण तौर पर देखने से दर्शन, ज्ञान और चरित्र आत्मा से भिन्न, उसके गुण हैं, किन्तु पारमार्थिक दृष्टि से दर्शन, ज्ञान, चरित्र ही आत्मा है :—

ववहारेणुदिस्सदि णाणिस्स चरित्तदंसणं णाणं।
णवि णाणं ण चरित्तं ण दंसणं जाणगो सुद्धो ॥७॥
(कुन्दकुन्दाचार्य – समयसार)

व्यवहारनय से जीव पाप-पुण्य करता है, कर्म बन्धन में फँसता है। नाना कर्मों में फँसकर वह नाना गतियों को प्राप्त होता है। सत्कर्म करके वह सुखों को प्राप्त करता है और दुष्कर्म करके पाप का भागी होता है। व्यवहारनय से आत्मा वीतराग निर्विकल्प स्वसंवेदनज्ञान के अभाव से रागादि रूप परिणाम से, शुभ और अशुभ कर्मों के कारण पुण्य और पाप का भागी होता है :—

---

१. "The term Parmartha refers to the ultimate and implies philosophical attempt to probe into the inner core of reality with the object of comprehending the intrinsic nature of reality, whole and complete." Samayasara of Sri Kunda kunda's Introduction by Prof A Chakravarti, Page 18.

एहु ववहारें जीवडउ लहेविगु कम्मु ।
बहुविह भावें परिणवइ तेण जि धम्मु अहम्मु ।।६०।।
(मुनियोगीन्दु—परमात्म प्रकाश)

किन्तु निश्चयनय से आत्मा न पाप करता है न पुण्य। वह न तो सत्कर्म में प्रवृत होता है और न असद् कर्म में। वस्तुतः कर्म का कारण शरीर होता है। शरीर द्वारा नानाविध कर्म किए जाते हैं और तदनुकूल फलों का जन्म होता है। आत्मा तो निर्विकल्प समाधि में स्थित हुआ वस्तु को वस्तु के स्वरूप देखता है, जानता है, रागादिक रूप नहीं होता। वह ज्ञाता है, दृष्टा है, परम आनन्द रूप है। योगीन्दु मुनि ने कहा है :—

दुक्खु वि सुक्खु वि बहु विहउ जीवहं कम्मु जणेइ ।
अप्पा देक्खइ मुणइ पर णिच्छउ एउं भणेइ ।।६४।।
(परमात्मप्रकाश, प्रथम ख०)

व्यवहारनय से आत्मा द्रव्य कर्म बन्ध, भाव कर्म बन्ध और नौ कर्म बन्ध में फँसता रहता है, पुनः यत्न विशेष से कर्म बन्धन से मुक्त होकर मोक्ष को प्राप्त होता है, किन्तु पारमार्थनय से आत्मा न तो कर्म बन्ध में फँसता है और न उसका मोक्ष होता है। वह बन्ध मोक्ष से रहित है :—

बन्धु वि मोक्खु वि सयलु जिय जीवहं कम्मु जणेइ ।
अप्पा किंवि वि कुणइ णवि णिच्छउ एउं मुणेइ ।।६५।।
(परमात्मप्रकाश, प्र० ख०)

श्री योगीन्दु मुनि ने ठीक ही कहा है कि यह आत्मा पंगु व्यक्ति के समान है। वह स्वयं न तो कहीं जाता है और न आता है। तीनों लोकों में इस जीव को कर्म ही ले जाता हैं अर्थात् यह आत्मा शुद्ध निश्चयनय से अनन्तवीर्य का धारण करने वाला होने से शुभ कर्म रूप बन्धन से रहित है, फिर भी व्यवहारनय से इस अनादि संसार में मन, वाणी, काया से उत्पन्न कर्मों द्वारा, पंगु व्यक्ति के समान, इधर उधर ले जाया जाता है अर्थात् बाह्य दृष्टि से आत्मा, परमात्मा की प्राप्ति को रोकनेवाले चतुर्गति रूप संसार के कारण रूप से जगत में गमन आगमन करता है :—

अप्पा पंगुह अणुहरइ अप्पु ण जाइ ण एइ ।
भुवणत्तयहं वि मज्झि जिय विहि आणइ विहि णेइ ।।६६।।
(परमात्मप्रकाश, प्र० ख०)

आत्मा न उत्पन्न होता है, न मृत्यु को प्रात होता है और न बन्ध-मोक्ष को प्राप्त होता है। शुद्ध निश्चयनय से आत्मा केवल ज्ञानादि अनन्त गुणों से पूर्ण है, जन्म, जरा, मरण, रोग, शोक, भय से मुक्त है, वह न स्त्री लिंग है न पुल्लिंग अथवा नपुंसक लिंग। वह श्वेत, कृष्ण आदि वर्णों से भी परे है। वह आहार, भय, मैथुन आदि परिग्रह से विरत है। ऊपर गिनाए गए अनेक प्रकार के वर्णों, रोगों आदि से वेष्टित रहनेवाले पदार्थ की संज्ञा देह है। पंचतत्वों से निर्मित शरीर ही समस्त विकारों का गृह

है। अतएव राग, द्वेष, मोह आदि भाव जो व्यवहारनय से आत्मा के दिखाई पड़ते हैं, शुद्ध निश्चयनय से शरीर के हैं। आत्मा से इनका कोई सम्बन्ध नहीं है :—

> 'णवि उप्पजइ ण वि मरइ बन्धु ण मोक्ख करेइ।
> जिउ परमत्थें जोइया जिणवरु एउं भणेइ ॥६८।
> अत्थि ण उब्भइ जर मरणु रोय वि लिंग विवरण।
> णियमिं अप्पु विभाणि तुंहु जीवहं एक्क वि सरण ॥६९॥
> देहहं उब्भउ जर मरण देहहं वरणु विचित्तु।
> देहहं रोय वियाणि तुहुं देहहं लिंगु विचित्तु ॥७०॥
> देहहं पेक्खवि जर मरणु मा भउ जीव करेहि।
> जो अजरामरु वंभु परु सो अप्पाणु मुणेहि ॥७१॥
>
> (परमात्मप्रकाश, प्र० म०)

व्यवहारनय की सीमाएँ :

इस प्रकार स्पष्ट हो जाता है कि व्यवहारनय अपूर्ण सत्य का द्योतक है, जबकि निश्चय या परमार्थनय पूर्ण सत्य का प्रतीक है। एक अर्ध सत्य का ज्ञान कराता है, तो दूसरा पूर्ण और सम्यक् सत्य को उपलब्ध कराता है। अतएव व्यवहारनय अंशतः सत्य होने पर भी, अन्ततः असत्य है। इसीलिए श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने कहा था कि व्यवहारनय 'सत्य' का उद्घाटन नहीं करता है, जबकि परमार्थनय वस्तुस्थिति का यथार्थ परिज्ञान कराने में सक्षम है। अतएव इस पथ के अनुगामी आत्मा को ही सम्यक् दृष्टा कहा जाएगा :—

> ववहारोऽभूदत्थो भूदत्थो देसिदो दु सुद्धणओ।
> भूदत्थमस्सिदो खलु सम्मादिट्ठी हवदि जीवो ॥११॥
>
> (कुन्द०, समयसार)

आगे चल कर आपने 'मोक्खपाहुड़' में यहाँ तक कह दिया है कि व्यवहारनय निन्द्रा है तो निश्चयनय जागरण। यदि एक हमें अज्ञान और मोह की निन्द्रा में डाल कर यथार्थ से दूर रखता है तो दूसरा ज्ञान चक्षुओं को खोलता है, सत्य को अनावृत करता है। अतः जो व्यवहार में जगता है, वह निश्चयनय से आँख मूंद लेता है और जो व्यवहारनय से स्वप्नावस्था में है, पारमार्थिक दृष्टि से जग रहा है :—

> जो सुत्तो ववहारे सो जोई जग्गए सकज्जाम।[1]
> जो जग्गदि ववहारे सो सुत्तो अप्पणे कज्जे ॥३१॥
>
> (मोक्खपाहुड़)

---

१. तुलनीय :

> या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी।
> यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुने॥
>
> (श्रीमद्भागवत गीता)

अतएव जब तक व्यक्ति व्यवहारनय के मोह से पड़ा रहता है, उसे असत्य में ही सत्य की भ्रान्ति होती रहती है, मिथ्यावस्तु को ही वास्तविक पदार्थ समझता रहता है। यहाँ तक कि शरीर और आत्मा में अन्तर न जानने के कारण वह शरीर की उपासना में निरत रह कर, अपने को परितोष देता रहता है कि वह आत्मा की उपासना कर रहा है। इस प्रकार वह सम्पूर्ण जीवन भ्रम में फँसा रहता है और अन्ततः उसे दुःख और निराशा ही हाथ लगते हैं। पारमार्थिक नय से ही इस भ्रान्ति का निराकरण सम्भव है :—

ववहारणओ भासदि जीवो देहो य हवदि खलु एक्को।
ण दु णिच्छयस्स जीवो देहो य कदावि एक्कट्ठो ॥२७॥
(श्री कुन्दकुन्द-समयसार)

किन्तु अज्ञानी जीव निश्चय स्वरूप को न पहचान कर, व्यवहार को ही निश्चय मान लेते हैं, जिस प्रकार बालक, जो बिल्ली और सिंह दोनों को नहीं जानता, बिल्ली को ही सिंह मान लेता है।[1] व्यवहारनय को ज्ञान की चरमसीमा मानने वाले जन बाह्याचार में ही फँसे रहते हैं। इसीलिए जैन साधकों ने बाह्याचार की कटु निन्दा की है और मूर्त्ति पूजा का निषेध किया है। प्रसिद्ध कवि श्री बनारसीदास शरीर पूजा अथवा मूर्त्ति पूजा की निस्सारता घोषित करते हुए कहते हैं कि जीव जब तक अज्ञानी रहता है, व्यवहारनय तक ही उसकी दृष्टि सीमित रहती है, वह शरीर और चेतनतत्व आत्मा को एक समझ शरीर की उपासना में निरत रहता है, किन्तु निश्चयनय को प्राप्त व्यक्ति दोनों के भेद को जान लेता है :—

तन चेतन विवहार एक से, निहचै भिन्न भिन्न हैं दोइ।
तन की थुति विवहार जीव थुति, नियतदृष्टि मिथ्या थुति सोइ॥
जिन सो जीव जीव सो जिनवर, तन जिन एक न मानै कोइ।
ता कारन तन की संस्तुति सो जिनवर की संस्तुति नहि होइ॥३०॥
(बनारसीदास-नाटक समयसार)

जो साधक व्यवहारनय को परित्यागकर निश्चयनय को ग्रहण करते हैं, वे शुद्ध चित्त से आत्मतत्व का ध्यान अपने जीवन का परम सत्य मान लेते हैं। उनके लिए आत्मा और सच्चिदानन्द ब्रह्म में कोई अन्तर नहीं रह जाता। वह पूर्ण विश्वास कर लेता है कि आत्मा और सत्-चित्-आनन्दस्वरूप ब्रह्म एक ही हैं, दोनों में कोई तात्विक अन्तर नहीं :—

---

१. माणवक एव सिंहो यथा भवत्यनवगीत सिंहस्य।
व्यवहार एव हि तथा निश्चयतां यात्यनिश्चयज्ञस्य ॥८॥
(श्री अमृतचन्द्र सूरि विरचितः 'पुरुषार्थसिद्धयुपायः' पृ० १०।)

निश्चयात् सच्चिदानन्दाद्वयरूपं तदस्म्यहम्।
ब्रह्मेति सतताभ्यासाल्लीये स्वात्मनि निर्मले ॥३०॥
(आशाधर–अध्यात्म रहस्य)

इसी अद्वैत दृष्टि के विषय में श्री रामसेनाचार्य ने 'तत्त्वानुशासन' में स्पष्ट लिखा है कि जो आत्मा को अन्य से कर्मादि से सम्बद्ध देखता है, वह आत्मा को जड़चेतनादि द्वैतरूप में अनुभव करता है और जो आत्मा को दूसरे सब पदार्थों से भिन्न देखता है, वह अद्वैत को देखता है। वह आत्मा को एक ही सच्चिदानन्द रूप में सर्वत्र अनुभव करता है :—

'आत्मानमनन्य संपृक्तं पश्यन् द्वैतं प्रपश्यति।
पश्यन् विभक्तमन्येभ्यः पश्यात्मानमद्वयं ॥१७७॥
(रामसेनाचार्य–तत्त्वानुशासन)

नय-द्वय का प्रयोजन :

प्रश्न उठता है कि जब व्यवहारनय अर्धसत्य को ही व्यक्त करता है, अपूर्ण है, तो उसे क्यों स्वीकार किया गया? उसे ज्ञान प्राप्ति का एक मार्ग क्यों माना गया? उत्तर सीधा है। व्यवहारनय, निश्चयनय का पूरक कहा जा सकता है। साधक को निश्चयनय तक पहुंचने के लिए एक सोपान की आवश्यकता होती है। उस सोपान का काम व्यवहारनय करता है। वस्तुतः निश्चयनय साध्य है, तो व्यवहारनय साधन। एक लक्ष्य है तो दूसरा गन्तव्य मार्ग। एक चरमबिन्दु है, तो दूसरा रेखा। यदि एक उस आत्मानुभूति का द्योतक है जिसके द्वारा 'परमात्मा' बना जाता है तो दूसरा उस अनुभूति की पृष्ठभूमि का निर्माता। जिस प्रकार एक सामान्य ज्ञान युक्त व्यक्ति प्यासा होने पर गन्दे अथवा शुद्ध जल की विवेचना में न फँस कर उपलब्ध गन्दे जल को ही पान कर, अपनी पिपासा शान्त करता है, किन्तु ज्ञानी पुरुष जल को स्वच्छ करके ही पान करता है अथवा जिस प्रकार शुद्ध स्वर्ण का आकांक्षी व्यक्ति, किसी भी स्वर्ण खण्ड को पुनः पुनरपि शोधन व्यापार से परिशुद्ध करने की चेष्टा करता है, किन्तु हेमाभूषणमात्र की इच्छा रखने वाला व्यक्ति स्वर्ण शोधन के चक्कर में न पड़ कर अच्छे आभूषण के लिए ही लालायित रहता है, उसी प्रकार परमभाव के दर्शी साधक सदैव निश्चयनय को ग्रहण करते हैं, जब कि निम्नस्तरीय ज्ञान से सन्तुष्ट हो जाने वाले व्यक्ति व्यवहारनय से ही परितोष प्राप्त कर लेते हैं। श्री कुन्दकुन्द ने कुछ इसी भाव को ध्यान में रखते हुए कहा था :

सुद्धो सुद्धादेसो णादव्वो परमभावदरिसीहिं।
ववहारदेसिदो पुण जे हु अपरमे ट्ठिदा भावे ॥१२॥'
(कुन्दकुन्द भारती–समयसार, पृ० २२)

इसके अतिरिक्त व्यवहारनय का एक दूसरी दृष्टि से भी महत्व है। किसी भी जटिल समस्या का समाधान प्राप्त करने हेतु एक एक पग ही आगे बढ़ना

पड़ता है। यदि कोई गूढ़ प्रश्न समक्ष आ उपस्थित होता है तो उसका स्पष्टीकरण कोई भी अध्यापक या विद्वान् एक एक पक्ष लेकर ही करता है। एक साथ सम्पूर्ण प्रश्न का उत्तर देने की चेष्टा करने से प्रश्न के और अधिक जटिल बन जाने का भय रहता है। इसी प्रकार 'आत्मतत्व' जैसे विशद, गुरु गम्भीर विषय की जानकारी प्राप्त करने हेतु एक परिपार्श्व या तदनुकूल परिवेश की महती आवश्यकता रहती है। इस परिवेश का कार्य व्यवहारनय करता है। श्री अमृत चन्द्र सूरि ने कहा है कि अनादिकाल से अज्ञानी जीव व्यवहारनय के उपदेश के बिना वस्तु के स्वरूप को समझ नहीं सकते, इसीलिए उनको व्यवहारनय के द्वारा समझाया जाता है।[1] श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने व्यवहारनय की महत्ता एक दूसरे ढंग से सिद्ध की है। आपका कहना है कि जिस प्रकार एक अनार्य को किसी भी प्रकार की शिक्षा देने के लिए अनार्य भाषा को ही माध्यम बनाना पड़ता है, ठीक इसी प्रकार साधारण जन को 'परमात्म तत्व' का ज्ञान केवल व्यवहारनय से ही कराया जा सकता है :--

> जह णवि सक्कमणज्जो अणज्जभासं विणा उ गाहेदुं।
> तह ववहारेण विणा परमत्थुवदेसणमसक्कं ॥ ८ ॥
>
> (समयसार, पृ० १७)

जैनेतर साहित्य में समान दृष्टि-द्वय :

जैन साधकों के समान अन्य विद्वानों द्वारा सत्य के दो पक्षों को इसी प्रकार स्वीकार किया गया है। मुंडकोपनिषद्[2] में आता है कि जब शौनक नामक प्रसिद्ध महागृहस्थ ने अंगिरा के पास विधिपूर्वक जाकर पूछा 'भगवन ! किसके जान लिए जाने पर यह सब कुछ जान लिया जाता है—'कस्मिन्नु भगवो विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवतीति।' उत्तर स्वरूप आचार्य अंगिरा ने कहा कि इस रहस्य के जानने के पूर्व दो प्रकार को विद्याओं का परिचय प्राप्त कर लेना अनिवार्य है। एक है परा विद्या अर्थात् परमात्म विद्या और दूसरीहै अपरा अर्थात् धर्म, अधर्म के साधन और उनके फल से सम्बन्ध रखने वाली विद्या—द्वे विद्ये वेदितव्ये इति ह स्म यद्ब्रह्मविदो वदन्ति परा चैवापरा च। परा च परमात्म विद्या। अपरा च धर्माधर्मसाधनतत्फलविषया।'

अपराविद्या के अन्तर्गत ऋगवेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्योतिष आते हैं, जो व्यक्ति को केवल वाह्यज्ञान का परिचय देकर विरत हो जाते हैं। इनके जान लेने मात्र से शौनक की समस्या

---

१. अबुधस्य बोधनार्थम् [illegible]।
व्यवहारमेव केवलमवैति यस्तस्य देशना नास्ति। ६।
श्री अमृतचन्द्रसूरि विरचित पुरुषार्थसिद्ध्युपायः, पृ० ८।

२. देखिए [illegible] उपनिषद् भाष्य, खंड १ के अन्तर्गत मुंडको० (पृ० ११, १२, १३)

का समाधान सम्भव नहीं। अतएव दूसरी विद्या-परा विद्या की शरण लेनी पड़ती है। परा विद्या से व्यक्ति आत्मतत्त्व और परमात्मतत्त्व की पूर्ण जानकारी प्राप्त करता है। इसी विद्या के द्वारा विवेकी पुरुष जान लेते हैं कि परमात्मा अदृश्य, अग्राह्य, अगोत्र, अवर्ण और चक्षुः श्रोत्रादिहीन है। वह अपाणिपाद, नित्य, विभु, सर्वगत, अत्यन्त सूक्ष्म और अव्यय है तथा सम्पूर्ण भूतों का कारण है :—

'यत्तदद्रेश्यमग्राह्यमगोत्रमवर्णमचक्षुः श्रोत्रं तदपाणिपादं नित्यं विभुं सर्वगतं सुसूक्ष्मं तदव्ययं यद्भूतयोनिं परिपश्यन्ति धीराः।...ईशानमक्षरं यया विद्ययाधिगम्यते सा परा विद्येति समुदायार्थः।'

अपरा और परा विद्या के इस विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि ये दो विद्याएँ जैन साधकों द्वारा स्वीकृत व्यवहार और निश्चयनय के समान ही हैं। एक बौद्धिक अथवा ऐन्द्रियज्ञान की बोधक है और दूसरी स्वसंवेद्य अथवा आत्मज्ञान की प्रतीक।

बौद्ध[1] दर्शन में भी इसी प्रकार सत्य के दो रूप बताए गए हैं। माध्यमिक सिद्धान्त की व्याख्या करते समय श्री चन्द्रकीर्ति ने कहा है कि आचार्य नागार्जुन ने परम करुणा से प्रेरित होकर भगवद्वचन के सत्य-द्वय की व्यवस्था की है। बुद्ध की धर्म दर्शना दो सत्यों का आश्रयण करती है—लोक संवृति सत्य और परमार्थ सत्य :—

> द्वे सत्ये समुपाश्रित्य बुद्धानां धर्मदेशना।
> लोकसंवृति सत्यं च सत्यं च परमार्थतः॥
>
> (मध्यमकावतार, २८, ८)

लोक संवृत्ति सत्य वस्तु के यथार्थ रूप का चित्र न प्रस्तुत करके, सत्याभास को ही सब कुछ मानता है। संवृत्ति (कल्पना) एक ओर वस्तु के स्वभाव दर्शन के लिए आवरण खड़ा करती है, दूसरी ओर पदार्थों में असत् स्वरूप का आरोपण करती है। संवृत्ति निःस्वभाव एवं सत्यभासित पदार्थों को स्वभावेन तथा सत्य रूपेण प्रतिभासित करती है। लोकदृष्टि से ही इसकी सत्यता है। अतः इसे लोक संवृत्ति सत्य कहते हैं। यह प्रतीत्य समुत्पन्न है, इसलिए कृत्रिम है।[2] दूसरी ओर परमार्थ सत्य अवाच्य है एवं ज्ञान का विषय नहीं है। वह स्वसंवेद्य है, उसका स्वभाव लक्षणादि से व्यक्त नहीं किया जा सकता। परमार्थ सत्य की विवक्षा से केवल इतना ही कहा जा सकता है कि जैसे तिमिर रोग से आक्रान्त व्यक्ति अपने हाथ से पकड़े धान्यादि पुंज को केश रूप में देखता है, किन्तु उसे शुद्ध दृष्टि वाला जिस रूप में देखता है, वही तत्व होता है, वैसे ही अविद्यातिमिर से उपहत अतत्व दृष्टा स्कंध, धातु, अभ्यतन का जो स्वरूप (सांवृतिक) उपलब्ध करता

---

१. देखिए—आचार्य नरेन्द्रदेव-बौद्ध धर्म दर्शन (पृ० ५१४–५५)

२. मोहः स्वभावावरणाद्धि संवृतिः सत्यं तयाख्याति यदेव कृत्रिमम्।
जगाद तत्संवृतिसत्यमित्यसौ मुनिः पदार्थं कृतकं च संवृतिम्॥
(मध्यमकावतार ६। २४, २८)

है, उसे ही अविद्या वासना रहित बुद्ध जिस दृष्टि से देखते हैं, वही परमार्थ सत्य है।"[१]

इस प्रकार हम देखते हैं कि जैन साधना के समान बौद्ध दर्शन में सत्य के दो रूपों को स्वीकृति प्रदान की गई है। प्रथम संवृति सत्य है, जो व्यवहारनय के समान है और दूसरा परमार्थ सत्य है, जिसे 'निश्चयनय' कहा गया है। इतना ही नहीं कुन्दकुन्दाचार्य के समान बौद्ध दर्शन में भा यह स्वीकार किया गया है कि संवृति सत्य परमार्थ सत्य का प्रथम सोपान है। वस्तु के यथार्थ परिज्ञान के लिए पहले संवृति सत्य की जानकारी नितान्त आवश्यक है। 'व्यवहार के अभ्युपगम के बिना परमार्थ की देशना अत्यन्त अशक्य है। और परमार्थ के बिना निर्वाण का अधिगम अशक्य है।'[२] इस प्रकार प्रथम दूसरे का पूरक है, साध्य का साधन है।

ऊपर वर्णित दर्शनों के अतिरिक्त अन्य अध्यात्म ग्रन्थों में भी इस प्रकार के सत्य-द्वय को खोजा जा सकता है। धर्म की आधुनिक परिभाषाओं में भी इस प्रकार के भेद की झलक पाई जाती है, 'जिनमें से विलियम जेम्स सामाजिक और व्यक्तिगत इन दो दृष्टियों को मानते है।'[३] इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि जीवन में, विशेष रूप से अध्यात्म क्षेत्र में, दोनों का अपना महत्व है। व्यावहारिक दृष्टि परमार्थनय की सहायक बनकर ही आती है। जब साधक को निर्मल दृष्टि प्राप्त हो जाती है, अन्तर्चक्षु खुल जाते हैं तो उसे व्यवहारनय की अपेक्षा नहीं रहती, उस समय वह स्वयं इसका परित्याग कर देता है।

---

१. आचार्य नरेन्द्रदेव—बौद्ध धर्म दर्शन, पृ० ५५५

२. व्यावहारमनाश्रित्य परमार्थो न देश्यते।
परमार्थमनागम्य निर्वाणं नाधिगम्यते॥ (म० का० २४, १०)

३. श्री योगीन्दु मुनि—परमात्मप्रकाश की प्रस्तावना, पृ० १०१।

पंचम अध्याय

द्रव्य-व्यवस्था

मोक्ष का सोपान है सम्यक् ज्ञान। सम्यक् ज्ञान अर्थात् विश्व के रहस्य को जान लेना। द्रव्यों का वास्तविक ज्ञान ही सम्यक् ज्ञान है। विश्व क्या है? पदार्थ नित्य है या अनित्य? दृश्यमान जगत का स्वरूप कैसा है? इन प्रश्नों पर आचार्यों ने विस्तार से विचार किया है और भिन्न-भिन्न सिद्धान्तों और मतवादों को सृष्टि की है। ब्राह्मण धर्म द्रव्य को एक, शाश्वत और सत्य मानता है। बौद्ध धर्म द्रव्य को अनेक, अस्थायी और असत्य बताता है। जैन धर्म दोनों के मध्यवर्ती का कार्य करता है। इसके अनुसार द्रव्य सदलक्षणवाला है, उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य सहित है अर्थात् गुण और पर्यायों का आश्रय रूप है।[1] द्रव्य का लक्षण सत् है। वह गुण और पर्याय संयुक्त है। गुण नित्य होते हैं और पर्याय अनित्य अर्थात् द्रव्य गुण की दृष्टि से स्थायी रहता है और पर्याय (अवस्था) की दृष्टि से उसमें परिवर्तन और विनाश होता रहता है। इसी स्थिरता, परिवर्तन और विनाश को क्रमशः ध्रौव्य, उत्पाद और व्यय कहते हैं। लेकिन द्रव्य को गुण पर्याय से भिन्न नहीं समझना चाहिए। अनन्तकाल से द्रव्य और गुण पर्याय में अभिन्न सम्बन्ध रहा है। द्रव्य के बिना गुण नहीं हो सकते और गुण के बिना द्रव्य। इसी प्रकार पर्याय से रहित द्रव्य या द्रव्य से रहित पर्याय की

---

१. दव्वं सल्लक्खणियं, उप्पादव्वयधुवत्तसंजुत्तं।
गुणपज्जायासयं, वा जं तं भण्णंति सव्वण्हू ॥१०॥
(कुन्दकुन्दाचार्य—पंचास्तिकाय)

कल्पना नहीं की जा सकती।[1] इस प्रकार द्रव्य नित्य और अपरिवर्तनशील है, उसकी अनेक पर्यायें हुआ करती हैं, जैसे मिट्टी द्रव्य का एक घट बनता है, उस समय मिट्टी का पिण्ड रूप पर्याय विनष्ट हो जाता है और घट का आकार धारण कर लेता है। किन्तु मिट्टी द्रव्य में कोई अन्तर नहीं आता। द्रव्य न तो उत्पन्न होता है और न नष्ट, किन्तु उसकी पर्यायें ही उत्पन्न, परिवर्तित और विनष्ट होती रहती हैं। आचार्य समन्तभद्र ने 'आप्तमीमांसा' में उदाहरण देते हुए इस तथ्य को प्रमाणित किया है। उन्होंने लिखा है कि एक राजा के एक पुत्र है और एक पुत्री। राजा के पास एक सोने का घड़ा है। पुत्री उस घट को चाहती है, किन्तु राजपुत्र उस घट को तोड़कर उसका मुकुट बनवाना चाहता है। राजा पुत्र का हठ पूरा करने के लिए घट को तोड़कर उसका मुकुट बनवा देता है। घट नाश से पुत्री दुःखी होती है, मुकुट के उत्पाद से पुत्र प्रसन्न होता है और चूंकि राजा तो सुवर्ण का इच्छुक है, जो घट टूटकर मुकुट बन जाने पर भी कायम रहता है। अतः उसे न शोक होता है और न हर्ष। अतः वस्तु त्रयात्मक है।[2] इस प्रकार जैन दर्शन भिन्नता में अभिन्नता और अनेकता में एकता को स्वीकार करता है। इसे हम भेदाभेदवाद का सिद्धान्त कह सकते हैं। डा० राधाकृष्णन ने भी लिखा है कि उनके (जैन दर्शन) लिए भेद में अभेद ही वास्तविकता या सत्यता है। वे भेदाभेदवाद सिद्धान्त के पोषक हैं।[3]

द्रव्य-भेद :

द्रव्य के दो रूप हैं—जीव और अजीव। जिनमें चेतनता पाई जाय, वह जीव द्रव्य और जो अचेतन हैं, वे अजीव द्रव्य कहलाते हैं। आत्मा चेतन्य है, शेष अचेतन। अचेतन या अजीव द्रव्य पाँच हैं :—

१. पुद्गल, २. धर्म, ३. अधर्म, ४. आकाश, ५. काल।

ये छहों द्रव्य अनादि हैं। एक दूसरे का कोई कर्ता नहीं है। अपने गुण पर्यायों के अनुसार छहों द्रव्य अनादि काल से विद्यमान हैं। पूरे ब्रह्मांड का निर्माण इन्हीं छः द्रव्यों से हुआ है।[4]

---

१. पज्जयविजुदं दव्वं, दव्व विजुता य पज्जय णत्थि।
दोण्हं अणण्णभूदं भावं समणा परुविति। १२॥
दव्वेण विणा ण गुणगुणेहिं दव्वं विणा ण संभवदि।
अव्वदिरित्तो भावो, दव्वगुणाणं हवदि तह्मा ॥ १३ ॥ (पंचास्तिकाय)

२. पं० कैलाशचन्द्र शास्त्री - जैनधर्म; पृ० ७५–७६।

३. "Reality to them is a unity in difference and nothing beyond. They adopt a theory of 'Bhedabheda' or difference in unity." -Indian Philosophy. (Part II), Page 313.

४. छहों सु द्रव्य अनादि के, जगत माँहि जयवंत।
को किस ही कर्ता नहीं, यों भाखे भगवंत ॥२॥

जीव :

जीव या आत्मा चेतन द्रव्य है। रूप, रस, गन्ध और स्पर्शविहीन है। आचार्य कुन्दकुन्द ने कहा है कि जीव चैतन्य स्वरूप है, जानने देखने रूप उपभोग वाला है, प्रभु है, कर्ता है, भोक्ता है और अपने शरीर के बराबर है। यद्यपि वह अमूर्त है तथापि कर्मों से संयुक्त है।[1] इस गाथा में जीव के समस्त लक्षणों को स्पष्ट कर दिया गया है। जीव चेतन है अर्थात् वह प्रत्येक कार्य को देखता और सुनता है। चेतनता, बुद्धि, ज्ञान आदि उसी की पर्यायें हैं। आत्मा स्वयं कर्मों का कर्ता है और उनके फलों का भोक्ता है। सांख्य दर्शन की तरह, वह अकर्ता और अपरिणामी नहीं है। योगीन्दु मुनि कहते हैं कि आत्मा मूर्ति से रहित है, ज्ञानमयी है, परमानन्द स्वभाव वाला है, नित्य है और निरंजन है।[2] कहने का तात्पर्य यह कि आत्मा स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण वाली मूर्तियों से भिन्न है। वीतरागभाव परमानन्द रूप अतीन्द्रिय सुख स्वरूप अमृत रस के स्वाद से समरसीभाव से संयुक्त है तथा मिथ्यात्व रागादि रूप अंजन से रहित निरंजन है। भैया भगवतीदास ने जीव द्रव्य को चेतन द्रव्य नाम ही दिया है। आपने कहा है कि छठा चेतन द्रव्य है, दर्शन, ज्ञान चरित्र जिसका स्वभाव है। अन्य द्रव्यों के संयोग से यह शुद्धाशुद्ध अवस्था को प्राप्त होता रहता है।[3] इससे स्पष्ट है कि जीव अपने संस्कारों के कारण स्वयं बँधा है और अपने ही पुरुषार्थ से स्वयं छूटकर मुक्त हो सकता है। इस आधार पर जीव की दो श्रेणियाँ बनाई जा सकती हैं—(१) संसारी, जो अपने संस्कारों के कारण नाना योनियों में शरीर धारण करके जन्म मरण रूप से घूम रहे हैं और (२) सिद्ध या मुक्त, जो समस्त कर्म व्यापारों से मुक्त होकर शुद्ध चैतन्य रूप में स्थित हैं। बनारसीदास ने

अपने गुण परजाय में, बरतें सब निरधार।
को काहू मेटे नहीं, यह अनादि विस्तार ॥ ३ ॥
है अनादि ब्रह्मांड यह, छहों द्रव्य को वास।
लोकहद्द इनतें भई, आगे एक अकास ॥ १० ॥
—भैया भगवतीदास—ब्रह्मविलास (अनादि बत्तीसिका) पृ० २१७–१८।

१. जीवो त्ति हवदि चेदा उवओगविसेसिदो पहू कत्ता।
भोत्ता य देहमत्तो ण हि मुत्तो कम्मसंजुतो ॥ २७ ॥
(कुन्दकुन्द०—पंचास्तिकाय)

२. मुत्ति विहूणउ णाणमउ परमाणंद सहाउ।
णियमि जोइय अप्पु मुणि णिच्चु णिरंजणु भाउ ॥ १८ ॥
—योगीन्दु मुनि—परमात्मप्रकाश (द्वि० महा०), पृ० १४७।

३. षष्ठम चेतन द्रव्य है, दर्शन ज्ञान स्वभाय।
परणामी परयोग सों, शुद्ध अशुद्ध कहाय ॥ ६ ॥ (ब्रह्मविलास, पृ० २१८)

कहा भी है कि जीव की दो दशाएं हैं—संसारी और सिद्ध।[1] जीव जब तक संसारी रहता है, शरीर में विद्यमान रहता है, तब तक पद्मरागमणि के समान शरीर को प्रकाशित करता रहता है और कर्म मल से मुक्त होने पर सर्वज्ञ और सर्वदर्शी होकर अनन्त काल तक असीम आनन्द का अनुभव करता रहता है।

पुद्गल द्रव्य

रूप, रस, गंध, वर्ण आदि पुद्गल के लक्षण हैं। हम जो कुछ देखते हैं, सूंघते हैं, वह सब पुद्गल है। अम्ल तिक्त, कषाय, कटु, क्षार और मधुर आदि षट रस पुद्गल के हैं। तप्त, शीत, चिक्कण, रूखा, नर्म, कठोर, हल्का, भारी आदि स्पर्श पुद्गल के हैं। सुगंध और दुर्गन्ध पुद्गल के ही रूप हैं। शब्द, गंध, सूक्ष्म, सरल, लम्ब, वक्र, लघु, स्थूल, संयोग, वियोग, प्रकाश और अंधकार आदि के मूल पुद्गल ही हैं। छाया, आकृति, तेज, द्युति आदि पुद्गल की पर्याय हैं। एक प्रकार से समस्त दृश्यमान जगत इस 'पुद्गल' का ही विस्तार है। आचार्य कुन्दकुन्द कहते हैं कि इन्द्रियों के भोगने योग्य पदार्थ, पाँच इन्द्रियाँ, पाँच प्रकार के शरीर और मन तथा आठ कर्म आदि जो कुछ मूर्त पदार्थ है, उन सभी को पुद्गल समझो।[2] स्वामी कार्तिकेय ने कहा है कि जो रूप, रस, गंध, स्पर्श परिणाम आदि से इन्द्रियों द्वारा ग्रहण करने योग्य है, वे सब पुद्गल द्रव्य हैं। वे संख्या में जीव से अनन्त गुने हैं। पुद्गल द्रव्य में अपूर्व शक्ति है। ये जीव के केवल ज्ञान स्वभाव को भी नष्ट कर देते हैं।[3] पौद्गलिक पदार्थों के गर्भ में पड़ कर जीव अपने स्वरूप को भूल जाता है और भव भ्रम में चक्कर काटता रहता है। यहाँ तक कि पुद्गल और अपने में जीव कोई अन्तर नहीं जान पाता और पुद्गल की दशाओं को अपनी दशाएँ मान लेता है। इसी कारण कर्म वृद्धि होती रहती है।[4]

---

१. जीव द्रव्य की द्वै दशा, संसारी अरु सिद्ध।
पंच विकल्प अजीव के, अक्षय अनादि असिद्ध ॥ ४ ॥
(बनारसीदास—बनारसीविलास, कर्मछत्तीसी, पृ० १३६)

२. उवभोज्जमिंदिएहिं, य इंदिय काया मणो य कम्माणि।
जं हवदि मुत्तमण्णं, तं सव्वं पोग्गलं जाणे ॥८२॥
(पंचास्तिकाय)

३. जे इंदिएहिं गिज्झं रूवरसगंधफास परिणामं।
तं चिय पुग्गलदव्वं अणंतगुणं जीवरासीदो ॥२०७॥
का वि अपुव्वा दीसदि पुग्गलदव्वस्स एरिसी सत्ती।
केवलणाण सहाओ विणासिदो जाइ जीवस्स ॥२११॥
(स्वामी कार्तिकेय—कार्तिकेयानुप्रेक्षा)

४. गर्भित पुद्गल पिंड में, अलख अमूरति देव।
फिरै सहज भव चक्र में, यह अनादि की टेव ॥१६॥

पुद्गल द्रव्य छः प्रकार के होते हैं। योगीन्दु मुनि ने कहा है कि पुद्गल छः प्रकार के हैं, मूर्तीक हैं, अन्य सब द्रव्य अमूर्त हैं (परमात्मप्रकाश द्वि० महा० दोहा नं० १९)। छः भेद इस प्रकार हैं—(१) बादरबादर (२) बादर (३) बादर-सूक्ष्म (४) सूक्ष्मबादर (५) सूक्ष्म (६) सूक्ष्मसूक्ष्म। पत्थर, काठ, तृण आदि बादर बादर हैं, इनके टुकड़े होकर नहीं जुड़ते। जल, घी, तेल आदि बादर हैं, जो अलग होकर फिर मिल सकते हैं। छाया, आतप, चाँदनी बादरसूक्ष्म हैं, जो कि देखने में बादर, किन्तु ग्रहण करने में सूक्ष्म हैं। नेत्र को छोड़कर, चार इन्द्रियों के विषय रस गंधादि सूक्ष्मबादर हैं जो कि देखने में नहीं आते, किन्तु ग्रहण करने में आते हैं। कर्मवर्गणा सूक्ष्म हैं, जो दृष्टि में नहीं आते। परमाणु सूक्ष्मसूक्ष्म हैं, जिनका दूसरा भाग नहीं हो सकता। ये छहों प्रकार के पुद्गल जीव से भिन्न होते हैं। किन्तु सामान्यतया जीव यह भेद जान नहीं पाता। पौद्गलिक कृत्यों को अपना कार्य समझता रहता है। इसीलिए नाना प्रकार के दुःखों और कर्मों की सृष्टि होती रहती है।

धर्म द्रव्य और अधर्म द्रव्य

धर्म और अधर्म का तात्पर्य पुण्य पाप नहीं है। जैन दर्शन में यह एक प्रकार के विशिष्ट तत्व हैं, जो अन्य किसी भी दर्शन में नहीं पाए जाते। जीव द्रव्य और पुद्गल द्रव्य का विवेचन हो चुका है।। ये दोनों द्रव्य गतिशील बताए गये हैं। अतएव यह आवश्यक है कि इनकी गतियों की कोई सीमा रेखा हो। साथ ही इनकी स्थिति और गति के लिये कोई सहायक तत्व हो। अतएव इन द्रव्यों के जो चलने में सहायक होता है, वह धर्म द्रव्य है और जो ठहरने में सहायता करता है वह अधर्म द्रव्य है। प्रो० महेन्द्रकुमार ने लिखा है कि 'अनन्त आकाश में लोक के अमुक आकार को निश्चित करने के लिये यह आवश्यक है कि कोई ऐसी विभाजक रेखा, किसी वास्तविक आधार पर निश्चित हो, जिसके कारण जीव और पुद्गलों का गमन वहीं तक हो सके, बाहर नहीं।...इसी लिये जैन आचार्यों ने लोक और अलोक के विभाग के लिये लोकवर्ती आकाश के बराबर एक अमूर्तीक निष्क्रिय और अखण्ड धर्म द्रव्य माना है। जो गतिशील जीव और पुद्गलों को गमन करने में सहायक कारण होता है।..... जिस प्रकार गति के लिये एक साधारण कारण धर्मद्रव्य अपेक्षित है, उसी तरह जीव और पुद्गलों की स्थिति के लिये भी एक साधारण कारण होना चाहिये और वह है—अधर्म द्रव्य।[1]

पुद्गल की संगति करै, पुद्गल ही सों प्रीति।
पुद्गल को आप गनै, यहै भरम की रीति ॥१७॥
जे जे पुद्गल की दशा, ते निज मानै हंस।
याही भरम विभाव सों, बढ़ै करम को वंस ॥१८॥
(बनारसीदास, कर्मछत्तीसी, पृ० १३८)

1. श्री महेन्द्रकुमार न्यायाचार्य—जैनदर्शन, पृ० १८६

यहाँ पर यह स्मरण रखना चाहिये कि धर्मद्रव्य स्वतः किसी वस्तु को गतिशील नहीं बनाता है, अपितु जो स्वयं गतिमान है, उनकी सहायता भर कर देता है। जिस प्रकार मछली के चलने में जल सहायक होता है। वह किसी द्रव्य की गति में निमित्त कारण ही होता है। इसी प्रकार अधर्म द्रव्य भी निमित्त कारण ही है अर्थात् स्वतः ठहरते हुए जीव और पुद्गलों को पृथ्वी की तरह ठहरने मे सहायक होता है। इन द्रव्यों की उपादेयता जल या छाया के समान ही है। जिस प्रकार मछली की गति के लिये जल की अपेक्षा है अथवा ग्रीष्म से तप्त यात्री के लिये छाया की आवश्यकता है, उसी प्रकार जीव और पुद्गल द्रव्यों की गति और स्थिति के लिये क्रमशः धर्म द्रव्य और अधर्म द्रव्य की सहायता अपेक्षित है।[1] कुछ विद्वानों ने इन द्रव्यों की तुलना आधुनिक विज्ञान के विभिन्न पदार्थों से की है और धर्म द्रव्य को ईथर नामक तत्व और अधर्म द्रव्य को सर आइजक न्यूटन के आकर्षण सिद्धान्त के समान बताया है।[2]

आकाश द्रव्य

सकल द्रव्यों को अवकाश देने वाले द्रव्य का नाम आकाश द्रव्य है। यह अमूर्तीक और सर्वव्यापी है।[3] इसके भी दो भेद कहे गये हैं—लोकाकाश और अलोकाकाश। जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म आदि द्रव्यों की गति और स्थिति का क्षेत्र लोकाकाश है। अलोकाकाश शून्य है, दूसरे द्रव्य का गमन वहाँ नहीं हो सकता। आकाश द्रव्य रूप, रस, गंध, स्पर्श आदि से रहित है।

काल द्रव्य

सभी द्रव्यों के उत्पादादि रूप परिणमन में जो सहायक होता है, उसे काल द्रव्य कहते हैं। यह भी वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श आदि से रहित होता है और अमूर्त है। किन्तु धर्म या अधर्म द्रव्य के समान यह एक नहीं, अपितु अनेक हैं। भूत, भविष्य, वर्तमान आदि काल की ही पर्यायें हैं। काल द्रव्य किसी पदार्थ के परिणमन में निमित्त कारण ही होता है अर्थात् इसकी सहायता प्राप्त करके द्रव्य पर्याय भेद को प्राप्त होते रहते हैं, जैसे कुलाल चक्र से मृत्तिकापिंड।

---

१. जैसे सलिल समूह में करै मीन गति कर्म।
वैसे पुद्गल जीव को, चलन सहाई धर्म ॥२२॥
ज्यों पंथी ग्रीषम समै, बैठैं छाया मांहि।
त्यों अधर्म की भूमि में, जड़ चेतन ठहरांहि ॥२३॥
(बनारसीदास—नाटकसमयसार की उत्थानिका)

२. देखिये—श्री घासीराम कृत कासमोलोजी ओल्ड ऐण्ड न्यू।

३. दव्वहँ सयलइँ वरि ठियइँ णियमें जासु वसंति।
तं णहु दव्वु वियाणि तुहुं जिणवर एउ भणंति ॥२०॥
([illegible], द्वि० महा०, १४६)

कतिपय अन्य दर्शनों में भी द्रव्यों को मान्यता दी गई है, किन्तु उनकी संख्या और स्वरूप में अन्तर रहा है। वैशेषिक दर्शन पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु आकाश, काल, दिशा, आत्मा और मन आदि नौ द्रव्य मानता है, किन्तु इनको षड्द्रव्यों में ही अन्तर्भूत किया जा सकता है।[1]

ये छहो द्रव्य अनादि हैं और एक दूसरे से किसी न किसी प्रकार का सम्पर्क बनाये हुए हैं। द्रव्यों के अनादि स्वभाव को भैया भगवतीदास ने उदाहरण देते हुए सिद्ध किया है। उनका कहना है कि अन्न को ज्ञान नहीं होता तथापि वह बिना ऋतु के नहीं पैदा हो सकता, यही उसका अनादि स्वभाव है। वन्य वृक्ष स्वतः पुष्पों, फलों को समय पर धारण कर लेते हैं, यही उनकी स्वभावजन्य विशेषता है। सद्यजात शिशु स्वतः मातृस्तन पीने लगता है, यह अनादि स्वभाव का ही लक्षण है। सर्प के मुख में विष कौन भर देता है? कहने का तात्पर्य यह कि पृथ्वी, पवन, जल, अग्नि, आकाश आदि अनादि काल से वर्तमान रहे हैं।[2]

इन षड द्रव्यों में जीव, पुद्गल और काल को छोड़ कर शेष द्रव्य अपने प्रदेशों से अखण्डित हैं। जीवद्रव्य अनन्त हैं, पुद्गल द्रव्यों की संख्या उससे भी अधिक है, काल भी असंख्य हैं। धर्म द्रव्य और अधर्म द्रव्य एक एक हैं और लोकव्यापी हैं। जीव और पुद्गल गतिशील हैं, शेष स्थायी हैं। आकाश द्रव्य एक ही है, किन्तु वह अनन्तप्रदेशी है। सभी द्रव्य लोकाकाश में स्थित हैं। अतएव लोकाकाश आधार हुआ, शेष आधेय। यद्यपि ये द्रव्य एक ही क्षेत्र में वर्तमान हैं तथापि अपने अपने गुणों में ही निवास करते हैं। व्यवहारनय से अवश्य दूसरे का प्रभाव ग्रहण कर लेते हैं, किन्तु निश्चयनय से प्रत्येक द्रव्य दूसरे से अप्रभावित रहता है। ये द्रव्य जीवों के अपने अपने कार्य को उत्पन्न करते रहते हैं अर्थात् पुद्गल द्रव्य, आत्म स्वभाव के प्रतिकूल जीवों में मिथ्यात्व, अव्रत, कषाय और रागद्वेषादि के भाव भरता रहता है, धर्म द्रव्य गति में सहायता पहुंचाता रहता है, अधर्म द्रव्य स्थिति सहकारी का कार्य करता है, आकाश द्रव्य अवकाश देता

---

१. विस्तार के लिए देखिए—श्री महेन्द्रकुमार-जैन दर्शन, पृ० १६४।

२. कहा ज्ञान है नाज पै, ऋतु बिनु उपजै नाहिं।
सबहिं अनादि स्वरूप हैं, समुझ देख मनमाहिं॥ १२॥
को बोवत बन वृक्ष को, को सींचत नित जाय।
फलफूलनि कर लहलहै, यहै अनादि स्वभाय॥ १४॥
कौन सिखावत बाल को, लागत मा तन धाय।
क्षुद्धित पेट भरे सदा, यहै अनादि स्वभाय॥ २१॥
कौन सांप के बदन में, विष उपजावत वीर।
यहै अनादि स्वभाय है, देखो गुण गम्भीर॥ २३॥
पृथ्वी पानी पौन पुनि, अग्नि अन्न आकास।
है अनादि इहि जगत में, सर्वद्रव्य को वास॥ २५॥
—भैया भगवतीदास—ब्रह्मविलास (अनादि बतीसिका) पृ० ११८, १६।

है और काल द्रव्य शुभ अशुभ परिणामों का सहायी बन जाता है। परिणामत: जीव अनेक प्रकार के कष्टों को सहन करते हुए, नाना योनियों में भ्रमण करता रहता है। अतएव परमात्म पद की अनुभूति के लिए अथवा मोक्ष प्राप्ति के लिए यह आवश्यक है कि जीव सभी द्रव्यों के वास्तविक स्वरूप को समझे और अपने रूप और स्वभाव को जानकर सच्चे मार्ग को ग्रहण करे। द्रव्यों के रहस्य को जानना अथवा ब्रह्माण्ड की स्थिति का सच्चा परिज्ञान ही सम्यक्ज्ञान होता है। इसीलिए योगीन्दु मुनि कहते हैं कि - हे जीव! परद्रव्यों के स्वभाव को अतीन्द्रिय सुख में विघ्नकारक समझकर, उनसे मुक्त हो, शीघ्र ही मोक्ष के मार्ग में लग जाओ :—

'दुक्खहं कारणु मुणिवि जिय, दव्वहं एहु सहाउ।
होयवि मोक्खहं मग्गि लहु, गम्मिज्जइ पर लोउ॥ २७॥

(परमात्मप्रकाश, द्वि० महा०, पृ० १५६)

षष्ठ अध्याय

जैन कवियों द्वारा आत्मा का स्वरूप कथन

●

आत्मा का स्वरूप :

विश्व के सभी दर्शनों और विभिन्न सम्प्रदायों के साधकों द्वारा आत्मा के स्वरूप के सम्बन्ध में पर्याप्त चिन्तन मनन किया गया है और अनेक प्रकार के निष्कर्ष निकाले गए हैं। वस्तुतः अलख और अरूप तत्व के सम्बन्ध में कोई भी विचारक या साधक 'इदमित्थम्' का दावा नहीं कर सकता। जो जिस रूप का अनुभव करता है उसी प्रकार उसको अभिव्यक्त कर देता है। इसीलिए आत्मा के स्वरूप और आकार के विषय में अनेक प्रकार के मत और सिद्धान्त देखने को मिल जाते हैं। यदि एक दर्शन आत्मा को सर्वव्यापक मानता है तो दूसरा 'जड़' की संज्ञा देता है, यदि तीसरे मत में आत्मा 'देहप्रमाण' है तो चौथे मत से वह शून्य है। वेदान्त, न्याय और मीमांसा में आत्मा को सर्वव्यापी स्वीकार किया गया है। सांख्य दर्शन जीव को जड़ मानता है। बौद्ध विचारकों ने आत्मा को शून्य माना है। अभिधर्म-कोष में आचार्य वसुबन्धु ने कहा है कि आत्मा नाम का कोई नित्य ध्रुव, अविपरिणाम स्वभाव वाला पदार्थ नहीं है। कर्म से तथा अविद्या आदि क्लेषों से अभिसंस्कृत पंचस्कन्ध (रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार तथा विज्ञान) मात्र ही पूर्व भव सन्तति क्रम से एक प्रदीप से दूसरे प्रदीप के जलने की तरह गर्भ में प्रवेश पाता है :—

> 'नात्मास्ति, स्कन्धमात्रं तु कर्मक्लेशाभिसंस्कृतम्
> अन्तराभव सन्तत्या कुक्षिमेति प्रदीपवत्॥ ३—१८॥

उपनिषद् साहित्य में आत्म-तत्व पर विस्तार से विचार किया गया है और उसे निर्लिप्त, निर्विकार, शुद्ध तत्व घोषित किया है। वह मन, वाणी का

अविषय है, किन्तु मन और वाणी उसी की सत्ता से स्वविषयों की ओर आकर्षित होते हैं। उसके हाथ पैर नहीं हैं, किन्तु वह चलता है और ग्रहण करता है। वह अशरीरी भी है और उसके सहस्र सिर, सहस्र आँखें भी हैं। वह एक होकर भी आधार भेद से अनेक रूप धारण करता है। वह अणु से भी सूक्ष्म और महान् से भी महान् है।[1] प्रश्नोपनिषद् में कहा गया है कि आत्मा इसी शरीर में स्थित है, अतएव उसकी खोज के लिए इधर उधर भटकना मूर्खता है।[2] कठोपनिषद् में आत्मा को 'अंगुष्ठमात्र' कहा गया है।[3] श्वेताश्वतरउपनिषद् में लिखा है कि वह हाथ पैर से रहित होकर भी गतिशील है और ग्रहण करने वाला है, नेत्रहीन होकर भी वह देखता है और कर्णरहित होकर भी सुनता है।[4]

जैन दर्शन में आत्मा को 'शरीर प्रमाण' कहा गया है अर्थात् आत्मा जिस शरीर को धारण करता है, उसका आकार भी उसी शरीर के बराबर हो जाता है। इस प्रकार आत्मा का कोई निश्चित आकार नहीं है। वह किसी द्रव पदार्थ के समान है। जिस प्रकार कोई द्रव पदार्थ पात्र का आकार ग्रहण कर लेता है, उसी प्रकार आत्मा भी धारण किए हुए शरीर का आकार ग्रहण कर लेता है। किन्तु वस्तुतः आत्मा का यह रूप नहीं है और न इस प्रकार वह अपना आकार ही बदलता रहता है। जैन दर्शन आत्मतत्व की दो रूपों में व्याख्या करता है—व्यवहारनय और निश्चययन। व्यवहारनय से आत्मा का उपर्युक्त स्वरूप रहता है। वह कर्ता, भोक्ता और शरीर परिणामी है। किन्तु निश्चयनय से आत्मा न शरीर धारण करता है, न कर्म करता है और न आकार बदलता है। निश्चयनय से वह शुद्ध, बुद्ध, ज्ञानी है, सर्व मल रहित है, जन्म जरा मरण से परे है। 'परमात्मप्रकाश' में श्री योगिन्दुमुनि कहते हैं कि आत्मा न गौरवर्ण का है, न कृष्ण वर्ण का और न रक्त वर्ण का, वह न सूक्ष्म है और न स्थूल। आत्मा न ब्राह्मण है, न वैश्य; न क्षत्रिय है, न शूद्र; न स्त्री है, न पुरुष और न नपुंसक; न वह बौद्ध आचार्य है, न दिगम्बर मुनि; न परमहंस है, न जटाधारी अथवा मुण्डित संन्यासी; न वह किसी का गुरू है, न शिष्य; न वह पण्डित है, न मूर्ख; न वह ईश्वर है न अनीश्वर; वह तरुण, वृद्ध अथवा बाल भी नहीं है; न वह देव है, न पशु, पक्षी या इतर प्राणी। वह शुभ-अशुभ भावों से परे है, अतीत, आगत और अनागत की सीमा के ऊपर है। आत्मा शील है, तप है और दर्शन, ज्ञान, चरित्र है।[5] योगीन्दु मुनि के शब्दों का समर्थन करते हुए

---

१. गुलाबराय—रहस्यवाद और हिन्दी कविता, पृ० २०।
२. इहैवान्तः शरीरे सोम्य स पुरुषो ॥ प्रश्न० ६–२ ॥
३. अंगुष्ठमात्रः पुरुषो मध्यआत्मनि तिष्ठति ॥ कठ० २।१।१२ ॥
४. अपाणिपादो जवनो ग्रहीता,
पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः।
(श्वेता० ३।३।१६)
५. अप्पा गोरउ किण्हु णवि, अप्पा रत्तु ण होइ।
अप्पा सुहुमु वि थूलु ण वि, णाणिउ जाणे जोइ ॥ ८६ ॥

मुनि रामसिंह ने 'दोहापाहुड़' में आत्मा में उपर्युक्त गुणों का निषेध किया है। आपने लिखा है :—

'हउं गोरउ हउं सामलउ हउं मि विभिण्णउ वण्णि।
हउं तणु अंगउ थूलु हउं, एहउ जीव म मण्णि॥ २६॥
ण वि तुहुं पंडिउ मुक्खु ण वि, ण वि ईसरु ण वि णीसु।
ण वि गुरू कोइ वि सीसु ण वि सव्वइं कम्मविसेसु॥ २७॥
हउं वरु बंभणु णवि वइसु, णउ खत्तिउ ण वि सेसु।
पुरिसु णउंसउ इत्थि ण वि, एहउ जाणि विसेसु॥ ३१॥

(दोहापाहुड़, पृ० ६–१०)

इस प्रकार आत्मा यद्यपि व्यवहारनय से विभिन्न शरीर धारण करता है, पौद्गलिक कर्मों का कर्ता है और सुख दुःख आदि फलों का भी भोक्ता है तथापि निश्चयनय से वह केवल चेतन भाव का कर्ता है और रूप, रस, गंध, वर्ण से रहित है। श्री पूज्यपाद ने 'इष्टोपदेश' में कहा है कि 'मैं एक सबसे भिन्न हूं, ममत्वरहित हूं, शुद्ध हूं, ज्ञानी हूं, योगियों द्वारा जानने योग्य हूं, और पर के संयोग से उत्पन्न समस्त भाव मेरे स्वभाव से बाह्य हैं।'[1] निश्चयनय से न आत्मा का मरण होता है, न रोग; तब भय अथवा दुःख कहाँ से होगा?

वस्तुतः आत्मा नित्य, निरामय और ज्ञानमय है तथा परमानंद स्वभाव वाला है। लेकिन भ्रमवश वह अपने स्वरूप को भूल गया है। सामान्यतया शरीर और आत्मा को एक समझ लिया जाता है। शरीर के सुख-दुःखों को आत्मा का सुख दुःख मान लिया जाता है और शरीर के जन्म-जरा-मरण को आत्मा की उत्पत्ति, वृद्धि और मृत्यु स्वीकार कर ली जाती है। इस भेद को न जानने के कारण ही जीव नाना योनियों में भ्रमण करता हुआ, अनेक प्रकार के कष्टों को सहन करता रहता है। भैया भगवतीदास जीव की इस दशा को

अप्पा बंभणु वइसु ण वि, ण वि खत्तिउ ण वि सेसु।
पुरिसु णउंसउ इत्थ ण वि, णाणिउ मुणइ असेसु॥ ८७॥
अप्पा वन्दउ खवणु ण वि, अप्पा गुरउ ण होइ।
अप्पा लिंगिउ एक्कु ण वि, णाणिउ जाणइ जोइ॥ ८८॥
अप्पा पंडिउ मुक्खु ण वि, णवि ईसरु णवि णीसु।
तरुणउ बूढउ बालु णवि, अण्णु वि कम्म विसेसु॥ ६१॥
अप्पा संजमु सीलु तउ, अप्पा दंसणु णाणु।
अप्पा सासय मोक्ख पउ, जाणंतउ अप्पाणु॥ ६३॥

(परमात्मप्रकाश, प्र० महा०)

१. एकोऽहं निर्ममः शुद्धो ज्ञानी योगीन्द्रगोचरः।
बाह्याः संयोगजा भावा मत्तः सर्वेऽपि सर्वथा॥२७॥

एक रूपक के द्वारा स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि काया रूपी नगरी में जीव रूपी सम्राट् शासन करता हुआ, माया रूपी रानी में आसक्त हो गया है, मोह उसका फौजदार है, क्रोध कोटपाल है, लोभ वजीर है और मान अदालत है ऐसी राजधानी और सभासदों से घिरा हुआ वह आत्मस्वरूप को भूल गया है।[1] अतएव आत्मा के स्वरूप की जानकारी हेतु, आत्मा और शरीर के अन्तर को समझ लेना आवश्यक है।

आत्मा और शरीर में अन्तरः

आत्मा और शरीर दो भिन्न तत्व हैं। आत्मा या जीव द्रव्य अरूप है, अलख है, अज है। शरीर पौद्गलिक गुणों से युक्त है, मांस, मज्जा, अस्थि, रक्त आदि से निर्मित है। अतएव वह नाशवान है, गंधयुक्त है, सुख-दुःख का कारण है। आत्मा और शरीर में वही अन्तर है, जो शरीर और वस्त्र में। जिस प्रकार वस्त्र, शरीर नहीं हो सकता, उसी प्रकार शरीर, आत्मा नहीं हो सकता, जिस प्रकार वस्त्र के विनाश से शरीर का नाश सम्भव नहीं, उसी प्रकार शरीर के नष्ट होने पर आत्मा नष्ट नहीं होता। श्री योगीन्दु मुनि कहते हैं कि जिस प्रकार कोई बुद्धिमान पुरुष लाल वस्त्र से शरीर को लाल नहीं मानता, उसी तरह वीतराग निर्विकल्प स्वसंवेदन ज्ञानी शरीर के लाल होने से आत्मा को लाल नहीं मानता, जिस प्रकार वस्त्रों के जीर्ण होने पर शरीर को जीर्ण नहीं माना जाता, उसी तरह ज्ञानी शरीर के जीर्ण होने पर आत्मा को जीर्ण नहीं मानते। जिस प्रकार वस्त्रनाश से शरीर का नाश नहीं होता, उसी प्रकार शरीर नाश से आत्मा का नाश नहीं होता, जिस प्रकार वस्त्र देह से सर्वथा भिन्न है, उसी प्रकार देह को आत्मा से सर्वथा भिन्न समझो :—

> रत्तें वत्थे जेम बुहु देहु ण मण्णइ रत्तु।
> देहि रत्ति णाणि तहं अप्पु ण मण्णइ रत्तु ॥१७८॥
> जिण्णि वत्थि जेम बुह, देहु ण मण्णइ जिण्णु।
> देहिं जिण्ण णाणि तह अप्पु ण मण्णइ जिण्णु ॥१७९॥

---

१. काया सी जु नगरी में चिदानन्द राजकरै,
मया सी जु रानी पै मगन बहु भयो है।
मोह सो है फौजदार क्रोध सो है कोतवार,
लोभ सो वजीर जहाँ लूटिबे को रह्यो है ॥
उदै को जु काजी मानै, मान को अदल जानै,
कामसेवा कानवीस आइ वाको कह्यौ है।
ऐसी राजधानी में अपने गुण भूलि गयो,
सुधि जब आई तबै ज्ञान आइ गह्यौ है ॥२९।
(ब्रह्मविलास, शतअष्टोत्तरी, पृ० १४)

वत्थु[1] पणट्ठइ जेम बुहु देहु ण मण्णइ णट्ठु।
णट्ठे देहे णाणि तहं, अप्पु ण मण्णइ णट्ठु ॥१८०॥
भिण्णउ वत्थु जि जेम जिय देहहं मण्णइ णाणि।
देहु वि भिण्णउ णाणि तंह अप्पहं मण्णइ जाणि ॥१८१।

(परमात्मप्रकाश, द्वि० महा०, पृ० ३२०)

भैया भगवतीदास कहते :—

लाल वस्त्र पहिरे सों देह न लाल होय,
लाल देह भए हंस लाल तौ न मानिए।
वस्त्र के पुराने भए देह न पुरानी होय,
देह के पुराने जीव जीरन न जानिए॥
वसन के नास भए देह को न नास होय,
देह के नास हंस नास ना बखानिए।
देह दर्व पुद्गल की चिदानन्द गर्वमयी,
दोऊ भिन्न भिन्न रूप 'भैया' उर आनिए ॥१०॥

(ब्रह्मविलास, आश्चर्य चतुर्दशी, पृ० १६२)

बनारसीदास जी दूसरे ढंग से दोनों के अन्तर को स्पष्ट करते हैं। उनका कहना है कि सोने में रक्खी हुई लोहे की तलवार सोने की कही जाती है, परन्तु जब वह लोहे की तलवार सोने के म्यान से अलग की जाती है तब उसे लोग लोहे की कहते हैं अथवा जिस प्रकार घट को ही घी की संज्ञा दे दी जाती है, यद्यपि घी कभी घट नहीं हो सकता, उसी प्रकार शरीर के संयोग से जीव, शरीर नहीं हो जाता :—

'खांडो कहिए कनक कौ, कनक म्यान संयोग।
न्यारो निरखत म्यान सों, लोह कहैं सब लोग ॥७॥
ज्यों घट कहिए घीव को, घट को रूप न घीव।
त्यों बरनादिक नाम सों, जड़ता लहै न जीव ॥८॥

(नाटक समयसार, अजीवद्वार, पृ० ७७)

शरीर और आत्मा के इस भेद को न जानने के कारण ही जीव शरीर के व्यापारों को अपना व्यापार मान लेता है। परिणामतः वह बन्धन में फँसता चला जाता है। अतएव इस अज्ञानका निवारण प्रत्येक साधक का प्राथमिक कर्तव्य है। इसीलिए 'योगसार' में कहा गया है कि अशरीर (आत्मा) को ही सुन्दर शरीर समझो और इस शरीर को जड़ मानो, मिथ्यामोह का त्याग करो और अपने शरीर को भी अपना मत मानो :—

---

१. तुलनीय—वासांसि जीर्णानि यथा विहाय, नवानि गृह्णाति नरो पराणि।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि संयाति नवानि देही ॥२२॥
(श्रीमद्भागवतगीता, अध्याय २)

असरीरू वि सुसरीरू मुणि इहु सरीरू जडु जाणि ।
मिच्छा मोहु परिच्चयहि मुत्ति णियं वि ण माणि ॥६१॥
(श्री योगीन्दु-योगसार, पृ० ३८४)

शुद्ध आत्मा को अशुचि शरीर से भिन्न समझनेवाला, किसी भी शास्त्र पारंगत विद्वान् से बढ़कर है। इन दोनों के अन्तर का परिज्ञान हो जाने पर कुछ जानने को रह ही नहीं जाता। मुनि रामसिंह कहते हैं कि 'जानो-जानो' क्या कहते हो ? यदि ज्ञानमय आत्मा को शरीर से भिन्न जान लिया तो फिर जानने को रह ही क्या गया ?

'बुज्झहु बुज्झहु जिणु भणइ को बुज्झउ हलि अण्णु ।
अप्पा देहहं णाणमउ छुडु बुज्झियउ विभिण्णु ॥४०॥
(दोहापाहुड़, पृ० १२)

व्यक्ति जब शरीर जन्य संकल्प-विकल्पों और रागद्वेषों से विमुख रहता हुआ आत्मसुख की ही चिन्ता में लीन हो जाता है तब शरीर के जरा मरण का भी उस पर प्रभाव नहीं पड़ता, क्योंकि वह समझ लेता है कि आत्मा से इसका कोई सम्बन्ध नहीं, वह तो अजर अमर है।

आत्मा की अवस्थाएँ :

आत्मा अज्ञान में कब तक फँसा रहता है ? अज्ञान से मुक्ति कैसे सम्भव है ? और ज्ञानी आत्मा की क्या स्थिति होती है ? इन प्रश्नों पर भी साधकों ने काफी विचार किया है। वेदान्त दर्शन के अनुसार आत्मा, परमात्मा का अंश है। माया, मोह, अज्ञान आदि से मुक्त होने पर वह परब्रह्म परमात्मा में लीन हो जाता है। माया ही जीव और परमात्मा के मिलन में व्यवधान है। अतएव उसी से निष्कृति साधक का लक्ष्य है।

जैन साधकों ने आत्मा का स्वरूप किंचित भिन्न रूप में वर्णित किया है। उनके अनुसार यद्यपि आत्म-द्रव्य सदैव एकरूप रहता है तथापि पर्याय दृष्टि से उसमें अवस्था भेद होता रहता है। सामान्यतया वह पौद्गलिक पदार्थों से घिरा होने के कारण उनमें इतना आसक्त हो जाता है कि अपनी शक्ति और स्वरूप का विस्मरण कर देता है। ऊपर हम दिखा आए हैं कि किस प्रकार वह शरीर को ही सर्वस्व समझ लेता है। लेकिन ज्ञान समुत्पन्न होने पर आत्मा और शरीर में अन्तर समझने की विवेक दृष्टि उसमें आ जाती है और एक अवस्था ऐसी भी आती है जब वह परमात्मा बन जाता है। जैन दर्शन में किसी भिन्न, नियामक परमात्मा की सत्ता स्वीकृत नहीं है और न यही मान्य है कि आत्मा किसी परमशक्ति में मिल जाता है और अपने अस्तित्व को समाप्त कर देता है। जैन दर्शन तो यह मानता है कि आत्मा में ही वह शक्ति है कि वह स्वयं परमात्मा बन जाय। इस प्रकार अनन्त आत्माएँ, अनन्त परमात्मा बन सकती हैं। प्रत्येक की स्थिति उस समय भी दूसरे से भिन्न रहेगी। एक प्रदेशी होते हुए भी सभी आत्माएँ, परमात्मा बन जाने पर भी एक दूसरे से अप्रभावित रहेंगी। इस दृष्टि

से जैन आचार्यों ने आत्मा की तीन अवस्थाओं की कल्पना की है। वे हैं—बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा। आचार्य कुन्दकुन्द ने 'मोक्खपाहुड़' में[1], स्वामी कार्तिकेय ने 'कार्तिकेयानुप्रेक्षा' में,[2] पूज्यपाद ने 'समाधितन्त्र' में,[3] आशाधार ने 'अध्यात्म रहस्य' में[4], योगीन्दुमुनि ने 'परमात्मप्रकाश',[5] और 'योगसार' में[6], भैया भगवतीदास ने 'ब्रह्मविलास' में,[7] और द्यानतराय ने 'धर्मविलास' में[8] आत्मा की तीन अवस्थाओं पर विचार किया है।

श्री योगीन्दु मुनि कहते हैं कि आत्मा के तीन भेद होते हैं—परमात्मा, अन्तरात्मा और वहिरात्मा। अन्तरात्मा सहित होकर परमात्मा का ध्यान करो और भ्रान्तिरहित होकर वहिरात्मा का त्याग करो :—

> ति पयारो अप्पा मुणहि परु अंतरु बहिरप्पु।
> पर झायहि अंतर सहिउ बहिरु चयहि णिभंतु ॥६॥
>
> (योगसार, पृ० ३७२)

आत्मा के ये भेद उसकी किसी जाति के वाचक नहीं हैं, अपितु भव्यात्माकी अवस्था विशेष के संद्योतक है। वहिरात्मा उस अवस्था का नाम है, जिसमें यह आत्मा अपने को नहीं पहचानता, देह तथा इन्द्रियों द्वारा स्फुरित होता हुआ, उन्हीं को आत्मस्वरूप समझने लगता है। इसीलिए मूढ़ और अज्ञानी कहलाता है। अपनी इसी भूल के कारण वह नाना प्रकार के कष्ट सहन करता है। योगीन्दु मुनि ने इसीलिए इस अवस्था को आत्मा की 'मूढ़ावस्था', दूसरी को 'विचक्षण' और तीसरी को 'ब्रह्मावस्था' माना है।[9] प्रथम अवस्था में आत्मा मिथ्यात्व रागादि में फँसा रहता है। पं० आशाधर इसे वहिरात्मा या मूढ़ात्मा न कहकर 'स्वात्मा' कहते हैं। उनका कहना है कि जो आत्मा निरन्तर हृदय कमल के मध्य में अहं शब्द के वाच्य रूप से पशुओं तक को और स्वसंवेदन से ज्ञानियों तक को प्रतिभासित करता रहता है वह स्वात्मा है।[10] इस अवस्था में आत्मा अपने और शरीर

---

१. मोक्खपाहुड़, दोहा नं० ४ से १२ तक।
२. कार्तिकेयानुप्रेक्षा, गाथा नं० १९२ से १९८।
३. समाधितन्त्र, श्लोक नं० ४ से १५ तक।
४. अध्यात्मरहस्य, श्लोक नं० ४ से ८ तक।
५. परमात्मप्रकाश, दोहा नं० १३ से २८ तक।
६. योगसार, दोहा नं० ६ से २२ तक।
७. ब्रह्म विलास, (परमात्मछत्तीसी) पृ० २२७।
८. धर्म विलास, (अध्यात्म पंचासिका), पृ० १९२।
९. मूढ़ वियक्खणु बंभु परु अप्पा तिविहु हवेइ।
देहु जि अप्पा जो मुणइ सो जणु मूढ़ हवेइ ॥१३॥
(परमात्मप्रकाश, प्र० महा०)
१०. स स्वात्मेत्युच्यते शश्वद्भाति हृत्पंकजोदरे।
योऽहमित्यंजसा शब्दात्पशूनां स्वविदा विदाम् ॥४॥
(अध्यात्मरहस्य)

में कोई अन्तर नहीं समझ पाता। साधारण स्थिति में प्रत्येक जीव इसी अवस्था में रहता है। सृष्टि क्रम इसीलिए चलता रहता है और जीव एक योनि से दूसरी योनि में संक्रमण करता रहता है।

आत्मा की दूसरी अवस्था अन्तरात्मा है। इस अवस्था में जीव अपने को पहचानने लगता है अर्थात् आत्मा और शरीर में भेद-ज्ञान उत्पन्न हो जाता है। देहादि की भिन्नता का ज्ञान हो जाने से वह उसमें आसक्त नहीं होता, इसीलिए आत्मविद् हो जाता है। किन्तु पूर्णज्ञानी या पूर्णविद अब भी नहीं हो पाता। योगीन्दु मुनि कहते हैं कि जो पुरुष परमात्मा को शरीर से भिन्न तथा केवल ज्ञानमय जानता हुआ परमसमाधि में स्थित होता है वह अन्तरात्मा अर्थात् विवेकी है :—

देह विभिण्णउ णाणमउ जो परमप्पु ठिएइ।
परम समाहि परिट्ठियउ पंडिउ सो जि हवेइ ॥१४॥

(परमात्मप्रकाश, प्र० महा०)

स्वामी कार्तिकेय ने अन्तरात्मा के भी तीन भेद किए हैं—उत्कृष्ट, मध्यम और जघन्य। उन्होंने कार्तिकेयानुप्रेक्षा में लिखा है कि जो जिनवाणी में प्रवीण है, शरीर और आत्मा के भेद को जानते हैं, आठ मद जिन्होंने जीत लिया है, वे उत्कृष्ट, मध्यम और जघन्य आदि तीन प्रकार के अन्तरात्मा कहे गए हैं। उत्कृष्ट अन्तरात्मा वे हैं जो पञ्च महाव्रत, संयुक्त धर्मध्यान, शुक्ल ध्यान में तिष्ठित तथा सकल प्रमादों को जीत चुके हैं।[1] श्रावक गुणों से युक्त, प्रमत्तगुणस्थानवर्ती, जिन वचन में अनुरक्त मुनि मध्यम अन्तरात्मा कहे जाते हैं। जघन्य अन्तरात्मा और बहिरात्मा में विशेष अन्तर नहीं हैं। संसारासक्त बहिरात्मा हैं और संसार की नश्वरता का ज्ञान रखते हुए भी जो उससे विमुख नहीं हो सके हैं, वे जघन्य अन्तरात्मा हैं। स्वामी कार्तिकेय का यह वर्गीकरण अधिक वैज्ञानिक नहीं प्रतीत होता, केवल कल्पना के बल पर ही आपने एक अवस्था के तीन भेद कर दिया है।

परमात्मा, आत्मा की उस विशिष्ट अवस्था का नाम है, जिसे पाकर यह जीव अपने पूर्ण विकास को प्राप्त होता है और पूर्ण सुखी तथा पूर्ण ज्ञानी बन जाता है। आत्मा को इस तीसरी अवस्था को 'पर ब्रह्म' भी कह सकते हैं। लेकिन जैनियों का 'पर ब्रह्म' वेदान्तियों के 'ब्रह्म' से सर्वथा भिन्न है। जैन आचार्यों के मत से प्रत्येक आत्मा अपना स्वतन्त्र एवं पृथक् व्यक्तित्व रखता है। वह किसी एक ही सर्वथा अद्वैत, अखण्ड परमात्मा का अंश नहीं है। ब्रह्माद्वैतवादी वेदान्तियों ने संसारी जीवों के पृथक् अस्तित्व और व्यक्तित्व को न मानकर उन्हें जिस

---

१. जो जिणवयणे कुसलो भेदं जाणन्ति जीवदेहाणं।
णिज्जियदुट्ठमया अन्तरअप्पा य ते तिविहा ॥१९४॥
पंच महव्वय जुत्ता धम्मे सुक्के वि संठिया णिच्चं।
णिज्जियसयलपमाया उक्किट्ठा अन्तरा होंति ॥१९५॥

(कार्तिकेयानुप्रेक्षा)

सर्वथा नित्य, शुद्ध, अद्वितीय, निर्गुण और सर्व व्यापक ब्रह्म का अंश माना है, वह जैनियों को अमान्य है। आत्मा, परमात्मा या ब्रह्म की अवस्था को प्राप्त होकर भी किसी दूसरी शक्ति में मिल नहीं जाता और न अपने अस्तित्व को ही समाप्त कर देता है। प्रत्येक आत्मा परमात्मा बन जाने पर दूसरे तत्वों से अप्रभावित हो लोकाकाश और अलोकाकाश का सम्यक् ज्ञान रखते हुए, स्वतन्त्र रूप से विचरण करता रहता है। योगीन्दु मुनि कहते हैं कि जो ज्ञानावरणादि कर्मों को नाश करके और सभी देहादि परद्रव्यों को छोड़ कर केवल ज्ञानमय आत्मा को प्राप्त हुआ है, उसे शुद्ध मन से परमात्मा जानो :—

अप्पा लद्धउ णाणमउ कम्म विमुक्कें जेण।
मेल्लिवि सयलु वि दव्वु परु सो परु मुणहि मणेण ॥१५॥

(परमात्मप्रकाश, प्र० महा०)

इस प्रकार स्पष्ट हो जाता है कि अवस्था या पर्याय की दृष्टि से आत्मा की त्रिविधता है, किन्तु स्वरूप या द्रव्य की दृष्टि से वह एक ही है। आत्मा जब तक कर्म मल से आच्छादित रहता है, बहिरात्मा कहा जाता है, वही जब स्व-पर भेद को जान लेता है, अन्तरात्मा हो जाता है और पूर्ण ज्ञानी बनने पर वही 'परमात्मा' की उपाधि से विभूषित होता है। भैया भगवतीदास एक चेतन द्रव्य के त्रिविध रूपों का वर्णन करते हुए कहते हैं :—

'एक जु चेतन द्रव्य है, तिनमें तीन प्रकार।
बहिरातम अन्तर तथा परमातम पद सार ॥२॥
बहिरातम ताको कहै, लखै न ब्रह्म स्वरूप।
मग्न रहै पर द्रव्य में मिथ्यावन्त अनूप ॥३॥
अन्तर आतम जीव सो, सम्यक् दृष्टी होय।
चौथे अरु पुनि बारहवें गुणस्थानक लों सोय ॥३॥
परमातम पद ब्रह्म को, प्रगट्यो शुद्ध स्वभाय।
लोकालोक प्रमान सब, फलकें जिनमें आय ॥५॥

(ब्रह्मविलास, परमात्मछत्तीसी, पृ० २२७)

द्यानतराय भी कहते हैं :—

तीन भेद व्यवहार सौं, सरब जीव सब ठाम।
बहिरन्तर परमातमा, निहचै चेतनराम ॥४१॥

(धर्मविलास—अध्यात्मपंचासिका, पृ० १६२)

जैनेतर सम्प्रदायों में आत्मा की अवस्थाओं का वर्णन :

अन्य भारतीय तथा पाश्चात्य विचारकों और साधकों ने भी आत्मा की अवस्थाओं को स्वीकृति दी है। कुछ साधक इसके तीन सोपान मानते हैं और कुछ पाँच। सूफियों की चार अवस्थाएँ प्रसिद्ध हैं। भारतीय सूफी चार मंजिलें और उन मंजिलों की चार अवस्थाओं में विश्वास करते हैं। उनमें नासूत, मलकूत, जबरूत और लाहूत, ये चार मंजिले मानी गई हैं। इसी प्रकार उनके द्वारा

शरीअत, तरीकत, हकीकत और मारफत आदि चार अवस्थाओं को मान्यता दी गई है। शरीअत का अर्थ है—धर्म ग्रन्थों के विधि निषेधों का सम्यक् पालन। तरीकत वह अवस्था है जब साधक बाह्य क्रिया कलाप से मुक्त होकर केवल हृदय की शुद्धता द्वारा भगवान का स्मरण करता है। हकीकत अवस्था में साधक तत्व दृष्टि सम्पन्न और त्रिकालज्ञ हो जाता है। मारफत अर्थात् सिद्धावस्था में साधक की आत्मा परमात्मा में लीन हो जाती है।[1] ये चार अवस्थाएँ वस्तुतः आत्मा के परमात्मा के निकट पहुंचने के चार सोपान ही हैं। यहाँ अन्तर केवल इतना है कि मारफत अवस्था में आत्मा, परमात्मा में अपने अस्तित्व को विलीन कर देता है, उसकी अपनी कोई पृथक् सत्ता नहीं रह जाती, जब कि जैन आत्मा, किसी दूसरी शक्ति में अपने को लीन न करके स्वतः ब्रह्म या परमात्मा की उपाधि से विभूषित हो जाता है।

पाश्चात्य विचारकों ने भी आत्मा के विकास के कतिपय सोपानों की चर्चा की है। प्रसिद्ध विद्वान् श्री एवेलिन अण्डरहिल ने लिखा है कि आत्मा को परमात्मा के साथ एकाकार होने के लिए कई अवस्थाओं को पार करना पड़ता है। प्रथम अवस्था को उन्होंने 'आत्मा का दैवी सत्य की चेतना के प्रति जागरण' कहा है।[2] यह आत्मा का परमात्मोन्मुख होने का प्रथम चरण है। इस अवस्था में साधक विश्व के संकीर्ण क्षेत्र से निकलकर विस्तृत क्षेत्र में प्रवेश करता है और उसका जीवन विराट ब्रह्म तत्व के चिन्तन की ओर मुड़ जाता है। श्री जे० बी० प्रेट (J. B. Pratt) ने इस अवस्था को 'स्वाद का परिवर्तन और मानव अनुभूति का महत्वपूर्ण क्षण' कहा है।[3]

'आत्मा का शुद्धीकरण' दूसरी अवस्था है।[4] इस समय आत्मा को दैवी सत्य और सौन्दर्य का अनुभव तथा अपनी परिमितता और अपूर्णता का ज्ञान होता है और वह अन्यान्य विघ्नों, बाधाओं और अवरोधों से भी अवगत होता है, जिनके कारण वह परमात्मा से दूर रहा। वह संयम और साधना के द्वारा अवरोधों को विच्छिन्न करके परमात्मा के निकट जाने के लिए प्रयत्नशील भी होता है। इसको हम 'अन्तरात्मा' कह सकते हैं। ब्रह्मानुभूति के लिए यह आवश्यक है कि उसके मार्ग में जो विरोध हों अथवा जिन शक्तियों ने आत्मा को उसके स्वरूप से वंचित कर रखा है उनको पहचाने और उन्हें दूर भी करे। यह कार्य इसी अवस्था में पूर्ण होता है। अण्डरहिल ने लिखा है कि 'यह अवस्था

---

१. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल—जायसी ग्रन्थावली की भूमिका, पृ० १४२।

2. 'The awakening of the self to counciousness of Divine Reality—E. underhill—Mysticism, p 199.

3. 'It is a change of taste, the most momentous one that ever occurs in human experience.'—The Religious Consciousness —chap. XIII.

4. 'The purification of the Self'. —E. Underhill—Mysticism, page 169.

आत्मा के अवास्तविक जीवन से वास्तविक जीवन के प्रति महत्वपूर्ण और तीक्ष्ण मोड़ है, अपने घर को व्यवस्थित करने का प्रयास है और मन या बुद्धि को सत्य की पूर्व स्थिति में लाने का उपक्रम है।'[1] आत्मा के शुद्धीकरण के दो पहलू हैं—ऋणात्मक और धनात्मक। प्रथम का तात्पर्य आत्मा का अनावश्यक, हानिकर एवं क्षणिक पदार्थों से मुक्त होना है। इसको हम अनासक्ति कह सकते हैं। दूसरे का तात्पर्य आत्मा का परमात्मा से मिलने के लिए प्रयास है। इसे संयम या तप कह सकते हैं।

'तीसरी अवस्था आत्मा का द्युतिकरण या अवभासीकरण है।'[2] जब आत्मा शुद्धीकरण के द्वारा ऐन्द्रिय विषयों से विरक्त हो जाता है और सत्य, ज्ञान आदि गुणों से विभूषित हो जाता है तो वह द्युतिकरण की अवस्था कही जाती है। इस दशा में परमात्मा की अनुभूति होती है, किन्तु आत्मा तदाकार नहीं हो जाता। इसे हम जैनियों का 'परमात्मा' कह सकते हैं। आत्मा सम्यक् दर्शन, ज्ञान और चरित्र से विभूषित होकर परमात्मा बन जाता है। इसके पश्चात् उसे किसी दूसरी शक्ति में मिलने की आवश्यकता नहीं रह जाती क्योंकि वह स्वयं 'पूर्ण ब्रह्म' बन चुका है। लेकिन अंडरहिल ने इसके पश्चात् भी दो अन्य अवस्थाओं की कल्पना की है। उन्होंने कहा है कि आत्मा के जागरण, शुद्धीकरण और द्युतिकरण के पश्चात् 'पूर्ण शुद्धीकरण' की अवस्था आती है। इसको 'रहस्यमय मृत्यु' (Mystic Death) अथवा 'आत्मा की अंध रात्रि' (Dark Night of the soul) भी कहा गया है। इस अवस्था में आत्मा की वैयक्तिक सत्ता और कामनाओं का अवसान हो जाता है। वह पूर्ण निष्काम और निष्क्रिय बन जाता है।[3] इसके पश्चात् परमात्मा से तदाकार होने की अवस्था आती है। इस पांचवी दशा को प्राप्त होना ही प्रत्येक रहस्यवादी साधक का चरम लक्ष्य होता है। इस अवस्था में परमात्मानुभूति अथवा तज्जनित आनन्द ही नहीं प्राप्त होता, अपितु आत्मा परमात्मा में ही लीन हो जाता है।

जैन साधकों के ही समान महाराष्ट्र के सन्तों ने भी आत्मा का विभाजन और वर्गीकरण किया है। सन्त रामदास के 'दासबोध' में आत्मा की चार अवस्थाओं या चार प्रकार के आत्मा का वर्णन मिलता है। उन्होंने

---

1. 'It is the drastic turning of the self from the unreal to the real life, a setting of her house in order, an orientation of the mind to truth.'—E. Underhill—Mysticism, page 204.

2. 'The Illumination of the Soul.'—E. U. Mysticism—page 169.

3. 'The Final and Complete purification of the Self—'The Self now surrenders itself, its individuality and its will completely. It desires nothing, asks nothing, is utterly passive and is thus prepared for'.

—E. U. Mysticism—page 170.

कहा है कि आत्मा चार प्रकार के होते हैं—जीवात्मा, शिवात्मा, परमात्मा और निर्मलात्मा। जीवात्मा, शरीर एवं तज्जन्य क्रिया कलापों तक ही सीमित रहता है। शिवात्मा का क्षेत्र पूरा विश्व होता है, परमात्मा विश्व के बाहर भी परिव्याप्त है और निर्मलात्मा वह है जो क्षेत्रीय सीमाओं से परे है, समस्त सांसारिक क्रियाओं और फलों से मुक्त हो चुका है तथा पूर्ण ज्ञान से युक्त है, सम्यक् ज्ञानी है। लेकिन आत्मा के इस भेद का तात्पर्य यह नहीं कि आत्मा चार प्रकार के होते हैं। तत्वतः आत्मा एक है, किन्तु कर्म बंधन और उससे मुक्ति तथा सत्य आदि के ज्ञान के अनुसार चार भेद हो गए हैं। प्रो० रानाडे ने लिखा है कि चार प्रकार के भिन्न भिन्न आत्माओं को मान्यता त्रुटिजन्य है। वस्तुतः आत्मा एक है। वातावरण की भिन्नता के कारण चार प्रकार के आत्मा कल्पित किए गए हैं, वैसे आत्मा एक, अद्वितीय और परमानन्दमय है।[1]

आत्मा ही परमात्मा :

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि आत्मा और परमात्मा में कोई तात्विक भेद नहीं है। मूलतः दोनों एक हैं। जो आत्मा है वही सद्गुणों से विभूषित होने पर परमात्मा बन जाता है। योगीन्दु मुनि कहते हैं कि जो ज्ञान स्वरूप एवं अविनाशी परमात्मा है, वही मैं हूं। मैं ही उत्कृष्ट परमात्मा हूँ। इसमें किसी प्रकार का विकल्प अथवा संशय नहीं करना चाहिए :—

> जो परमप्पा णाणमउ सो हउं देउ अणंतु।
> जो हउं सो परमप्पु परु एहउ भावि णिभंतु॥ १७५॥
>
> (परमात्मप्रकाश, द्वि० महा०)

> जो परमप्पा सो जि हउं जो हउं सो परमप्पु।
> इउ जाणेविणु जोइया अण्णु म करहु वियप्पु॥ २२॥
>
> (योगसार)

श्री पूज्यपाद ने कहा है कि जिस प्रकार आकर से निकला हुआ स्वर्ण-पाषाण शोधन के उपरान्त स्वर्ण माना जाता है, ठीक उसी प्रकार आत्मा शुद्ध होने पर

---

1. "It is indeed through mistake that people suppose there are four different Atmans. The Atman is really one········ It is on account of the difference of environment that the Atmans are supposed to be different; but the Atman is really one and full of bliss."—S. K Belvalkar and R D. Ranade.—'Mysticism in Maharashtra' page 386.

परमात्मा कहा जाता है।[1] प्रश्न उठता है कि आत्मा अपने स्वरूप को क्यों भूल बैठा है ? उसके मार्ग में सबसे बड़ा अवरोधक तत्व कौन है ? आचार्यों ने उत्तर दिया है—कर्म।

आत्मा और कर्म :

आत्मा कर्म बन्धन के कारण अनादिकाल से भटक रहा है। इसी कारण वह असत्य को सत्य मान बैठा है और सांसारिक सुखों को ही परम सुख तथा शरीरजन्य दुःखों को अपने दुःख मान लेता है। जीव और कर्म का यह सम्बन्ध अनादि है। इसीलिए अनादिकाल से जीव मुक्त नहीं हो सका है। किन्तु दोनों का अनादि सम्बन्ध होते हुए भी आत्मा कर्म नहीं हो जाता और कर्म आत्मा नहीं बन सकता और न जीव कर्मों को उत्पन्न करता है, न कर्म जीवों को। ये दोनों ही अनादि हैं, इनका आदि नहीं है। वैसे भ्रम के कारण जीव अपने को ही कर्मों का कर्ता मान लेता है। बनारसीदास ने लिखा है कि जिस प्रकार ग्रीष्म की प्रचण्ड ज्वाला से तृषित होकर मृग मिथ्या जल को पीने के लिए दौड़ता है, जिस प्रकार रात्रि के अन्धकार में मनुष्य भ्रम से रज्जु में सर्प की प्रतीति कर लेता है और जिस प्रकार सागर स्वभाव से शान्त एवं स्थिर होता है, पवन के संयोग से उसमें गति पैदा हो जाती है, उसी प्रकार आत्मा भ्रम से अपने को कर्मों का कर्ता मान लेता है :—

> जैसे महाधूप की तपनि मैं तिसायौ मृग,
> भरम सौं मिथ्याजल पीवन कौं धायौ है।
> जैसे अंधकार मांहि जेवरी निरखि नर,
> भरम सो डरपि सरपि मानि आयौ है॥
> अपने सुभाव जैसे सागर सुथिर सदा,
> पवन संजोग सौं उछरि अकुलायौ है।
> तैसे जीव जड़ सौं अव्यापक सहज रूप,
> भरम सौं करम कौं करता कहायौ है॥१४॥
>
> (नाटक समयसार, पृ० ६६)

इस प्रकार अनन्तकाल से यह अज्ञानी जीव कहता है कि कर्म मेरा है। मैं इसका कर्ता हूँ। किन्तु जब अन्तरंग में सम्यक् ज्ञान का उदय होता है, पर पदार्थों से ममत्व हट जाता है, आत्मा निज स्वभाव को ग्रहण करता है, मिथ्यात्व का बंधन टूट जाता है, तब उसे भान होता है कि वह कर्मों का कर्ता नहीं अपितु ज्ञाता या दृष्टामात्र है :—

---

१. योगोपादान योगेन दृषदः स्वर्णता मता।
द्रव्यादिस्वादिसंयतावात्मनोऽप्यात्मता मता॥ २॥

जीव को बंधन में फँसाने वाले कर्मों की संख्या आठ मानी गई है। ये आठ प्रकार के कर्म निम्नलिखित हैं :—

(१) दर्शनमोहनीय कर्म, (२) केवलज्ञानावरण, (३) केवलदर्शनावरण, (४) वीर्यान्तिरायकर्म, (५) आयु कर्म, (६) शरीरनाम कर्म, (७) अगुरुलघु गुणनाम कर्म और (८) वेदनीय कर्म। इस प्रकार प्रथम कर्म से आत्मा का सम्यकत्व गुण आच्छादित रहता है, दूसरे से केवल ज्ञान छिपा रहता है, तीसरे से केवल दर्शन ढका है, चौथे से अनंतवीर्य ढका है, पांचवे से सूक्ष्मत्व गुण ढका है, क्योंकि आयु कर्म के उदय से जीव इन्द्रियज्ञान को धारण कर लेता है तथा अतीन्द्रिय ज्ञान का अभाव हो जाता है, इसलिए स्थूल वस्तुओं को तो जानता रहता है, किन्तु सूक्ष्म वस्तुओं का ज्ञान नहीं रहता, छठे से अवगाहन गुण आच्छादित रहता है, सातवें से नाना प्रकार के श्रेष्ठ हीन आदि वंशों एवं गोत्रों के चक्कर में पड़ जाता है और अपने गोत्र को भूल जाता है और आठवें प्रकार के कर्म से अव्याबाध गुण ढक जाता है। परिणामतः जीव सांसारिक सुख दुःख का भोक्ता बन जाता है। इस प्रकार आत्मा के आठ गुण आठ कर्मों से ढक जाते हैं और जीव इस संसार में भटकता रहता है। योगीन्दु मुनि कहते हैं कि आत्मा पंगु के समान है, स्वयं न कहीं जाता है न कहीं आता है, तीनों लोकों में इस जीव को कर्म ही ले जाता है, कर्म ही ले आता है :—

अप्पा पंगुह अणुहरइ अप्पु ण जाइ ण एइ।
भुवणत्तयहं वि मज्झि जिय विहि आणइ विहि णेइ ॥६६॥

(परमात्म० प्र० महा०)

कर्म बंधन से मुक्ति कैसे सम्भव है? वह कौन सा उपाय है जिससे जीव इस अनादि सम्बन्ध को तोड़ सकता है? योगीन्दु मुनि इसका सरल उपाय बताते हैं। उनका कहना है कि जो व्यक्ति अपने कर्मों के फल को भोगता हुआ भी मोह के कारण उनके प्रति राग-द्वेष रखता है, वह नए कर्मों में फँसता चला जाता है, किन्तु जो उदय और प्राप्त कर्मों में राग-द्वेष नहीं करता अर्थात् कर्मों के फल को भोगता हुआ भी जो जीव राग-द्वेष को नहीं प्राप्त होता, वह नए कर्मों में नहीं बँधता और उसके पुराने कर्म भी नष्ट हो जाते हैं :—

भुंजंतु वि णिय कम्म फलु मोहहं जो जि करेइ।
भाउ असुन्दरु सुन्दरु वि सो पर कम्मु जणेइ ॥ ७९ ॥
भुंजंतु वि णिय-कम्म-फल जो तहि राउ ण जाइ।
सो णवि बंधइ कम्मु पुणु संचिउ जेण विलाइ ॥ ८० ॥

(परमात्म० द्वि० महा०)

'योगसार' में भी कहा गया है कि जिस प्रकार कमल पत्र जल से लिप्त नहीं होता, उसी प्रकार यदि आत्मस्वभाव में रति हो अर्थात् विषयों और तज्जनित फलों के प्रति आसक्ति न हो तो जीव कर्मों से लिप्त नहीं होता।

यही नहीं जो शम के सुख में लीन हो चुका है, वह निश्चय ही कर्मों का क्षय करके निर्वाण को प्राप्त होता है :—

जह सलिलेण ण लिप्पियइ कमलणि पत्त कया वि ।
तह कम्मेहिं ण लिप्पियइ जइ रइ अप्प सहावि ॥ ९२ ॥
जो सम सुक्खु णिलीणु बुहु पुणु पुणु अप्पु मुणेइ ।
कम्मक्खउ करि सो वि फुडु णहु णिव्वाणु लहेइ ॥ ९३ ॥

(योगसार, पृ० ३९१)

मुनि रामसिंह ने भी 'पाहुड़दोहा' में कहा है कि यदि तू कर्मों के भाव को ही आत्मा मान लेता है तो परम पद को नहीं प्राप्त हो सकता और संसार में ही भ्रमण करता रहेगा। अतएव कर्म जनित भावों और आत्म-भाव के अन्तर को समझ लेना आवश्यक है तथा कर्म जनित भावों के प्रति आसक्ति का परित्याग भी अनिवार्य है :—

कम्महं केरउ भावडउ जइ अप्पाण भणेहि ।
तो वि ण पावहि परमपउ पुणु संसार भमेहि ॥ ३६ ॥

आस्रव-संवर-निर्जरा :

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि आत्मा के मार्ग का प्रबल शत्रु कर्म ही है। कर्मों ने ही उसके स्वरूप को अनादि काल से आच्छादित कर रक्खा है। इसलिए मुमुक्ष के लिए यह आवश्यक है कि वह सर्व प्रथम जाने कि कर्म और जीव का बंधन कैसे होता है ? नवीन कर्म बंध को कैसे रोका जा सकता है ? और बँधे हुए कर्मों से मुक्ति कैसे सम्भव है ? जैन दर्शन एतदर्थ तीन सोपानों की योजना प्रस्तुत करता है। वे हैं—आस्रव, संवर और निर्जरा।

सर्व प्रथम यह आवश्यक है कि जिन पौद्गलिक कर्मों के संयोग से यह जीव बंधन में है और अनेक प्रकार के कष्ट भोग रहा है, उनके आगमन को रोका जाय अर्थात् नए कर्मों के प्रवेशद्वार पर कुछ प्रतिबंध लगे। कर्मों के आगमन द्वार को ही आस्रव कहते हैं। "वह द्वार जिसके द्वारा जीव में सर्वदा कर्म पुद्गलों का आगमन होता है, जीव की ही एक शक्ति है, जिसे योग कहते हैं। वह शक्ति शरीरधारी जीवों की मानसिक, वाचिक और कायिक क्रियाओं का सहारा पाकर जीव को और कर्म पुद्गलों को आकृष्ट करती है, अर्थात् हम मन के द्वारा जो कुछ सोचते हैं, वचन के द्वारा जो कुछ बोलते हैं और शरीर के द्वारा जो कुछ हलन-चलन करते हैं, वह सब हमारी ओर कर्मों के आने में कारण होता है।"[1] यही कारण आस्रव कहा गया है। कवि लक्ष्मीचन्द ने कहा है कि जो स्व स्वभाव को त्यागकर परभाव को ग्रहण करता है, उसको आस्रव जानो :—

---

१. पं० कैलाशचन्द्र शास्त्री—जैनधर्म, पृ० १३०।

जो स-सहाव चएवि मुणि परभावहि परणेइ।
सो आसउ जाणेहिं तुहुँ जिणवर एम भणेइ ॥१७॥
(दोह णुवेहा)

कुछ आचार्यों ने आस्रव के दो भेद किए हैं—द्रव्यास्रव और भावास्रव। आत्मप्रदेश पर पुद्गल का आगमन द्रव्यास्रव है और जीव में राग—द्वेष आदि मोह का परिणाम भावास्रव है।

आस्रव का निरोध अर्थात् नए कर्मों के आगमन पर रोक संवर है। यह संवर ही निर्जरा का और अनुक्रम से मोक्ष का कारण होता है। यदि नए कर्मों के आगमन को न रोका जाए तो जीव कभी कर्मबंधन से मुक्त हो ही नहीं सकता। लक्ष्मीचन्द के अनुसार जो स्व-पर को जान लेता है और परभावों का परित्याग कर देता है, उसे संवर कहते हैं :—

जो परियाणई अप्प परु, जो पर भाउ चएइ।
सो संवर जाणेवि तुहुँ, जिणवर एम भणेइ ॥१९॥
(दोहापाहुड़)

बनारसीदास ने लिखा है कि आत्मा के घातक और आत्म-अनुभव से रहित, आस्रव नामक पदार्थ महा अंधकार के समान जगत के सभी जीवों को घेरे हुए है। उनको नष्ट करने के लिए जिसका प्रकाश सूर्य के समान है, जिसमें सभी पदार्थ प्रतिबिम्बित होते हैं तथा जो आकाश प्रदेश के समान सबसे अलिप्त है, उसे 'संवर' कहते हैं।[1]

नए कर्मों के आगमन पर प्रतिबंध लगने के साथ ही साथ यह भी आवश्यक है कि पुराने कर्मों को भी नष्ट किया जाय, क्योंकि बिना उनके क्षय के मुक्ति सम्भव नहीं। बंधे हुए कर्मों से जीव के अलग होने को 'निर्जरा' कहते हैं। इस प्रकार 'संवर' द्वारा नए कर्मों के आगमन पर रोक लग जाती हैं और निर्जरा द्वारा पुराने कर्मों का नाश हो जाता है, तब जीव कर्म बंधन से मुक्त हो जाता है। यह मुक्ति या मोक्ष ही प्रत्येक जीव का गन्तव्य या लक्ष्य है। अतएव मोक्ष प्राप्ति के लिये कर्मों का विनाश अनिवार्य है।

मोक्ष :

मोक्ष का अर्थ है मुक्ति अथवा छुटकारा मिलना अर्थात् जीव का कर्म बंधन से मुक्त हो जाना ही मोक्ष है। किन्तु मोक्ष या निर्वाण के संबंध में सभी दर्शन भिन्न भिन्न बात कहते हैं। वैशेषिक दर्शन आत्मा के गुणों का विनाश ही मोक्ष मानता है, उसके अनुसार बुद्धि, सुख,दुख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म और संस्कार आदि आत्मा के नौ गुणों के पूर्ण उच्छेद का नाम मोक्ष है। बौद्धों के अनुसार दीप निर्वाण के समान चित्त सन्तति के प्रशान्त होने पर मोक्ष की स्थिति आ जाती है—

१. बनारसीदास—नाटक समयसार (संवर द्वार) पृ० १५६।

प्रदीपस्येव निर्वाण विमोक्षस्तस्य चेतसः (प्रमाण वार्तिकालंकार १।४५)। जैन दर्शन कर्म बन्धन से निष्कृति ही मोक्ष मानता है। संचित कर्मों का विनाश और नए कर्मों के आगमन पर निरोध होने पर आत्मा मुक्त हो जाता है। आस्रव का संवर होने पर निर्जरा की स्थिति आती है। आत्मा में स्व-पर की विवेक शक्ति समुत्पन्न हो जाती है और तब आत्मा पर पदार्थों का संग त्याग करके अलोकाकाश में स्वतन्त्र और निर्मल रूप से विचरण करने लगता है–बंधहेत्वभाव-निर्जराभ्याम् कृत्स्नकर्म विप्रमोक्षो मोक्षः (तत्त्वार्थ सूत्र १०।२) जैन आचार्यों ने आकाश के दो भेद स्वीकार किया है—लोकाकाश और अलोकाकाश। लोकाकाश षडद्रव्यों से युक्त है, किन्तु अलोकाकाश में केवल निर्मल, निर्विकार आत्मा ही पहुँच पाते हैं। बौद्ध मत आत्मा के अस्तित्व को ही नहीं स्वीकार करता, इसीलिए वहाँ इस प्रकार की कल्पना का प्रश्न ही नहीं उठता। अन्य दर्शनों में भी अलोकाकाश जैसे तत्व की कल्पना नहीं मिलती है। वेदान्त आत्मा को परमात्मा का ही अंश मानता है। उसके अनुसार यह जीव मायाग्रस्त होने के कारण अपने स्वरूप को भूल गया है। माया का आवरण भंग होने पर आत्मा अपने अंशी ब्रह्म में लीन हो जाता है। 'तत्त्वमसि' का यह परिज्ञान अथवा आत्मा का ब्रह्म में तदाकार होना ही वहाँ मोक्ष माना गया है। किन्तु जैन दर्शन न तो आत्मा के गुणों का विनाश ही मोक्ष का कारण मानता है और न किसी दूसरी शक्ति में आत्मा के विलय को ही मोक्ष मानता है। उसके अनुसार आत्मा में ही परमात्मा बनने की शक्ति है, किन्तु पौद्गलिक पदार्थों के संसर्ग में पड़कर वह अपनी शक्ति को भूल गया है। यदि कर्मों का विनाश हो जाय और आत्मा के अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त वीर्य, अनन्त सुख आदि स्वाभाविक गुण विकसित हो जांय तो 'मोक्ष' की स्थिति आ जाएगी। इस प्रकार आत्मा का परमात्मा की कोटि तक पहुंच जाना ही मोक्ष है। आत्मा के तीन पर्यायों का विवरण पहले ही दिया जा चुका है। प्रथम अवस्था अज्ञान की अवस्था होती है, जब आत्मा शरीर के सुख दुःखों को अपना सुःख दुःख मानता है, द्वितीय अवस्था (अन्तरात्मा) में आत्मा में स्व-पर विवेक की शक्ति पैदा हो जाती है, किन्तु वह पूर्णविद् या पूर्णज्ञानी नहीं बन पाता। तृतीय अवस्था वह है, जब आत्मा कर्म के बंधन से मुक्त हो जाता है, उसके सभी गुण प्रकट हो जाते है और वह परमात्मा बन जाता है। परमात्मावस्था ही मोक्ष है। परमात्म पद और मोक्ष में कोई अन्तर नहीं। एक ही अवस्था के ये दो पर्यायवाची शब्द हैं। यहां पर यह विशेष रूप से दृष्टव्य है कि वैशेषिक दर्शन गुणों के विनाश को मोक्ष मानता है, जब कि ठीक उसके विपरीत आत्मा के गुणों के पूर्ण विकास में ही जैन दर्शन मोक्ष की अवस्था स्वीकार करता है।

इस प्रकार यहाँ मोक्ष का तात्पर्य हुआ आत्मा का राग-द्वेषादि मोहों से छुटकारा पाना। कुन्दकुन्दाचार्य ने लिखा है कि जो आत्मा पुण्य पाप के कारण शुभ-अशुभ भावों को त्याग देता है, परद्रव्यों की इच्छा से विरक्त हो जाता है, अपरिग्रही बन जाता है, दर्शनज्ञानमय आत्मा में स्थिर होकर अपने को ध्याता है, भावकर्म, नोकर्म को रंच मात्र भी स्पर्श नहीं करता है, केवल एक

शुद्ध भाव का अनुभव करता है, वह स्वयं दर्शन ज्ञानमय होकर आत्मा का ध्यान करते करते थोड़े ही काल में कर्म रहित आत्मा या मोक्ष को प्राप्त कर लेता है।[1]

अतएव मोक्ष प्राप्ति के लिए कर्मों से छुटकारा पाना सभी आचार्यों ने अनिवार्य माना है। योगीन्दु मुनि ने 'योगसार' के अनेक दोहों में आत्मा को 'आत्मध्यान' और 'कर्म निरोध' का उपदेश दिया है। एक स्थान पर जीव को सम्बोधित करते हुए वह कहते हैं कि हे जोव ! यदि तू चतुर्गति के भ्रमण से भयभीत है तो परभाव का त्याग कर और निर्मल आत्मा का ध्यान कर, जिससे तू मोक्ष सुख को प्राप्त कर सके :—

'जइ बहिउ चउ-गइ-गमणा तो परभाव चएहि।
अप्पा झायहि णिम्मलउ जिम सिव सुक्ख लहेहि ॥५॥
(योगसार, पृ० ३७२)

आपने आत्म-सुख को ही शिव सुख या मोक्ष सुख माना है। इसी प्रकार योगसार के दोहा नं० १२, १३, १६, २५, २७, ३६, ३८, ५६ और ६२ में मोक्ष-सुख-प्राप्ति हेतु कर्म-बन्धन से निष्कृति और परभाव का त्याग आवश्यक बताया गया है। मोक्ष के लिये किसी बाह्य उपकरण की भी आवश्यकता नहीं। बस, इच्छारहित होकर तप करे और आत्मा का आत्मा से ध्यान करे तो संसार के आवागमन से मुक्ति मिल जाती है :—

इच्छा रहियउ तव करहि अप्पा अप्पु मुणेहि।
तो लहु पावहि परम गई फुडु संसारु ण एहि ॥१३॥
(योगसार, पृ० ३७३)

मोक्ष प्राप्ति के लिए किसी बाह्य प्रयत्न की भी आवश्यकता नहीं, केवल आत्मा को शुद्ध, सचेतन, बुद्ध, ज्ञानमय जान लेना ही मोक्ष का कारण है। आत्मा के उपर्युक्त स्वभाव की जानकारी कर्मों के विनाश से हो सम्भव है :—

'सुद्ध सचेयणु बुद्धु जिणु केवल णाण सहाउ।
सो अप्पा अणुदिणु मुणहु जइ चाहहु सिव-लाहु ॥२६॥
(योगसार, पृ० ३७६)

---

१. अप्पाणं अप्पणो रुंभिदूण दोसु पुण्णपावजोगेसु।
दंसणणाणम्हि ठिदो इच्छाविरदो य अण्णहि ॥१८७॥
जो सव्वसंगमुक्को झायदि अप्पाणमप्पणो अप्पा।
णवि कम्मं णोकम्मं चेदा चिंतेदि एयत्तं ॥१८८॥
अप्पाणं झायंतो दंसणणाणमओ अणण्णमओ।
लहदि अचिरेण अप्पाणमेव सो कम्मणिम्मुक्कं ॥१८९॥
(समयसार, पृ० १२६)

'परमात्मप्रकाश' में भी कहा गया है कि यह आत्मा ही परमात्मा है, किन्तु कर्म बन्ध के कारण पराधीन होकर दूसरे का जाप करता है, किन्तु जब अपने स्वरूप का परिज्ञान हो जाता है उस समय यह आत्मा ही परमात्मा बन जाता है।[1] जब तक कर्म बन्धन रहता है, जीव संसार वन में भटकता रहता है, दुःखों को सहन करता रहता है, अतएव मोक्ष के लिए अष्ट कर्मों का हनन अतीव आवश्यक है।[2]

आनन्दतिलक भी निर्वाण प्राप्ति के लिए दो साधनों का ही निर्देश करते हैं—अष्टकर्मों का नाश और आत्मा के स्वरूप को जानकारी। प्रथम के विनाश से दूसरे की जानकारी होती है और तब मोक्ष मिल जाता है। वे कहते हैं कि हे मुनिवर। ध्यानरूपी सरोवर में अमृत जल भरा है, उसमें स्नान करके अष्ट कर्म मल को धो डाल, जिससे निर्वाण प्राप्त हो सके :—

'झाण सरोवरु अमिय जलु, मुणिवरु करइ सण्हाणु।
अठ्कर्ममल धोवहिं अणन्दा रे। णियडा पाहुं णिव्वाणु ॥५॥

वह दूसरे स्थान पर कहते हैं कि आत्मा संयम शील गुण समन्वित है, आत्मा दर्शनज्ञानमय है, आत्मा ही सभी प्रकार का व्रत, तप है, आत्मा ही देव और गुरू है, इस भावना से मोक्ष प्राप्त हो जाता है :—

अप्पा संजमु सील गुण, अप्पा दंसणु णाणु।
वउ तउ संजम देउ गुरू आणन्दा ते पावहि णिव्वाणु ॥२३॥

परमात्मा का वास शरीर में :

परमात्मा का स्वरूप कैसा है? उसकी स्थिति कहाँ है? उसकी प्राप्ति कैसे सम्भव है? इन विषयों पर भी अनेक प्रकार के मतवाद और सिद्धान्त प्रचलित हैं। लेकिन रहस्यवादी साधक परमात्मा की स्थिति अपने शरीर में ही मानता है। उसका विश्वास है कि ब्रह्म का निवास शरीर में ही है, किन्तु अज्ञानवश हम उसको जान नहीं पाते। निर्गुणियाँ सन्तों की वाणियाँ इसी तथ्य की घोषणा करती हैं। उपनिषदों में इसी रहस्य को प्रकाश में लाया गया है और जैन रहस्यवादी भी ब्रह्म या परमात्मा को शरीर में ही स्थित घोषित करते हैं। जब वे यह स्वीकार कर लेते हैं कि आत्मा ही परमात्मा है, अलग से ब्रह्म नामक कोई दूसरी शक्ति या सत्ता नहीं, तो यह सिद्धान्त और अधिक

---

१. एहु जु अप्पा सो परमप्पा कम्म विसेसें जायउ जप्पा।
जायइ जाणइ अप्पें अप्पा तामइ सो जि देउ परमप्पा ॥१७४॥
(परमात्म०, द्वि० महा०, पृ० ३१७)

२. पावहि दुक्खु महंतु तुहुं जिय संसारि भमंतु।
अट्ठ वि कम्मइं णिद्दलिवि वच्चहि मुक्खु महंतु ॥११६॥
(परमा०, द्वि० महा०, पृ० २६३)

स्पष्ट हो जाता है। वह आत्मा जो शुद्ध और निर्विकार होने पर अलोकाकाश में स्थित होता है, वही इस देह में भी विद्यमान है। योगीन्दु मुनि कहते हैं कि जो निर्मल और ज्ञानमय परमात्मा सिद्धलोक में बसता है, वही परब्रह्म, शुद्ध, बुद्ध स्वभाव परमात्मा शरीर में भी रहता है, दोनों में भेद नहीं करना चाहिए :—

जेहउ णिम्मलु णाणमउ सिद्धिहि णिवसइ देउ।
तेहउ णिवसइ बंभु परु देहहं मं करि भेउ ॥२६॥[1]

(परमा०, प्र० महा०, पृ० ३३)

श्री देवसेन कहते हैं कि जिस प्रकार कर्ममल रहित ज्ञानमय सिद्ध भगवान सिद्धलोक में निवास करते हैं, वैसे ही इस देह में परब्रह्म का आवास है। जिस प्रकार सिद्ध भगवान नोकर्म, (शरीरादि कर्म) भावकर्म (रागद्वेषादि) द्रव्यकर्म (ज्ञानावरणादि) से रहित तथा केवल ज्ञान आदि गुणों से परिपूर्ण, शुद्ध, अविनाशी, एवं परावलम्ब रहित है, वैसे ही मैं हूं। निश्चयनय से मैं सिद्ध हूं, शुद्ध हूं, अनन्तज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य आदि गुणों से पूर्ण हूं, अविनाशी हूँ, देहप्रमाण होकर भी असंख्यात-प्रदेशी हूँ तथा स्पर्श रस गन्ध वर्ण और क्रोध आदि कलुषता से रहित होने के कारण अमूर्तीक हूं।[2] मुनि रामसिंह ठीक कबीर की ही भाषा में कहते हैं कि 'अहुठ हाथ की देहली' में अर्थात् ३½ हाथ के शरीर रूपी देवालय में निर्विकल्प, निर्विकार, निरंजन देव का आवास है, निर्मल होकर वहीं उसको खोजो :—

हत्थ अहुट्ठहं देवली वालहं णाहि पवेसु।
संतु णिरंजणु तहिं बसइ, णिम्मलु होइ गवेसु ॥६४॥

(पाहुडदोहा, पृ० २८)

कवि लक्ष्मीचन्द भी कहते हैं कि शरीर रूपी देवालय में ही शिव का वास है, वह अन्य किसी देवालय में नहीं रहता है, हे मूर्ख ! भ्रम में पड़कर उसको अन्यत्र क्यों खोजता है ?

हत्थ अहुट्ठ जु देवलि, तहि सिव संतु मुणेइ।
मूढ़ा देवलि देउ णवि, भुल्लउ काहं भमेइ ॥३८॥

(दोहाणुवेहा)

---

१. तुलनीय—इहैवान्त : शरीरे सोम्य स पुरुषो ॥ प्रश्नो० ६ । २ ।

२. मलरहिओ णाणमओ णिवसई सिद्धीए जारिसो सिद्धो।
तारिसओ देहत्थो परमो बंभो मुणेभव्वो ॥२६॥
णोकम्म रहिओ, केवल णाणाइ गुण समिद्धो जो।
सोऽहं सिद्धो सुद्धो णिच्चो एक्को णिरालम्बो ॥२७॥
सिद्धोऽहं सुद्धोऽहं अणंतणाणाइ गुण समिद्धेहं।
देहपमाणो णिच्चो असंखदेसो अमुत्तोय ॥२८॥ (देवसेन—तत्वसार)

बनारसीदास चेतन-भूप को काया-नगरी का सम्राट बताते हैं।[1] उनका कहना है कि जिस प्रकार पुष्प एवं फल में सुगन्धि होती है, दूध दही में घी होता है और काठ तथा पाषाण में अग्नि होती है, उसी प्रकार शरीर में आत्मा का निवास है।[2] परमात्मा ही शरीर में रहने से पचेन्द्रिय रूप गाँव को बसाता है और वही निकल जाने पर यह गांव उजड़ जाता है। 'उव्वस बसिया जो करइ, बसिया करइ जु सुण्ण' वाला बात गुरु गोरखनाथ ने भी कही थी। इसी स्वर में उन्होंने कहा था कि जिसने बस्ती को उजाड़ किया और उजाड़ को बस्ती बनाया है, जो धर्म और अधर्म से परे हैं, पाप और पुण्य से अतीत है, मैं उसकी बन्दना करता हूं। वस्तुतः 'काम क्रोधादि विकारों की रंगस्थली यह काया ही सांसारिक दृष्टि से बस्ती है। इसे छोड़कर जब योगी का चित्त उस शून्य निरंजन स्थान पर पहुंचता है, जहाँ समस्त इन्द्रियार्थ तिरोहित हो जाते हैं, तो योगी उजाड़ को बसाता है और बसे हुए को उजाड़ता है।'[3] किन्तु शरीर स्थित इस परमात्मदेव को हरिहर आदि भी साधारणतया नहीं जान पाते। आत्मदेव के ज्ञान के लिए परमसमाधि रूपी तप की अपेक्षा है। परमसमाधि के तप द्वारा परमात्मा का दर्शन और अनुभव किया जा सकता है, अन्य किसी प्रसाधन द्वारा नहीं :—

देहि वसंतु वि हरि हरवि जं अज्ज वि ण मुणन्ति।
परम समाहि तवेण विणु सो परमप्पु भणन्ति ॥४२॥

(परमात्मप्रकाश, प्र० महा०, पृ० ४६)

एक ब्रह्म के अनेक नाम :

आत्मा परमात्मा के स्वरूप कथन से स्पष्ट हो जाता है कि जो पिण्ड में है, वही ब्रह्माण्ड में है—'जोइ जोइ पिण्डे सोइ ब्रह्माण्डे।' जब शरीर स्थित आत्मा ही ब्रह्म है तब उसे किसी भी नाम से क्यों न पुकारें, उसके गुण या स्वभाव में कोई अन्तर नहीं आता। नाम-भेद गुण-भेद नहीं पैदा कर सकता। इसीलिए किसी भी सम्प्रदाय का साधक परमात्मा के नाम विशेष पर हठ नहीं करता।

---

१. काय नगरिया भीतर चेतन भूप।
करम लेप लिपटा बल ज्योति स्वरूप ॥५॥ (बनारसी विलास, पृ० २२७)

२. ज्यों सुवास फल फूल में, दही दूध में घीव।
पावक काठ पषाण में, त्यों शरीर में जीव ॥
(बनारसी विलास—अध्यातम बत्तीसी, पृ० १४३)

३. काम क्रोध विकारभारभरितं पिंड जहात्यात्मना,
शून्ये व्योम्नि निरंजने च नियतं चित्तं दधात्मादरात्।
इत्थं शून्यमशून्यतां नयति यो पूर्णं च सचान्तदरान्।
धर्माधर्मविवर्जितम् तमनिशं वंदे परं योगिनम् ॥
(आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी—मध्यकालीन धर्म साधना; पृ० ४६ से उद्धृत)

उसका तो विश्वास रहता है कि परमात्मा को किसी नाम से हो क्यों न पुकारा जाय, उसका तात्पर्य एक अखण्ड, अविनाशी, अज ब्रह्म से होगा। जैन साधकों ने भी नाम भेद की संकीर्णता को स्वीकार नहीं किया है। उन्होंने तो मुक्त कण्ठ से घोषणा की है कि जो निर्विकल्प परमात्मा है, वही शिव है, ब्रह्मा, विष्णु है। उसे किसी नाम से क्यों न पुकारा जाय, है वह एक, अद्वितीय। उसे जिन कहो या निरंजन, बुद्ध कहो या शिव, उसके गुण या स्वभाव में कोई अन्तर नहीं आता। योगीन्दु मुनि इसीलिए परमात्मा और निरंजन में कोई अन्तर नहीं समझते। निरंजन अर्थात् अंजन रहित, मल रहित। जो अंजन रहित होगा वही तो परमात्मा होगा। योगीन्दु मुनि कहते हैं कि जिसके न कोई वर्ण है, न गन्ध; न रस, न शब्द, न स्पर्श तथा जो जन्म-मरण से परे है उसी का नाम निरंजन है। जो न क्रोध करता है, न मोह, जिसके न मद है न माया मान और जिसके न कोई स्थान है, उसे निरंजन समझो। जो न पुण्य-पाप करता है और न हर्ष विषाद के मोह में फँसता है, जिसमें एक भी दोष नहीं है, उसे निरंजन कहते हैं :—

'जासु ण वण्णु ण गन्धु रस जासु ण सद्दु ण पासु।
जासु ण जम्मणु मरणु णवि णाउ णिरंजणु तासु ॥१६॥
जासु ण कोहु ण मोहु मउ जासु ण माय ण माणु।
जासु ण ठाणु ण झाणु जिय सो जि णिरंजणु जाणु ॥२०॥
अत्थि ण पुण्णु ण पाउ जसु अत्थि ण हरिसु विसाउ।
अत्थि ण एक्कु वि दोसु जसु सो जि णिरंजणु भाउ ॥२१॥

(परमात्मप्रकाश, प्र० महा० पृ० २८)

यही नहीं 'योगसार' में वह और आगे बढ़ जाते हैं। वह कहने लगते हैं कि आत्मा ही सब कुछ है, वही देव है, वही गुरू है, वही अर्हंत है, वही शिव है, वही जिन है, वही सिद्ध है वही मुनि है, वही आचार्य और उपाध्याय है। आत्मा ही शिव है, शंकर है, विष्णु है, रुद्र है, बुद्ध है, जिन है, ईश्वर है, ब्रह्मा है और अनन्त है :—

अरहन्तु वि सो सिद्ध फुडु सो आयरिउ वियाणि।
सो उवझायउ सो जि मुणि णिच्छइं अप्पा जाणि ॥१०४॥
सो सिउ संकरु विण्हु सो सो रुद्द वि सो बुद्ध।
सो जिणु ईसरु बंभु सो सो अणंतु सो सिद्ध ॥१०५॥

(योगसार, पृ० ३६४)

लेकिन इसका तात्पर्य यह नहीं कि जैन मुनियों को अवतारवाद में विश्वास था। कबीरदास तथा अन्य साधकों के समान जैन कवियों ने भी अवतारवाद का खंडन किया है। जन्म जरा मरण से परे परमात्मा अवतार ले भी कैसे सकता है? जिसका जन्म या अवतार होता है, उसकी मृत्यु अवश्यंभावी

है और जो मरणशील है, वह अविनाशी नहीं। जो अविनाशी नहीं, वह परमात्मा नहीं हो सकता। इसलिये जैन साधक जब राम का नाम लेता है तो इसका तात्पर्य दशरथ पुत्र नहीं, बुद्ध का नाम लेता है तो इसका तात्पर्य शुद्धोदन का पुत्र नहीं, जब शंकर का नाम लेता है तो इसका तात्पर्य कैलाशवासी शिव नहीं। कबीरदास के समान "उनका निरंजन देव वह है जो सेवा से परे है, उनका 'विष्णु' वह है जो संसार रूप में विस्तृत है, उनका राम वह है, जो सनातन तत्व है, गोरख वह है जो ग्यान से गम्य है, महादेव वह है जो मन को जानता है। अनन्त हैं उसके नाम, अपरंपार है उसका स्वरूप।"[1] वस्तुत: ब्रह्म और उसका स्वरूप अकथ्य और अवर्णर्य है। भक्त और संतजन अपनी सुविधा के लिए उसको एक कल्पित संज्ञा दे देते हैं। हम यह भी कह सकते हैं कि जो साधक परमात्मा के जिस रूप का अनुभव कर पाता है उसका वैसा ही वर्णन करने लगता है, किन्तु इससे उसका पूर्ण चित्र उपस्थित हो नही पाता। वास्तव में वह अनिर्वचनीय है। संत आनन्दघन इसी तथ्य को स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि जो मेरा (परमात्मा का) नामकरण कर सके, वह परम महारस का स्वाद प्राप्त कर सकता है। मैं न पुरुष हूं और न स्त्री; न मेरा कोई वर्ण है न जाति; मैं न लघु हूं न भारी; मैं शीतोष्ण भी नहीं हूं; न मैं दीर्घ हूं न छोटा; मैं किसी का भाई, भगिनी या पिता-पुत्र भी नहीं हूं; शब्दादि से भी मैं परे हूं; मेरा कोई वेष नहीं; मैं किसी कार्य का कर्ता भी नहीं; मैं रस, गंध विहीन हूं, अतएव 'दरसन—परसन' का भी कोई प्रश्न नहीं उठता। मेरा स्वरूप है चेतनमय : –

अवधू नाम हमारा राखे सोई परम महारस चाखै।
ना हम पुरुष नहीं हम नारी,
वरन न भाँति हमारी।
जाति न पाँति न साधन साधक,
ना हम लघु नहीं भारी॥
ना हम ताते ना हम सीरे,
ना हम दीर्घ न छोटा।
ना हम भाई ना हम भगिनी,
ना हम बाप न धोटा॥
ना हम मनसा ना हम सबदा,
ना हम तन की धरणी।
ना हम भेख भेखधर नाहीं,
ना हम करता करणी॥
ना हम दरसन ना हम परसन,
रस न गन्ध कछु नाहीं।
आनन्दघन चेतनमय मूरति,
सेवक जन बलि जाहीं॥ २९॥
(आनन्दघन बहोत्तरी, पृ० ३६६)

---

१. आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी—कबीर।

भैया भगवतीदास ने 'ईश्वर निर्णय पचीसी' में अवतारवाद का खण्डन किया है। उन्होंने लिखा है कि ईश्वर-ईश्वर सभी कहते हैं, किन्तु ईश्वर को कोई पहचानता नहीं। ईश्वर का दर्शन तो केवल सम्यक्दृष्टि वाला पुरुष ही कर सकता है। विष्णु, महादेव या कृष्ण ईश्वर नहीं हो सकते :—

ईश्वर ईश्वर सब कहैं, ईश्वर लखै न कोय।
ईश्वर तो सो ही लखै, जो समदृष्टी होय ॥ २ ॥

× × ×

जो पालक सब सृष्टि को, विष्णु नाम भूपाल।
सो मारयो इक बान तैं, प्रान तजे ततकाल ॥ २० ॥
महादेव वर दैत्य को दीनो होय दयाल।
आपन पुन भाजत फिरयो, राखि लेहु गोपाल ॥ २१ ॥
जिनको जग ईश्वर कहै, ते तो ईश्वर नाहिं।
ये हू ईश्वर ध्यावते, सो ईश्वर घट माहिं ॥ २२ ॥
ईश्वर सो ही आत्मा, जाति एक है तन्त।
कर्म रहित ईश्वर भए, कर्म सहित जग जन्त ॥ २३ ॥

(ब्रह्मविलास—ईश्वर निर्णय पचीसी, पृ० २५६)

आनन्दघन ने भी ब्रह्मैकता का प्रतिपादन किया है, किन्तु अवतारवाद का निषेध किया है। उनका कहना है कि राम कहो या रहमान, कृष्ण कहो या महादेव, पार्श्वनाथ कहो या ब्रह्मा, ब्रह्म एक है। उसी के ये अनेक नाम हैं। जिस प्रकार मिट्टी के अनेक पात्रों में मृत्तिका रूप में एक ही तत्व का अस्तित्व रहता है उसी प्रकार एक अखण्ड ब्रह्म के अनेक नाम रूप कल्पित कर लिए जाते हैं। वस्तुतः जो जिन पद में रमण करता है वही राम है, जो (रहम) दया करता है वही रहमान है, जो कर्मों का कर्षण करता है वह कृष्ण है, जो निर्वाण प्राप्त कर चुका है वही महादेव है, जो ब्रह्मरूप को स्पर्श करता है वह पार्श्वनाथ है, जो ब्रह्म को जान लेता है वही ब्रह्मा है। एक चेतन आत्मा ही विविध नामधारी है।[1]

---

१. राम कहो रहमान कहो कोउ, कान कहो महदेव री।
पारसनाथ कहो कोउ ब्रह्मा, सकल ब्रह्म स्वयमेव री।
भाजन भेद कहावत नाना, एक मृत्तिका रूप री।
तैसें खण्ड कल्पना रोपित, आप अखण्ड सरुप री।
निज पद रमै राम सो कहिए, रहिम करै रहिमान री।
करसे करम कान सो कहिए, महादेव निर्वाण री।
परसे रूप पारस सो कहिए, ब्रह्म चिन्हें सो ब्रह्म री।
इह विध साधो आप आनन्दघन, चेतनमय निःकर्म री ॥ ६७ ॥

(आनन्दघन बहोत्तरी, पृ० ३८८)

ब्रह्मानुभूति जनित आनन्द :

ब्रह्मानुभूति जनित आनन्द अनिर्वचनीय होता है। वह गूँगे का गुड़ है। जो उसका अनुभव करते हैं, वही जान पाते हैं, दूसरों पर उसका वर्णन नहीं किया जा सकता। 'सयना बयना' भले ही उसका कोई संकेत कर दे। वस्तुतः वह वाणी का अविषय है। इसीलिए काव्य में उसकी व्यंजना की जाती है। हाँ, यह अवश्य है कि इन्द्रियजन्य सुखों से वह मूलतः भिन्न होता है। सांसारिक सुख या इन्द्रियजन्य सुख क्षणिक होते हैं, परिणाम में दुःखदायी होते हैं, किन्तु अतीन्द्रिय सुख या ब्रह्मानन्द शाश्वत और स्थायी होता है। सांसारिक सुख से उसकी तुलना ही नहीं की जा सकती। योगीन्दु मुनि कहते हैं कि शिव दर्शन में जो सुख प्राप्त होता है, वह अन्यत्र तीनों लोकों में नहीं प्राप्त हो सकता। यही नहीं मुनि निजात्मा का ध्यान करते हुए, जिस अनन्तसुख को प्राप्त होते हैं, इन्द्र कोटियों देवियों में रमण करता हुआ भी उस सुख को नहीं प्राप्त कर पाता :—

जं सिव दंसणि परम-सुहु पावहि झाणु करन्तु।
तं सुहु भुवणि वि अत्थि णवि मेल्लिवि देउ अणन्तु॥ ११६॥
जं मुणि लहइ अणन्तु-सुहु णिय-अप्पा झायन्तु।
तं सुहु इन्दु वि णवि लहइ देविहिं कोडि रमन्तु॥ ११७॥

(परमात्मप्रकाश, प्र० महा०, पृ० ११८-११६)

'दोहापाहुड' में मुनि रामसिंह भी ठीक यही बात कहते हैं :—

जं सुहु विसयपरम्मुहउ णिय अप्पा झायन्तु।
तं सुहु इन्दु वि णउ लहइ देविहिं कोडि रमन्तु॥ ३॥

सप्तम अध्याय

मोक्ष अथवा परमात्म-पद प्राप्ति के साधन

●

पिछले अध्याय में आत्मा और उसके स्वरूप का स्पष्टीकरण हो चूका है। यह भी स्पष्ट हो गया है कि प्रत्येक रहस्यदर्शी साधक का लक्ष्य ब्रह्मानुभूति अथवा परमात्म-पद प्राप्ति है। कर्मों के विनाश से ही आत्म-स्वरूप का परिज्ञान सम्भव है। किन्तु कर्मों से निष्कृति कैसे प्राप्त होती है और साधक को अपने लक्ष्य तक पहुंचने के लिए किन-किन मार्गों का अवलम्ब लेना पड़ता है तथा किन-किन वस्तुओं का परित्याग करना पड़ता है? अथवा सन्तों और मुनियों ने ब्रह्मानन्द की प्राप्ति के लिए किन मार्गों का निर्देश किया है? इसका अध्ययन भी आवश्यक है।

प्रत्येक रहस्यवादी चाहे वह जैन मुनि हो या बौद्ध सिद्ध, नाथ योगी हो या निर्गुनियाँ सन्त, लगभग एक ही प्रकार की बात करता है। भले ही उसकी शब्दावली में अन्तर रहा हो, भले ही उसके सम्प्रदाय की कतिपय अपनी मान्यताएँ रही हों, किन्तु मूल स्वर सभी का एक प्रकार का है। इस दृष्टि से जैन काव्य का अध्ययन करने से विदित होता है कि उन्होंने साधना मार्ग के लिए दो प्रकार के तत्वों पर विशेष जोर दिया है—सांसारिक पदार्थों, विषय सुखों आदि का परित्याग अर्थात् निषेधात्मक तत्व और रत्नत्रय की उपलब्धि, गुरू का महत्व-ज्ञान, चित्त शुद्धि पर जोर आदि विधेयात्मक तत्व।

निषेधात्मक तत्व-सांसारिक पदार्थों की क्षणिकता का ज्ञान :

सामान्य स्थिति में प्राणी अज्ञान की निद्रा में सोते रहते हैं। सांसारिक पदार्थों और सम्बन्धों को ही स्थायी और चिरन्तन मान लेते हैं। धन और

परिजन के मोह में अनेक प्रकार के पुण्य-पाप करते रहते हैं। साधक को सर्व प्रथम भौतिक पदार्थों की क्षणभंगुरता, सांसारिक सम्बन्धों की अवास्तविकता एवं अनित्यता का ज्ञान आवश्यक है। जब उसे यह विश्वास हो जाता है कि धन परिजन की चिन्तना से क्लेशों की वृद्धि ही होती है, कर्मों का जञ्जाल बढ़ता ही जाता है और आत्मा बन्धन में फँसता ही जाता है, तो वह इनके सहज स्वभाव के प्रति जागरूक होकर, इनसे दूर हटने की चेष्टा करता है। इनको अवरोधक तत्व जानकर, इनसे मुक्ति की कामना करता है। वह प्रपञ्च वियोगी बनने की चेष्टा करता है। अध्यात्म पथ का यह प्रथम सोपान है।

सभी जैन कवियों में इस प्रकार के उद्गार मिलते हैं, जिनसे उनके विराग का पता चलता है। स्वामी कार्तिकेय ने 'कार्तिकेयानुप्रेक्षा' के 'अध्रुवानुप्रेक्षा' नामक अध्याय में सांसारिक पदार्थों की क्षणभंगुरता का जीता जागता चित्र उपस्थित किया है।[1] वास्तव में, संसार में जो उत्पन्न हुआ है, उसका विनाश अवश्यम्भावी है, जन्म के साथ मरण, युवावस्था के साथ वृद्धावस्था और प्राप्ति के साथ विनाश अभिन्न रूप से संयुक्त हैं। परिजन, स्वजन, पुत्र, कलत्र, सुमित्र, लावण्य, गृह, गोधन आदि नए मेघ के समान चञ्चल एवं अस्थिर हैं। समस्त इन्द्रियों के विषय तड़ितवत् चपल हैं। बन्धु-बान्धवों का संयोग मार्ग में पथिकों के मिलन के समान अस्थायी है। स्वयं अपने शरीर को सुन्दर बनाने का चाहे जितना प्रयत्न किया जाय, स्वस्थ रखने के चाहे जो उपाय किए जाएँ, एक न एक दिन वह कच्चे घड़े के समान फूट जाएगा। फिर जल बुद्बुदवत् धन, यौवन और जीवन के प्रति मोह क्यों? इसीलिए योगीन्दु मुनि कहते हैं कि इस संसार को तू अपना गृहवास न समझ, यह पाप का निवास स्थान है। यमराज ने अज्ञानी जीवों के बाँधने के लिए, अनेक पापों से मण्डित मजबूत बन्दीघर बनवाया है। जिस संसार में शरीर भी अपना नहीं है, उसमें अन्य पदार्थ अपने कैसे हो सकते हैं?[2] अतएव पुत्र, स्त्री, वस्त्र और आभूषण आदि का परित्याग कर मोक्ष मार्ग का अनुसरण करो। आखिर इस शरीर से मोह ही क्या? मृत्यूपरान्त यदि मिट्टी में गाड़ दिया जाय, तो सड़कर दुर्गन्धि करे और यदि जला दिया जाय तो

---

१. जम्मं मरणेण समं संपज्जइ जुव्वणं जरासहियं।
लच्छी विणाससहिया इय सव्वं भंगुरं मुणह ॥५॥
अत्थिरपरियण सयणं पुत्त कलत्तं सुमत्त लावण्णं।
गिहगोहणाइ सव्वं णवघणविंदेण सारित्थं ॥६॥
सुरधणुतडिव्व चवला इंदिय विया सुभिच्चवग्गाय।
दिट्ठपणट्ठा सव्वे तुरय गय रहवरादीया ॥७॥

(कार्तिकेयानुप्रेक्षा)

२. घट वासउ मा जाणि जिय दुक्किय वासउ एहु।
पासु कयंतें मंडियउ अविचलु णिस्संदेहु ॥१४४॥
देहु वि जित्थ ण अप्पणउ तहिं अप्पणउ किं अण्णु।
पर कारणि मण गुरुव तुहुँ सिवसंग वु अवगण्णु ॥१४५॥

क्षार रूप में परिणत हो जाय। इसीलिए योगीन्दु मुनि शरीर को दुष्ट व्यक्ति के समान समझते हैं, जिसको अनेक प्रकार से सुसज्जित रखने का प्रयत्न किया जाता है, तैलादि से जिसका मर्दन किया जाता है, विविध प्रकार के शृङ्गार किए जाते हैं, सुमिष्ट आहार से परितृप्त किया जाता है तथापि वह अन्ततः धोखा दे ही देता है।[1] मुनि रामसिंह ने 'दोहापाहुड़' के दोहा नं० ८, ९, १०, ११, १२, १३, १८, २२ आदि में इसी रहस्य का उद्घाटन किया है। भैया भगवतीदास कहते हैं कि सांसारिक कार्य उस धूम्र समूह के समान अस्थिर हैं, जो पवन के संयोग से विलीन हो जाते हैं; सांध्य कालीन अरुणिमा के समान क्षणिक हैं, जो देखते-देखते विलीन हो जाती है; स्वप्नावस्था में प्राप्त सम्राट्-पद के समान मिथ्या हैं, इन्द्रधनुष के समान चपल हैं, सूर्य रश्मि के स्पर्श मात्र से समाप्त होने वाली ओस विन्दु के समान हैं।[2] अतएव उनके प्रति मोह एवं आसक्ति क्यों ? आनन्दघन को तो बहुत ही दुःख और आश्चर्य होता है कि प्राणी मानव योनि प्राप्त करने मात्र से ही अपने को कृतार्थ मान लेता है और सुत, बनिता, यौवन तथा धन के मद में अपने को इतना भूल जाता है कि गर्भजन्य कष्टों का स्मरण तक नहीं आता, स्वानवत् सांसारिक सफलताओं को ही सत्य मान लेता है, मेघ छाया में आनन्द मनाने लगता है और इस बात की भी चिन्ता नहीं करता कि एक दिन काल उसी प्रकार से गर्दन पकड़ लेगा, जैसे नाहर बकरी को चट कर जाता है। इसीलिए वे कहते हैं कि 'रे पागल ! तू क्यों सो रहा है, अब भी क्यों नहीं जाग जाता। अञ्जलि ग्रहीत जल के समान प्रत्येक क्षण आयु घटती चली जा रही है, देवन्द्र, नरेन्द्र और नागेन्द्र सभी काल कवलित हो जाते हैं, इसलिए रंक राजा में भेद का प्रश्न ही नहीं उठता। भव-जलधि में भगवद्-भक्ति ही एक मात्र दृढ़ नौका है, अतएव इसी माध्यम से शीघ्रातिशीघ्र पार जाने की चेष्टा करनी चाहिए।[3]

---

१. उब्वलि चोप्पडि चिट्ठ करि देहि सु-मिट्ठाहार।
देहहं सयल णिरत्थ गय जिमु दुज्जणि उवयार ॥१४८॥

२. धूमन के धौरहर देख कहा गर्व करै,
ये तो छिन मांहि जाहिं पौन परसत ही।
संध्या के समान रंग देखत ही होय भंग,
दीपक पतंग जैसे काल गरसत ही ॥
सुपने में भूप जैसे, इन्द्रधनुरूप जैसे
ओस बूंद धूप जैसे दुरे दरसत ही।
ऐसोई भरम सब कर्म जालवर्गणा को,
तामें मूढ़ मग्न होय मरै तरसत ही ॥१७॥
(ब्रह्मविलास, पुण्य पचीसिका, पृ० ५)

३. क्या सोवै उठ जाग बाउरे।
अंजलि जल ज्यूं आयु घटत है, देत पहरिया घरिय घाउ रे।
इंद चंद नागिन्द मुनि चले, को राजा पति साह राउ रे।

विषय सुख का त्याग :

जब संसार की प्रत्येक वस्तु क्षणिक है, प्रत्येक सम्बन्ध अस्थायी है, तो विषयजन्य सुख स्थायी और शाश्वत कैसे हो सकते हैं ? मूढ़ात्मा को इसका ज्ञान नहीं रहता कि जिन विषय सुखों की लालसा में वह अपना अमूल्य जीवन नष्ट कर रहा है, वे ही अन्ततः दुःखदायी होंगे, भले ही थोड़े समय के लिए उनसे आनन्द मिल जाय। विषय सुखों में रति तो अपने कंधे पर कुल्हाड़ी मारने के सदृश है :—

> विसय सुक्खु दुइ दिवहडा पुणु दुक्खहं परिवाडि ।
> भुल्लउ जीव म वाहि तुहुँ अप्पा खंधि कुहाडि ॥१७॥
>
> (पाहुड़दोहा)

विषय वासना से कभी भी तृप्ति नहीं हो सकती। कहीं खारा जल पीने से प्यास बुझती है ? विषय सुख परिणाम में दुःखदायी भी होते है, किन्तु विषयी फिर भी उसमें आनन्द ही मानता है, जैसे स्वान अपनी ही अस्थि से बहते हुए रक्त को चाटकर आनन्द का अनुभव करता है। विषय फल और विष फल समान हैं, जो खाने में मीठे, किन्तु प्राण हरण करने वाले होते हैं।[1]

पंचेन्द्रिय नियन्त्रण :

अतएव साधक को सर्वप्रथम पंचेन्द्रियों पर नियन्त्रण प्राप्त करना आवश्यक है। जब तक जीव इन्द्रियों के वश में रहेगा, तब तक मोक्ष पथ पर अग्रसर ही नहीं हो सकता। यही नहीं पंचेन्द्रियाँ ही विनाश का कारण होती हैं। पंचेन्द्रिय क्या, एक इन्द्रिय ही प्राणी को नष्ट कर देती है। मछलियां रसना के स्वाद के कारण अपना जीवन संकट में डाल लेती है, भ्रमर रस पान करने के लोभ से ही रात्रि में कमल में बंध जाते हैं, नाद के वशीभूत हो मृग अपने जीवन की आहुति दे देते हैं और पतंग दीपक के स्नेह में भस्म हो जाता है। जब एक-एक इन्द्रिय के कारण जीवों का विनाश हो जाता है तो पाँचों इन्द्रियों के वश में रहने

> भमत भमत भव जलधि पाय कै भगवन्तभक्ति सुभाउ नाउ रे।
> कहा विलंब करै अब बउरे तरि भव जलनिधि पार पाउ रे।
> आनन्दघन चेतनमय मूरति, सुद्ध निरंजन देव ध्याउ रे॥ १ ॥
>
> (आनन्दघन बहोत्तरी, पृ० ३५६)

1. विषयन सेवत दुख भलइं सुख तुम्हारइ जानु।
   अस्थि चवत निज रुधिर ते, ज्यउं सचु मानत स्वान ॥७॥
   सेवत ही जु मधुर विषय, करुए होहिं निदान।
   विष फल मीठे खात के, अंतहि हरहिं परान ॥११॥

   (रूपचन्द—दोहा परमार्थ)

वाला सुरक्षित कैसे रह सकता है? इसलिए पंचेन्द्रिय रूपी करभ को स्वतः विचरण करने के लिए स्वतन्त्र रूप से नहीं छोड़ देना चाहिए, अन्यथा वह विषय वन में चरते हुए जीव को संसार में ही पटकता रहेगा। चित्त-रूपी बन्दर के चपल होने से ही व्यक्ति शुद्धात्मा की अनुभूति नहीं कर पाता, इसीलिए ध्यान की गति भी विषम बताई गई है। योगीन्दु मुनि इसीलिए उस संत की बलि जाते हैं जो विषयों का स्वतः परित्याग कर देता है। गंजे सिर की प्रशंसा क्यों की जाय वह तो दैव से ही मुंडित हैं। जो विद्यमान विषयों की उपेक्षा करके बीतराग मार्ग का अनुसरण करते हैं, वे श्रद्धा के पात्र हैं। किन्तु जिसके पास कुछ सामग्री है ही नहीं, फिर भी उसका अभिलाषी हो रहा है, वह निन्द्य है।[1] इन्द्रियों से जो सुख मिलता भी है, वह पराधीन है, बाधा सहित है, नाश होने वाला है, पापबंध का कारण है, चंचल है, अतएव दुःखरूप है।[2] और फिर जब जीव पंचेन्द्रियों के नेह में पड़ जाता है तब उसे अपने स्वरूप की चिन्ता भी नहीं रहती है। रहे भी कैसे? जो शत्रु से मिल गया, वह स्वजनों की हित चिन्ता कैसे कर सकता है?[3]

मन :

मन को पांचो इन्द्रियों का नायक माना गया है। चक्षु, श्रोत्रिय, प्राण, रसना तथा त्वचा पंचेन्द्रिय हैं। ये रूप, शब्द, गंध, रस तथा स्पर्श के द्वारा विषय सुख में जीव को फँसाए रखती हैं। किन्तु मन इनका भी नायक माना गया है। मन द्वारा ही ये संचालित होती हैं। यदि मन पर नियन्त्रण प्राप्त हो जाए तो अन्य इन्द्रियाँ स्वतः वशीभूत हो जाती हैं। मन की हार से ही हार और मन को जीतने से ही जीत है। इसलिए कबीर आदि संतो ने तथा सिद्धों और नाथ पंथी योगियों ने मन के नियन्त्रण पर विशेष जोर दिया है। जैन कवियों द्वारा भी मन को सबसे बड़ा शत्रु माना गया है और उसको वश में करने पर जोर दिया गया है। योगीन्दु मुनि कहते हैं कि पांच इन्द्रियों का स्वामी मन है, जो कि रागादि-विकल्प-रहित-परमात्मा को भावना से विमुख होकर विषय

---

१. संता विसय जु परिहरइ बलि किज्जउं हउं तासु।
सो दइवेण जि मुँडियउ सीमु खडिल्लउ जासु ॥१३६॥

(परमात्म०, द्वि० महा०, पृ० २८३)

२. सपरं बाधासहिदं बंधकारणं विसमं।
जं इंदिए हिलद्धइं तं सोक्खं दुक्खमेव तथा ॥१०६॥

(कुन्दकुन्द०—प्रवचनसार)

३. पंचहिं बहिरु णेहडउ हलि सहि लग्गु पियस्स।
तासु ण दीसइ आगमणु जो खलु मिलिउ परस्स ॥४५॥

(पाहुड़दोहा)

सुखों में भटकता रहता है। अतएव इसको वश में करो। इसके वशीभूत होने पर अन्य इन्द्रियाँ भी आपके अधीन हो जायेंगी, क्योंकि वृक्ष की जड़ के नष्ट हो जाने पर पत्ते निश्चय ही सूख जाते हैं।[1]

जैन आचार्यों ने प्रायः मन को करभ की उपमा दी है। मन रूपी करभ को विषय-वेलि ही रुचिकर होती है। वैसे तो कबीर आदि संतों में भी मन-करभ का रूपक मिल जाता है, किन्तु जैन कवियों ने इसका अत्यधिक प्रयोग किया है। मुनि रामसिंह ने 'दोहापाहुड़' में स्थान-स्थान पर मन को करभ कहा है। इसी आधार पर डा० हीरालाल जैन ने उनको राजस्थान का निवासी होने का अनुमान कर लिया है। किन्तु केवल मुनि रामसिंह ने ही नहीं, अपितु अनेक जैन और जैनेतर कवियों में इस प्रकार का रूपक मिल जाता है। योगीन्दु मुनि ने 'परमात्मप्रकाश' में 'मन' को करभ कहा है। भगवतीदास और ब्रह्मदीप नामक हिन्दी जैन कवियों ने 'मनकरहारास' नामक स्वतन्त्र ग्रन्थों की रचना ही की है, जिनमें मन रूपी करभ को विषय वेलि न चरने का उपदेश दिया गया है। ब्रह्मदीप कहते हैं कि हे मन रूपी करभ! तू भव वन में विचरण मत कर क्योंकि वहाँ अनेक विष वेलियाँ लगी हुई हैं, उनको खाने से तुझे बड़ा ही कष्ट होगा। इसी भव वन के कारण तुझे नाना योनियों में भ्रमण करना पड़ता है।[2] मुनि रामसिंह कहते हैं कि रे मन रूपी करभ। इन्द्रिय विषयों के सुख से रति मत कर, इनसे शाश्वत सुख नहीं मिलता है, अतएव उनको अतिशीघ्र ही छोड़। दूसरे स्थान पर वह मन को हाथी की उपमा देते हुए कहते हैं कि इस मन रूपी हाथी को विंध्य की ओर जाने से रोको, क्योंकि वहाँ जाकर वह शील रूपी वन को भग कर देगा और फिर संसार में पड़ेगा।[3]

---

१. पचहं णायकु वसिकरहु जेण होंति वसि अण्ण।
मूल विणट्ठइ तरु-वरहं अवसइं सुक्कहिं पण्ण ॥१४०॥
(परमा०, द्वि० महा०, पृ० २८५)

२. मन करहा भव बनि मा चरइ,
तदि विष वेल्लरी बहूत।
तंह चरंतहं बहु दुखु पाइयउ,
तब जानहि गो मीत ॥ मन० १ ॥
अरे पंच पयारह तू रुलिउ,
नरय निगोद मझारी रे।
तिरिय तने दुख ते सहे,
नर सुर जोनि मझारी रे ॥ मन० २ ॥ (मनकरहारास)

३. अरे मणकरह म रइ करहि इंदियविसय सुहेण।
सुक्खु णिरंतरु जेहिं णवि मुच्चहि ते वि खणेण ॥६२॥
अम्मिय इहु मणु हत्थिया विंझहँ जंतउ वारि।

मन के नियन्त्रण से साधक अपने लक्ष्य में सफल हो जाता है। विषय कषायों से जब मन विरत हो जाता है तो अन्य आयास की आवश्यकता नहीं रहा जाती। जीव मल या विकारहीन हो जाता है और निरञ्जन देव का अनुभव करने लगता है। इसीलिए करभ को जीतने का प्रयत्न करना चाहिए, जिस पर चढ़ कर श्रेष्ठ मुनि गमनागमन से मुक्त हो जाते हैं।[1] फिर किसी तन्त्र मन्त्र या बाह्य अनुष्ठान की अवश्यकता हा नहीं रह जाती। किन्तु जब तक मन रूपी दर्पण मलिन है, तब तक अस्थिर जल में मुख के समान आत्मदेव का दर्शन कैसे सम्भव है?[2] भैया भगवतीदास 'मन बत्तीसी' में कहते हैं कि मैंने इस संसार में मन से अधिक शक्तिशाली दूसरा नहीं देखा। तीनों लोकों में किसी भी स्थान पर इसको जाने में विलम्ब नहीं लगता। मन दासों का दास है और सम्राटों का भी सम्राट् है। मन की कहानी अनन्त है। मन अतीव चपल है, विविध कर्मों का कर्ता है। अतएव मन को बिना जीते मुक्ति कैसे सम्भव है? मन इन्द्रियों का राजा है, उसे जो पराजित कर दे उसे ही मोक्ष सुख प्राप्त हो सकता है, इसमें जरा भी संदेह नहीं, क्योंकि जब मन परमात्मा के ध्यान में लीन हो जाता है, तब इन्द्रियाँ निराश हो जाती हैं और आत्मा या ब्रह्म अपना प्रकाश करने लगता है। इसलिए जब तक मन वश में न हो जाय, तब तक मूँड़-मुंड़ाने से कोई लाभ नहीं, मन्दिर में रहना अलाभकर है और गंगा स्नान फलदायक नहीं हो सकता :—

'मन सो बली न दूसरो, देख्यों इहि संसार।
तीन लोक में फिरत ही, जात न लागै बार ॥८॥
मन दासन को दास है, मन भूपन को भूप।
मन सब बातनि योग्य है, मन की कथा अनूप ॥९॥
मन चंचल मन चपल अति, मन बहु कर्म कमाय।
मन जीते बिन आतमा, मुक्ति कहो किम पाय ॥१२॥
मन इन्द्रिनि को भूप है, ताहि करै जो जेर।
सो सुख पावै मुक्ति के, यामे कछू न फेर ॥१४॥
जब मन मूंथो ध्यान में, इन्द्रिय भई निराश।
तब इह आतम ब्रह्म ने, कीने निज परकाश ॥१५॥

---

१. अज्जु जिणिज्जइ करहुलउ लइ पइं देविणु लक्खु।
जित्थु चडेविणु परममुणि सव्व गयागय मोक्खु ॥१११॥
(पाहुडदोहा)

२. दरपन काई अथिर जल, मुख दीसे नहिं कोय।
मन निरमल थिर बिन भए, आप दरस क्यों होय ॥२६॥
(द्यानतराय—धर्म विलास—अध्यात्मपंचासिका, पृ० १६१)

कहा मुंडाए मूंड, बसे कहा मट्टका।
कहा नहाए गंग, नदी के तट्टका॥
कहा कथा के सुने, वचन के पट्टका।
जो बस नाहीं तोहि, पसेरी अट्ठका॥२६॥
(ब्रह्मविलास, मनबत्तीसी, पृ० २५७)

बाह्य अनुष्ठान :

भारतीय चिन्ताधारा के आरम्भ से ही दो प्रवृत्तियाँ प्रधान रूप से पाई जाती हैं, जिसमें एक कर्मकाण्डबहुल एवं बाह्य आचार की समर्थक रही है और दूसरी बाह्य अनुष्ठान की अपेक्षा आन्तरिक शुद्धि में विश्वास करती रही है। वैदिक यज्ञ याजनों और हिंसक वृत्तियों का विरोध उपनिषदों द्वारा हुआ था और हिंसा और पाखण्ड आदि के प्रतिरोधस्वरूप ही जैन और बौद्ध धर्म अस्तित्व में आए थे। किन्तु आगे चल कर यही सम्प्रदाय बाह्य आडम्बर और पाखण्ड के शिकार हो गए तथा शाखा-प्रशाखाओं में विभक्त होकर धर्म के बाह्य स्वरूप पर ही जोर देते रहे। चित्तशुद्धि की अपेक्षा बाह्य क्रियाओं को ही महत्व मिलता रहा। परिणामतः सभी धर्मों और सम्प्रदायों में आडम्बर और दिखावे की ही प्रधानता हो गई। फलतः ७वीं-८वीं शताब्दी के प्रत्येक सम्प्रदाय में ऐसे साधकों का आविर्भाव होता है, जो बाह्य आचार की अपेक्षा चित्त की शुद्धि पर ही जोर देते हैं, मन्दिर मस्जिद में जाने की अपेक्षा देहदेवालय में ही परमात्मा को खोजने की बात करते हैं और शास्त्रीय ज्ञान की अपेक्षा अन्तर्ज्ञान या स्वानुभूति पर जोर देते हैं। आठवीं शताब्दी के सिद्ध साहित्य से लेकर हिन्दी के सन्त कवियों तक यह विचारधारा अप्रतिहत गति से प्रवाहित होती हुई देखी जा सकती है। हम इसका विस्तृत अध्ययन आगे के अध्याय में करेंगे। यहाँ केवल इतना कह देना अलं समझते हैं कि सातवीं शताब्दी के पश्चात् से सिद्धों, नाथों, जैन मुनियों और आगे चलकर कबीर आदि सन्तों ने बाह्य क्रियाओं का विरोध एक स्वर से किया। कुछ आचार्यों ने कबीर के साहित्य में हिन्दू धर्म के विधि-विधानों का खण्डन देखकर उन पर यह आरोप लगाया है कि वे प्रच्छन्न रूप से मुस्लिम धर्म का प्रचार करना चाहते थे और हिन्दू धर्म के विरोधी थे। किन्तु कबीर के पूर्ववर्ती साधकों के साहित्य के प्रकाश में आ जाने से यह स्पष्ट हो गया है कि कबीरदास में कोई संकीर्ण प्रवृत्ति नहीं थी। उन्होंने जिस सत्य का अनुभव किया था, उसे अपनी अटपटी, किन्तु सीधी और सरल भाषा में व्यक्त कर दिया था और बाह्याडम्बर का खण्डन कबीर ने ही नहीं किया था, अपितु उनके पूर्ववर्ती साधकों द्वारा अधिक खरी और चोट करने वाली भाषा में बाह्य विधानों का विरोध किया गया था।

जैन मुनियों में भी यही विचार सरणि अन्य सन्तों के समान ही देखी जा सकती है। वैसे तो कुन्दकुन्दाचार्य आदि जैन विचारकों ने ही केवल बाह्य आचार का विरोध किया था, किन्तु आठवीं शताब्दी और उसके बाद से

योगीन्दु मुनि, मुनि रामसिंह आदि रहस्यवादी कवियों में यह स्वर अधिक तीव्र और प्रबल हो उठा। इन कवियों ने ठीक सिद्धों और सन्तों के समान कठोर वाणी में व्रत, तप, जप का विरोध किया, तीर्थाटन, मन्दिर आदि में देव पूजा को फलहीन बताया और केश लुञ्च, लिङ्ग धारण आदि को मात्र आडम्बर और दिखावा घोषित किया। योगीन्दु मुनि ने कहा कि एक तीर्थ से दूसरे तीर्थ में भ्रमण करने से मोक्ष नहीं मिल जाता। तीर्थ भ्रमण करना मुनीश्वरों का लक्षण नहीं, वह तो संसारी पुरुषों का दिखावा मात्र है। यही नहीं, जब तक जीव गुरू प्रसाद से आत्मदेव को नहीं जान लेता, तभी तक कुतीर्थों में भ्रमण करता है और तभी तक वह धूर्तता करता है। देवालय में ईश्वर है ही नहीं, वह तो देह-देवालय में विराजमान है, अतएव ईट पत्थरों से निर्मित देवालय में उसे खोजना मूर्खतापूर्ण और हास्यास्पद है।[1]

जब यह स्पष्ट हो गया कि आत्मा ही परमात्मा है और उसका वास शरीर में है तो फिर देवालय जाने या तीर्थ भ्रमण की आवश्यकता ही क्या? मुनि रामसिंह इसीलिए ऐसे व्यक्तियों का विरोध करते हैं जो पत्ती, पानी, द्रव्य या तिल द्वारा मूर्तिपूजा करके मोक्ष की कामना करते हैं। ये सभी पदार्थ तो अपने ही समान हैं, फिर इनमें मोक्ष कैसे मिल जाएगा? उनका कहना है कि हे जोगी! पत्ती मत तोड़ और फलों पर भी हाथ मत बढ़ा. जिसके कारण तू इन्हें तोड़ता है, उसी शिव को यहाँ चढ़ा दे क्योंकि देवालय में पाषाण है, तीर्थ में जल है और सभी पोथियों में काव्य है, जो वस्तु पुष्पित, पल्लवित और फलित दिखाई पड़ती है, वह सबकी सब नष्ट हो जाएगी। एक तीर्थ से दूसरे तीर्थ का भ्रमण करने वाले एक प्रकार से निष्फल यात्रा ही करते हैं। तीर्थ जल से शरीर शुद्धि भले ही हो जाय, चमड़ा भले ही स्वच्छ हो जाए, किन्तु इस बाह्य जल से आभ्यन्तर मल नहीं छूट सकता और जब तक मन ही मलिन है, तब तक काया शोधन में क्या लाभ?[2] जब तक मन विकारयुक्त है, तब तक किसी भी उपाय से सिद्धि नहीं प्राप्त हो सकती, शरीर में ही स्थित आत्मदेव का दर्शन नहीं हो सकता, जैसे मेघाच्छन्न आकाश में सूर्य का दर्शन

---

१. तित्थइं तित्थु भमंताहं मूढहं मोक्ख ण होइ।
णाण विवज्जिउ जेण जिय मुणिवरु होइ ण सोइ ॥८५॥
(परमात्म०, द्वि० महा०, पृ० २२७)

२. पत्तिय पाणिउ दब्भ तिल सव्वइं जाणि सवण्णु।
जं पुणु मोक्खहं जाइवउ तं कारणु कुइ अण्णु ॥१५९॥
पत्तिय तोडि म जोइया फलहिं जि हत्थु म वाहि।
जसु कारणि तोडेहि तुहुँ सोउ एत्थु चडाहि ॥१६०॥
देवलि पाहणु तित्थि जलु पुत्थइं सव्वइं कव्वु।
वत्थु जु दीसइ कुसुमियउ इंधय होमइ सव्वु ॥१६१॥
तित्थइं तित्थ भमेहि वढ धोयउ चम्मु जलेण।
एहु मणु किम धोएसि तुहुँ मइलउ पावमलेण ॥१६३॥ (दोहापाहुड़)

नहीं होता अथवा मलिन दर्पण में मुख नहीं दिखाई पड़ता। जिस पुरुष के चित्त में मृग के समान नेत्र वाली स्त्री बस रही है अथवा जो काम क्रोधादि के वश में है, उसे शुद्धात्मा का दर्शन कैसे हो सकता है? कहीं एक स्थान में दो तलवारें आ सकती हैं?[1] रागादि-मल-शून्य-चित्त में ही परमात्मा का निवास रहता है, जैसे मानसरोवर में हंस। अन्य स्थानों में उसे कहीं भी खोजना व्यर्थ है। वह न देवालय में है, न पाषाणमूर्ति में; न लेप में और न चित्र में; अक्षय, निरामय, निरंजन, ज्ञानमय शिव समचित्त में ही स्थित है :—

> णिय मणि णिम्मलि णाणियहं णिवसइ देउ अणाइ।
> हंसा सरवरि लीणु जिय महु एहउ पडिहाइ॥१२२॥
> देउ ण देउले णवि सिलए णवि लिप्पइ णवि चित्ति।
> अखउ णिरंजणु णाणमउ सिउ संठिउ सम चित्ति॥१२३॥

जब चित्त सम हो जाता है और वह समस्त रागों का परित्याग कर देता है, मन परमेश्वर से मिल जाता है और परमेश्वर मन से मिल जाता है, दोनों समरस हो जाते हैं, एकमेक हो जाते हैं तो फिर किसकी पूजा की जाए और कौन पूजा करे?[2] साध्य साधक की अद्वय या अभेद अवस्था में द्वैत भाव रह ही नहीं जाता, फिर बाह्य विधान का प्रश्न ही कहाँ शेष रह जाता है? जीव परम आनन्द में विचरण करने लगता है। उस स्थिति में कौन समाधि करे, कौन अर्चन पूजन करे, स्पर्श-अस्पर्श का भेद कौन करे, किसके साथ मैत्री करे और किसके साथ कलह करे. सर्वत्र आत्मा ही तो दिखाई पड़ता है।[3] आत्मा ब्रह्ममय हो जाता है अथवा यह कह सकते हैं कि विश्व ही ब्रह्ममय दीखने लगता है।

किन्तु जब तक मन शुद्ध नहीं है, व्रत, तप, जप निरर्थक हैं, संयम और शील कार्यकारी नहीं हो सकते।[4] भाव शुद्धि के बिना व्रत, तप आदि

---

१. जसु हरिणच्छी हियवडइ तसु णवि बंभु वियारि।
एक्कहिं केम समंति वढ बे खण्डा पडियारि॥१२१॥
(परमा०, प्र० महा०, पृ० १२२)

२. मणु मिलियउ परमेसरहं, परमेसरु वि मणस्स।
बीहि वि समरसि हूवाहं पुज्ज चडावउं कस्स॥१२३॥
(परमात्म०, प्र० महा० पृ० १२५)

३. को ? सुसमाहि करउं को अच्चंउ छोपु अछोपु करिवि को वंचउ।
हल सहि कलहु केण समाणउ, जहिं कहिं जोवउ तहि अप्पाणउ॥४०॥
(योगसार, पृ० ३७६)

४. वउ तव संजमु सीलु जिय ए सव्वइं अकयत्थु।
जावं ण जाणइ इक्क परु सुद्धउ भाउ पवित्तु॥३१॥
(योगसार)

भारस्वरूप ही है । इनसे शरीर को कष्ट हो सकता है, वह निर्बल और शक्तिहीन हो सकता है, किन्तु निर्वाण प्राप्ति सम्भव नहीं । पाण्डे हेमराज कहते हैं कि शिव सुख के लिए मूर्खजन व्यर्थ ही जप, तप, व्रत आदि विधान करते हैं कर्मों की निर्जरा के लिए एक मात्र 'सोहं शब्द ही प्रमाण है ।'[1] किसी प्रकार के वेष धारण से भी मुक्ति सम्भव नहीं । मध्यकाल में विभिन्न प्रकार के योगी और सम्प्रदाय थे । हर सम्प्रदाय की एक विशेष प्रकार की वेष भूषा थी । कोई दिगम्बर था तो कोई श्वेताम्बर, किसी के सिर पर जटाओं का भार दिखाई पड़ता था तो कोई केश-लुञ्चन करता था, कोई पीत वस्त्र धारी था तो किसी ने कषाय ग्रहण कर रक्खा था, कोई अशुभ वेष को महत्व देता था और नख-जटा संवर्धन द्वारा ही मोक्ष की कामना करता था तो कोई अभक्ष्य भक्षण द्वारा मोक्ष प्राप्ति का दावा करता था, कोई भोग में योग देखता था तो अन्य योग में ही भोग । इस प्रकार उस समय विभिन्न थे साधना पन्थ, अनन्त थीं उनकी क्रियाएँ और साधनाएँ । किन्तु जो सच्चे साधक थे, जिन्होंने सत्य को जान लिया था, वे बाह्याडम्बर में विश्वास नहीं रखते थे । उनके लिए यह सब दिखावा मात्र था, अपने को ही धोखा देना था, आत्म प्रवंचना थी । इसीलिए उन्होंने बाह्याचार की निन्दा की थी और तथाकथित योगियों को फटकार बताई थी । वस्तुतः आठवीं शताब्दी से लेकर १५वीं–१६वीं शताब्दी तक का युग बड़ी ही अव्यवस्था और धार्मिक आन्दोलनों का युग रहा है । इस अवधि में अनेक पन्थों और सम्प्रदायों ने जन्म लिया है और जिस प्रकार आज के युग में राजनैतिक मान्यताओं और सिद्धान्तों द्वारा नेतागण समाज को अपने ढंग से मोड़ना चाहते हैं, अधिकाधिक जनता को अपना अनुयायी बनाना चाहते हैं, उसी प्रकार मध्यकाल में धर्म की ओट में योगी और साधु समाज पर अपना प्रभाव जमाना चाहते थे । इनमें से अधिकांश तत्वशून्य थे, उनके पास दिखावा मात्र था । १५वीं-१६वीं शताब्दी में इनकी संख्या काफी बढ़ गई थी । इसीलिए कबीर ने इनकी निन्दी की थी और गोस्वामी तुलसीदास ने भी इनका तीव्र विरोध किया था ।

किन्तु यह प्रवृत्ति पहले से ही विद्यमान थी और जैन धर्म में भी प्रवेश कर गई थी । जैन मुनि वेष पर जोर देने लगे थे, केश लुञ्चन को ही सब कुछ समझने लगे थे और लिंग ग्रहण, मयूरपिच्छी धारण से ही आत्म-लाभ को कामना करने लगे थे । अतएव इनकी क्रियाओं का भी विरोध हुआ और उनके आचारों की अवास्तविकता का अनावरण किया गया । आनन्दतिलक ने कहा कि कुछ लोग बालों को नोचते हैं और कुछ लोग सिर पर जटाओं का भार धारण करते हैं, किन्तु आत्मविन्दु को जानते नहीं । अतएव भव से पार कैसे जा सकते हैं :—

---

१. सिव सुख कारनि करत सठ, जप तप वरत विधान ।
कर्म्म निर्जरा करन कौ, सोहं सबद प्रमान ।।५६।।

(उपदेश दोहा शतक)

केइ केस लुचावहिं, केइ सिर जट भारु ।
अप्प विंदु ण जाणहिं, आणंदा ! किम जावहिं भवपारु ॥६॥
(आणदा)

योगीन्दु मुनि ने भी कहा कि जिसने जिनवर का वेष धारण करके, भस्म से शिर के केश लुञ्चन किया, किन्तु सभी प्रकार के परिग्रहों का परित्याग नहीं किया, वह अपने आत्मा को ही धोखा देता है :—

केण वि अप्पउ वंचियउ सिरु लुञ्चिवि छारेण ।
सयल वि सग ण परिहरिय जिणवर लिंग धरेण ॥६०॥
(प० प्र०, द्वि० महा०, पृ० २३२)

यही नहीं, उन्होंने तो यह भी कहा है कि पढ़ लेने से धर्म नहीं होता, पुस्तक और और पिच्छीधारण से धर्म नहीं होता, किसी मठ में रहने से भी धर्म नहीं होता तथा केश लौंच करने से भी धर्म नहीं होता :—

धम्मु ण पढ़ियइं होइ, धम्मु ण पोत्था पिच्छियइं ।
धम्मु ण मढिय पएसि, धम्मु ण मत्था लुंचियइं ॥४७॥ (योगसार)

कहने का तात्पर्य यह है कि भाव शुद्धि के बिना, अपरिग्रही बने बिना, कोई भी बाह्य क्रिया सिद्धिदायक नहीं हो सकती । जो साधु बाह्य लिंग से युक्त है, किन्तु आभ्यन्तर लिंग रहित है, वह एक प्रकार से आत्मस्वरूप से भ्रष्ट है, मोक्ष पथ का विनाशक है,[1] क्योंकि भाव ही प्रथम लिंग है, द्रव्यलिंग कभी भी परमात्म-पद प्राप्ति में सहायक नहीं हो सकता, शुद्ध भाव ही गुण दोष का कारण होता है ।[2] भाव शुद्धि या मन शुद्धि के बिना कोई भी सम्प्रदाय सिद्धिदायक नहीं हो सकता । भाव शुद्धि से ही आत्म-प्रकाश सम्भव है । भैया भगवतीदास का तो कहना है कि नर शरीर धारण करने से, पण्डित बनने से और तीर्थ स्नान करने से क्या लाभ ? करोड़पति हो जाने से या क्षत्रधारी बन जाने से भी क्या लाभ ? केश लुञ्चन से, वेष धारण से अथवा यौवन की गरिमा से क्या लाभ ? इनमें से कोई भी सिद्धिदायक नहीं, कुछ भी स्थायी नहीं । आत्म प्रकाश के बिना पीछे पछताना पड़ेगा ।[3] अतएव निर्वाण के लिए, परमात्म रूप बनने के लिए

---

१. बाहिरलिंगेण जुदो अब्भंतरलिंगरहियपरियम्मो ।
सो सगचरित्तभट्ठो मोक्खपहविणासगो साहू ॥६१॥
(मोक्खपाहुड)

२. भावो हि पढमलिंगं ण दव्वलिंगं च जाण परमत्थं ।
भावो कारणभूदो गुणदोसाणं जिणा बिंति ॥ २ ॥
(कुन्दकुन्दाचार्य भावपाहुड)

३. नरदेह पाए कहा, पंडित कहाए कहा,
तीरथ के न्हाए कहा तीर तौ न जैहे रे ।
लच्छिन के कमाए कहा, अच्छ के अघाए कहा,
छत्र के धराये कहा, छीनता न ऐहे रे ।

आवश्यक है कि नाना सम्प्रदायों, व्यवस्थाओं, चमत्कारों और विधि विधानों का मोह त्याग कर मन को निर्विकार बनाने की चेष्टा की जाय, क्योंकि किसी सम्प्रदाय में दीक्षा मात्र ले लेने से इष्टसिद्धि नहीं हो जाती। यदि योगी बनकर कान आदि फड़ाया जाय, मुद्रा धारण की जाय, किन्तु तृष्णा का संहार न किया जाय तो वह किसी काम का नहीं। जती होकर इन्द्रियों को नहीं जीता, पंचभूतों को नहीं मारा, जीव-अजीव को नहीं समझा तो वेष लेकर भी पराजय ही मिलेगी। वेद पढ़कर ब्राह्मण कहलाने का गर्व किया, किन्तु आत्म-तत्व का अर्थ नहीं समझा, तो जीवन निष्फल। जंगल जाकर, भस्म और जटा को धारण किया, किन्तु पर-वस्तु की आशा का संहार न किया, तो जंगल जाना न जाना बराबर।[1] इस प्रकार सभी सन्त बाह्य अनुष्ठान की अपेक्षा आन्तरिक शुद्धि की महत्ता का प्रतिपादन करते हैं।

पुस्तकीय ज्ञान :

जिस प्रकार केवल बाह्य आचार से सिद्धि नहीं मिल जाती, उसी प्रकार केवल पुस्तकीय ज्ञान भी आत्म तत्व की उपलब्धि नहीं करा सकता। शास्त्र तो एक प्रकार से पथ दर्शक हैं, साधन हैं, लक्ष्य या साध्य नहीं। व्यावहारिक दृष्टि से आत्मा शास्त्रों से जाना जा सकता है, किन्तु निश्चयनय से वीतराग स्वसंवेदन-ज्ञान ही आत्म तत्व की उपलब्धि करा सकता है। शास्त्र-ज्ञान दीपक के समान है और आत्मज्ञान रत्न के समान है। दीपक के प्रकाश से रत्न खोजा जा सकता है, किन्तु इससे दीपक रत्न नहीं हो जाता। इसलिए केवल शास्त्रीय ज्ञान में पारंगत व्यक्ति आत्म-लाभ नहीं कर सकता, उसे आत्मज्ञान या स्वसंवेदन ज्ञान का आश्रय लेना पड़ता है।

केश के मुड़ाए कहा, भेष के बनाए कहा,
जीवन के आए कहा जराहू न खैहे रे।
भ्रम को विलास कहा, दुर्जन में वास कहा,
आतम प्रकास बिन पीछे पछितैहे रे ॥ ९ ॥

(ब्रह्मविलास, पृ० १७४)

१. जोगी हुवा कान फडाया झोरी मुद्रा डारी है।
गोरख कहै त्रसना नहीं मारी, धरि धरि तुम ची न्यारी है ॥२॥
जती हुआ इन्द्री नहीं जीती, पंचभूत नहिं मारया है।
जीव अजीव के समझा नाहीं, भेष लेइ करि हारया है ॥४॥
वेद पढ़ै अरु बरामन कहावै, बरम दस नहीं पाया है।
आत्म तत्व का अरथ न समज्या, पोथी का जनम गुमाया है ॥५॥
जंगल जावै भस्म चढ़ावै जटा व धारी कैसा है।
परभव की आसा नहीं मारी, फिर जैसा का तैसा है ॥६॥

(रूपचन्द—स्फुट पद)

इसीलिए सभी साधकों ने कोरे शास्त्र ज्ञान की निन्दा की है, क्योंकि उन्होंने अनुभव से जान लिया था कि 'वाक्य ज्ञान अत्यन्त निपुन भव पार न पावै कोई।' उन्होंने देखा था कि 'पोथी पढ़ि पढ़ि जग मुआ पंडित भया न कोय।' उनका तो विश्वास था कि शास्त्र-ज्ञाता पके हुए श्रीफल के चतुर्दिक मण्डराने वाले भ्रमर के समान है, जो रस से वंचित रहता है। अतएव उन्होंने घोषणा की कि जो शास्त्रों को जानता है और तप करता है, किन्तु परमार्थ को नहीं जानता, वह मुक्त नहीं हो सकता। जो शास्त्र को पढ़ता हुआ भी विकल्प का त्याग नहीं करता, वह मूर्ख है।[1] जो स्व-पर का भेद नहीं जानता, परभाव का त्याग नहीं करता, वह सकल शास्त्रों का ज्ञाता होने पर भी शिव सुख को प्राप्त नहीं हो सकता।[2] मुनि रामसिंह कहते हैं कि हे पण्डितों में श्रेष्ठ पण्डित! तूने कण को छोड़ कर तुष को कूटा है, क्योंकि तू ग्रन्थ और उसके अर्थ से संतुष्ट है, किन्तु परमार्थ को नहीं जानता है। इसलिए तू मूर्ख है।[3] इसीलिए वे कहते हैं कि हे मूर्ख! अधिक पढ़ने से क्या? ज्ञान तिलिंग, (अग्निकण) को सीख जो प्रज्वलित होने पर पुण्य और पाप को क्षण मात्र में भस्म कर देता है।[4] भैया भगवतीदास ने लिखा है कि चारों वेदों का अध्ययन करने से व्यक्ति भले ही पण्डित हो जाए, व्यावहारिक कर्म का ज्ञान भले ही हो जाय और उसकी निपुणता की प्रसिद्धि भले ही हो जाय, किन्तु इससे वह आत्मज्ञानी नहीं बन जाता। और जब तक कोई आत्मतत्त्व को जान न ले, तब तक शास्त्रज्ञानी की स्थिति उस करछी के समान है जो बटलोही में घुमाई जाकर षट्रस व्यञ्जन के निर्माण में सहायता करती है, किन्तु स्वयं किसी भी रस का स्वाद नहीं ले पाती।[5] सन्त आनन्दघन ने तो देखा था कि 'वेद पुरान, कतेब कुरान और आगम निगम' से कुछ भी लाभ

---

१. बुज्झइ सत्थइं तउ चरइ पर परमत्थु ण वेइ।
   ताव ण मुंचइ जाम णवि इहु परमत्थु मुणेइ ॥८२॥
   सत्थु पढंतु वि होइ जड़ु जो ण हणेइ वियप्पु।
   देहि वसंतु वि णिम्मलउ णवि मण्णइ परमप्पु ॥८३॥
   (परमात्म०, द्वि० महा० पृ० २२३—२२४)

२. जो णवि जाणइ अप्पु पर णवि परभाउ चएइ।
   सो जाणउ सत्थइं सयल णहु सिव सुक्खु लहेइ ॥९६॥
   (योगसार, पृ० ३९२)

३. पंडिय पंडिय पंडिया कणु छंडिवि तुस कंडिया।
   अत्थे गंथे तुट्ठो सि परमत्थु ण जाणहि मूढ़ो सि ॥८५॥

४. णाणतिडिक्की सिक्खि वढ किं पढियइं बहुएण।
   जा सुधुक्की णिड्डहइ पुण्णु वि पाउ खणेण ॥८७॥
   (दोहापाहुड)

५. जो पै चारो वेद पढ़े रचि पचि रीझ रीझ,..
   पंडित की कला में प्रवीन तू कहायो है।

नहीं होता। इसीलिए वे अन्य की चिन्ता न करते हुए, केवल अपने 'प्यारे' के दर्शन के लिए लालायित हैं, क्योंकि वही गंग-तरंग में बहते हुए का उद्धार कर सकते हैं—

'वेद पुरान कतेब कुरान में, आगम निगम कछू न लही री।
मेरे तो तू राजी चाहिए, और के बोल मैं लाख सहूँरी।
आनन्दघन बेगें मिलो प्यारे, नाहि तो गंग तरंग बहूँरी ॥४४॥
(आनन्दघन बहोत्तरी, पृ० ३७६)

पुण्य-पाप :

मुमुक्ष के लिए पुण्य-पाप दोनों का परित्याग आवश्यक है। साधारण जन यह समझते हैं कि पाप कर्म हीन होते हैं और पुण्य कर्म श्रेष्ठ। अतएव पुण्य संचय का प्रयास करना चाहिए। किन्तु मोक्ष के लिए अथवा आत्मा के परमात्मोन्मुख होने के लिए कर्मों का विनाश आवश्यक है। कर्म-क्षय पुण्य-पाप दोनों की समाप्ति से सम्भव है। जब तक पुण्य कर्म भी बने रहेंगे, आत्मा अपने लक्ष्य को नहीं प्राप्त कर सकता, भले ही उसको कुछ सुख मिल जाय। पाप पुण्य दोनों ही बन्धन के हेतु हैं। जिसका बन्ध विशुद्ध भावों से होता है, वह पुण्य है और जिसका बन्ध संलिष्ट भावों से होता है, वह पाप है। व्रत, संयम, शील, दान आदि पुण्य बन्ध के हेतु हैं और चित्त की कलुषता, विषयों की लोलुपता, परिग्रह, भय, मैथुन, असंयम आदि संश्लिष्ट भाव पाप बन्ध के हेतु हैं। अतएव दोनों मोक्ष मार्ग में बाधक हैं। यद्यपि दोनों के कारण, रस, स्वभाव और फल में अन्तर है, एक प्रिय है, और दूसरा अप्रिय तथापि दोनों ही जीव को संसार में संसरण कराते रहते हैं। एक शुभोपयोग है, दूसरा अशुभोपयोग; शुद्धोपयोग कोई भी नहीं। अतएव दोनों ही हेय हैं। आत्मा के विभाव हैं, स्वभाव नहीं। दोनों ही पुद्गलजनित हैं, आत्मजनित नहीं।

इसीलिए सभी मुनियों ने पाप पुण्य दोनों के त्याग पर जोर दिया है। जो जीव पुण्य और पाप दोनों को समान नहीं मानता, वह मोह से मोहित हुआ

धरम व्योहार ग्रंथ ताह के अनेक भेद,
ताके पढ़े निपुण प्रसिद्ध तोहि गायो है॥
आतम के तत्व को निमित्त कहूँ रंच पायो,
तौलों तोहि ग्रंथनि में ऐसे के बतायो है।
जैसे रस व्यञ्जन में करछी फिरै सदीव,
मूढ़ता स्वभाव सों न स्वाद कछू पायो है॥२२॥
(ब्रह्मविलास, पुण्य पचीसिका, पृ० ७)

अनन्त काल तक कष्टों को सहन करता हुआ संसार में भटकता रहता है।[1] वह पाप भी अच्छे कहे जा सकते हैं, जो जीव को कष्टों में डालकर उसे मोक्ष प्राप्ति के लिए प्रेरित करते हैं और वह पुण्य भी अच्छे नहीं जो सांसारिक सुख प्रदान करके जीव को अन्ततः इसी लोक में फँसाए रखते हैं। योगीन्दु मुनि कहते हैं कि पुण्य से विभव होता है, विभव से मद. मद से मतिमोह, मतिमोह से पाप। अतएव मुझे पुण्य न प्राप्त हो।[2] यदि जीव पुण्य ही पुण्य करता रहे, किन्तु आत्मतत्व को न जान सके तो सिद्धि सुख को नहीं प्राप्त कर सकता और पुनः पुनः संसार में भ्रमण करता रहता है। पाप को पाप तो सभी जानते हैं, किन्तु पुण्य को पाप कोई नहीं कहता। जो पुण्य को भी पाप कहे, ऐसा विरला पण्डित कोई ही होता है।[3] वस्तुतः दोनों ही शृङ्खलाएँ हैं। देवसेन का कहना है कि पुण्य और पाप दोनों जिसके मन में सम नहीं है उसे भव सिन्धु दुस्तर है। क्या कनक या लोहे की निगड़ प्राणी का पाद बन्धन नहीं करती ?[4] इस संसार के निर्माण और विकास में पुण्य पाप का विशेष हाथ रहता है। यही जगत के बीज हैं। जीव इन्हीं के कारण जन्म-मरण और सुख-दुख के चक्कर में पड़ा रहता है। जो दोनों को त्याग देता है, वह अजर और अमर होकर अनन्त सुख का उपभोग करता है।[5] भैया भगवतीदास ने 'पुण्य पाप जगमूल पचीसी' में लिखा है कि सभी जीव पुण्य पाप के वश में रहकर संसार में बसते हैं, किन्तु जिन्होंने इनको

---

१. जो णवि मण्णइ जीव समु पुण्णु वि पाउ वि दोइ।
सो चिरु दुक्खु सहन्तु जिय मोहिं हिंडइ लोइ ।।५५।।
(परमात्म०, द्वि० महा०, पृ० १९५)

२. पुण्णेण होइ विहवो विहवेण मओ मएण मइ मोहो।
मइ मोहेण य पावं ता पुण्णं अम्ह मा होउ ।।६०।।
(परमा०, द्वि० महा०, पृ० २०१)

३. जो पाउ वि सो पाउ मुणि सव्वुइ को वि मुणेइ।
जो पुण्णु वि पाउ वि भणइ सो बुहः (?) को वि हवेइ ।।७१।।
(योगसार, पृ० ३८६)

४. पुण्णु पाउ जसु मणि ण समु तसु दुत्तरु भवसिंधु।
कणयलोहणियलइं जियहु किं ण कुणहिं पयबंधु ।।२११।।
(सावयधम्मदोहा)

५. पुण्य पाप जग बीज हैं, याही ते विस्तार।
जन्म मरन सुख दुखु सहै "भैया" सब संसार ।।३०।।
पुण्य पाप को त्याग, जो भए शुद्ध भगवान।
अजरामर पदवी लई, सुख अनंत जिहं थान ।।३१।।
(भैया भगवतीदास—ब्रह्म विलास, अनादिबत्तीसिका, पृ० २२०)

त्याग दिया है, वे सिद्धों के समान हैं।[1] बनारसीदास ने 'नाटक समयसार' (पुण्य पाप एकत्व द्वार) में दोनों के स्वरूप और फल पर विस्तार से विचार किया है। उनके अनुसार दोनों ही पुद्गल के कटु मधुर स्वाद हैं, कर्म वृद्धि के कारण हैं, जगजाल में फँसाने के हेतु हैं, अतएव दोनों के विनाश से ही मोक्ष मार्ग का दर्शन सम्भव है। दोनों को एकता को उन्होंने एक उदाहरण से सिद्ध किया है। उनका कहना है कि जिस प्रकार एक चण्डालिनी के दो पुत्र पैदा हों। उनमें से एक का पालन वह स्वयं करे और दूसरे को पोषणार्थ ब्राह्मण को दे दे। ब्राह्मण पोषित बालक मद्य मांस का त्याग करने से 'ब्राह्मण' कहलाएगा और चण्डाल पोषित बालक मांस मद्य के सेवन से 'चाण्डाल' कहा जाएगा। उसी प्रकार एक ही वेदनीय कर्म के दो पुत्र हैं—एक पाप और दूसरा पुण्य कहा जाता है। दोनों ही कर्म बन्ध रूप हैं, अतएव ज्ञानी दोनों में से किसी की भी अभिलाषा नहीं करते हैं।[2]

गुरु का महत्व :

मध्यकालीन सन्तों और साधकों ने गुरु का महत्व निर्विवाद और अविकल रूप से स्वीकार किया है। गुरु को कृपा बिना साधक अपने लक्ष्य तक नहीं पहुँच सकता। शास्त्रों में उपाय अवश्य लिखा है, उससे प्राथमिक ज्ञान भी हो जाता है, किन्तु व्यवहारतः उस मार्ग पर चलते समय उचित अनुचित और सत् असत् का भेद दिखाने का कार्य गुरु का ही होता है। अतएव साधक को सर्व प्रथम श्रेष्ठ गुरु की खोज करके, उसका शिष्य बन जाना अनिवार्य है। यह गुरु ही बाधाओं और विघ्नों का निवारण करता हुआ शिष्य को उस मार्ग पर ले जाता है, जिस पर वह स्वयं जा चुका है। किन्तु गुरु भी ऐसा होना चाहिए, जिसने स्वयं कामनाओं और वासनाओं पर नियन्त्रण प्राप्त कर

---

१. पुण्य पाप वश जीव सब, बसत जगत में आन।
'भैया' इनते भिन्न जो, ते सब सिद्ध समान ॥२७॥
(ब्रह्म०, पृ० २००)

२. जैसे काहू चण्डाली जुगल पुत्र जनै तिनि,
एक दीयो बांभन कै एक घर राख्यो है।
बांभन कहायो तिनि मद्य मांस त्याग कीनो,
चंडाल कहायो तिनि मद्यमांस चाख्यौ है॥
तैसे एक वेदनी करम के जुगुल पुत्र,
एक पाप एक पुन्न नाम भिन्न भाख्यौ है।
दुहूँ मांहि दौर धूप दोऊ कर्म बंध रूप,
याते ग्यानवंत नहि कोउ अभिलाख्यौ है॥३।
(नाटकसमयसार, पृ० १२१)

लिया हो, जिसने अपने ज्ञान और तप के बल से स्व-पर भेद जान लिया हो और जो पूर्ण निर्विकार और निःकलुष हो चुका हो।

सभी सम्प्रदायों और संतों ने ऐसे गुरु की महत्ता का प्रतिपादन किया है। सिद्धों और नाथों के साहित्य में गुरु को सर्वोपरि बताया गया है, उसकी सत्ता अद्वितीय सिद्ध की गई है। कबीर आदि संतों ने गुरु को गोविन्द के बराबर ही नहीं माना, उससे श्रेष्ठ भी बताया क्योंकि उनको विश्वास था कि 'हरि रूठे गुरु ठौर है, गुरु रूठे नहिं ठौर।' उनकी धारणा थी कि गुरु की कृपा कटाक्ष मात्र से सिद्धि प्राप्त हो जाती है, किन्तु जब तक साधक उसकी कृपा कोर का भाजन नहीं बनता, तब तक जन्मजन्मांतर तप करने से और शरीर गलाने से मोक्ष नहीं प्राप्त हो सकता।

महाराष्ट्री संतों ने भी गुरु को सर्वोच्च स्थान दिया है। संत ज्ञानेश्वर का कहना है कि वह गुरु का महत्व वर्णन करने में असमर्थ हैं। उसके गुण अनन्त हैं, अवर्णनीय हैं। क्या उनका पूर्ण वर्णन कभी सम्भव हो सकता है? क्या सूर्य को प्रकाश दिखाना सम्भव है? क्या कल्पतरु को पुष्पों से सजाना सम्भव है? क्या चन्दन को अधिक सुगंधिपूर्ण बनाना सम्भव है?[१] संत रामदास ने भी गुरु को परमात्मा से बढ़कर माना है। उनका कहना है कि गुरु की महत्ता के समक्ष परमात्मा का महत्व कुछ भी नहीं है। गुरु और परमात्मा को बराबर ही समझने वाला शिष्य, कुशिष्य है।[२] अनन्त हैं उसके गुण, असीम हैं उसकी विशेषताएँ और अनिवर्चनीय है उसकी गरिमा। वह सूर्य से बढ़कर है, क्योंकि सूर्य तम का विनाश करता है, किन्तु अंधकार पुनः आ जाता है और गुरु की कृपा से जब जन्म मरण की शृंखला भंग हो जाती है तो सदैव के लिए। वह पारस पत्थर से भी श्रेष्ठ है, क्योंकि पारस पत्थर लौह धातु को स्वर्णमय बना देता है, किन्तु उसे 'पारस' नहीं बना सकता, जबकि सच्चे गुरु का शिष्य स्वयमेव 'परमात्मा' बन जाता है। उसकी तुलना सागर से भी नहीं की जा सकती, क्योंकि वह खारी है। स्वर्ण गिरि भी उसकी समता को नहीं पहुंच सकता, क्योंकि अन्ततः वह पाषाण है। वह पृथ्वी, कल्पवृक्ष और अमृत से भी महान् है।[३]

जैन साधकों ने भी गुरु की श्रेष्ठता और महत्ता को स्वीकृति दी है। उन्होंने भी कहा है कि जब तक गुरु की कृपा नहीं होती तब तक व्यक्ति मिथ्यात्व रागादि में फँसा हुआ संसार में भ्रमण करता रहता है तथा सद् और असद् में जड़ और चेतन में अन्तर नहीं कर पाता है। वह तब तक कुतीर्थों में घूमता रहता है और धूर्तता करता रहता है, जब तक गुरु के प्रसाद से आत्मा को नहीं

---

१. R. D. Ranade—Mysticism in Maharashtra, Page 49.

२. 'Before the greatness of the Guru, the Greatness of God is as nothing. He must be a bad disciple who regards his Guru and God as of equal count.'

(Mysticism in Maharashtra, Page 392)

३. R. D. Ranade—Mysticism in Maharashtra, Page 393.

जान लेता।[1] जब तक गुरु के प्रसाद से अविचल बोध को नहीं प्राप्त कर लेता, तब तक वह लोभ से मोहित हुआ विषय में फँसा रहता है और विषय सुखों को ही सच्चा सुख मानता रहता है।[2] इसीलिए मुनि रामसिंह 'दोहापाहुड़' के आदि में गुरु की वन्दना करते हुए कहते हैं कि गुरु दिनकर है, गुरु चन्द्र है, गुरु दीप है और गुरु देव भी है, क्योंकि वह आत्मा और पर पदार्थों की परम्परा का भेद स्पष्ट कर देता है।[3] आनंदतिलक इसी बात को दूसरे शब्दों में कहते हैं। उनके अनुसार गुरु जिनवर है, गुरु सिद्ध शिव है और गुरु ही रत्नत्रय का सार है, क्योंकि वह स्व-पर का भेद दर्शाता है, जिससे भव जल को पार हुआ जा सकता है।[4] द्यानतराय का कहना है कि गुरु के समान विश्व में दूसरा कोई दाता है ही नहीं। जिस अन्धकार का विनाश सूर्य द्वारा भी सम्भव नहीं, गुरु उसको समाप्त कर देता है। वह मेघ के समान निष्काम भाव से सभी के ऊपर कृपा-जल की वर्षा करता है तथा नरक, पशु आदि गतियों से जीव का उद्धार करके उसमें मुक्ति की स्थापना करता है। त्रयलोक रूपी मंदिर में दीपक के समान प्रकाशित होने वाला गुरु ही है। संसार सागर से पार जाने का एक मात्र साधन सुगुरु रूपी जहाज ही है। अतएव निर्मल मन से सदैव उसके चरण कमलों का स्मरण करना चाहिए।[5]

---

१. ताम कुतित्थइं परिभमइ धुत्तिम ताम करेइ।
गुरुहु पसाएँ जाम णवि अप्पा देउ मुणेइ ॥४१॥
(योगसार, पृ० ३८०)

२. लोहिं मोहिउ ताम तुहुं विसयहं सुक्खु मुणेहि।
गुरुहं पसाएँ जाम ण वि अविचल बोहि लहेहि ॥८१॥
(रामसिंह-पाहुड़दोहा, पृ० २४)

३. गुरु दिणयरु गुरु हिमकिरणु गुरु दीवउ गुरु देउ।
अप्पापरहं परंपरहं जो दरिसावइ भेउ ॥ १ ॥

४. गुरु जिणवरु गुरु सिद्ध सिउ, गुरु रयणतय सारु।
सो दरिसावइ अप्प परु आणंदा ! भव जल पावइ पारु ॥३६॥
(आणंदा)

५. गुरु समान दाता नहिं कोई।
भानु प्रकास न नासत जाको, सो अंधियारा डारै खोई ॥१॥
मेघ समान सबन पै बरसै, कछु इच्छा जाके नहिं होई।
नरक पशुगति आगमांहितै सुरग मुकत सुख थापै सोई ॥२॥
तीन लोक मंदिर में जानौ, दीपकसम परकाशक लोई।
दीपतलैं अंधियारा भर्यौ है अन्तर बहिर विमल है जोई ॥३॥
तारन तरन जिहाज सुगुरु है, सब कुटुम्ब डोवै जगतोई।
द्यानत निशिदिन निरमल मन में, राखो गुरु पद पंकज दोई ॥४॥
(द्यानत पदसंग्रह, पृ० १०)

सद्गुरु के प्रसाद से ही केवलज्ञान का स्फुरण होता है और सद्गुरु के तुष्ट होने पर ही मुक्ति तिया के घर मे वास सम्भव है।[1] यहां 'सद्गुरु' शब्द विशेष रूप से मननीय है। हर व्यक्ति को गुरु बना लेने से काम नहीं चल जाता। जैसा कि हम पहले कह चुके हैं कि ऐसे हो साधु या मुनि को गुरु बनाना श्रेयस्कर है, जो सम्यक्ज्ञानी हो, जिसे रत्नत्रय की उपलब्धि हो चुकी हो, जो पर पदार्थों से स्वात्मा को मुक्त बना चुका हो और अध्यात्म पथ पर काफी दूर तक जा चुका हो अर्थात् वह सद्गुरु हो, असद्गुरु न हो, अन्यथा 'अन्धेनेव नीयमाना यथान्धाः' की ही कहावत चरितार्थ होगी। प्रायः ऐसे व्यक्ति मिल जाते हैं जो दम्भ के प्रदर्शनार्थ अथवा लोभार्थ गुरु बनने की चेष्टा करते हैं। ऐसे कुगुरुओं से बचना अनिवार्य है। आनन्दतिलक ने कहा है कि 'कुगुरुहु पूजि म सिर धुणहु (दो० नं० ३७)' अर्थात् कुगुरु की पूजा न करो, जिससे बाद को पछताना पड़े। जैसा कि रामदास ने 'दासबोध' में कहा है कि सद्गुरु ऐसा होना चाहिए जो निर्मल आत्मज्ञान समन्वित हो और आत्मोन्मुख जीवन से पूर्ण सन्तुष्ट हो।[2]

जैन सम्प्रदाय में 'सद्गुरु' भी निश्चय और व्यवहार नय की दृष्टि से दो प्रकार के हो जाते हैं। व्यवहार गुरु तो लोक प्रसिद्ध गुरु है और निश्चय गुरु अपना आत्मा ही होता है, जिसकी वाणी अन्तर्नाद कहलाती है और जो कभी कभी सुनाई भी पड़ती है। इसीलिए पूज्यपाद ने 'समाधितन्त्र' में कहा है कि आत्मा ही देहादि पर पदार्थों में आत्मबुद्धि से अपने को संसार में ले जाता है और वही आत्मा अपने आत्मा में ही आत्मबुद्धि से अपने को निर्वाण में ले जाता है। अतः निश्चयनय बुद्धि से आत्मा का गुरु आत्मा ही है, अन्य कोई नहीं।[3] तत्वतः आत्मा ही आत्मा का गुरु हुआ भी, क्योंकि वही अपने भीतर अपने यथार्थ हित की अभिलाषा करता है और अपने आप को अपने हित में प्रेरणा भी देता है, किन्तु हम अपनी मूढ़ता के कारण आत्मगुरु को पहचान नहीं पाते। इसी रहस्य को जानना साधक का परम कर्तव्य है।

---

१. केवलणाणवि उप्पज्जई सद्गुरु वचन पसाउ ॥३३॥

× × ×

सद्गुरु तूठा पावयई मुक्ति तिया घर वासु ॥३४॥

(आणंदा)

२. 'The primary characteristic of a Guru is that he possesses immaculate self-knowledge and the satisfaction of a determinate life in the self'

(Mysticism in Maharashtra, Page 394)

३. नयत्यात्मात्मेव जन्मनिर्वाणमेव च ।

गुरुरात्मात्मनस्तस्मान्नान्योऽस्ति परमार्थतः ॥७५॥

रत्नत्रय :

आत्मा और कर्म का सम्बन्ध विवेचन करते समय हम यह स्पष्ट कर चुके हैं कि कर्मों के आवरण के कारण ही आत्मा अपने स्वरूप को जान नहीं पाता और इसीलिए मोक्ष नहीं प्राप्त कर पाता। यदि कर्मों का विनाश हो जाय तो आत्मा का स्वरूप स्वतः स्पष्ट हो जाय। आत्म स्वरूप की जानकारी के लिए या कर्मों के जंजाल से छुटकारा पाने के लिए जब साधक प्रयत्नशील होता है तो गुरु उसका मार्ग निर्देशन करता है। गुरु का महत्व भी स्पष्ट हो चुका है। यह ज्ञातव्य है कि जैन दर्शन निश्चयनय से आत्मा को ही गुरु मानता है। अतएव मुमुक्ष के लिए यह आवश्यक है कि वह सर्वप्रथम विश्व व्यवस्था को समझे, जीव और अजीव पदार्थों की जानकारी प्राप्त करे, षड्द्रव्यों की विशेताओं को जाने, जो वस्तु जैसी है उसको उसी रूप में देखे, उसी रूप में जाने और तदनुकूल आचरण करे। वस्तुओं का सम्यक् रूप में देखना ही सम्यक् दर्शन, जानना सम्यक्ज्ञान और आचरण सम्यक्चरित्र कहलाता है। तीनों की उपलब्धि से ही आत्मा का विकास होता है और मोक्ष की प्राप्ति होती है। हम यह कह सकते हैं कि रत्नत्रय ही आत्मा है और रत्नत्रय ही मोक्ष है।[1] कहने का तात्पर्य यह कि जो आत्मा आत्मविषय में ही रत होकर, यथार्थस्वरूप का अनुभव कर तद्रूप हो जाता है वह सम्यक्दृष्टी होता है, पुनः उस आत्मा को जानना ही सम्यक्ज्ञान होता है और तदनुकूल आचरण ही सम्यक्चरित्र होता है।

सम्यक् दर्शन :

द्रव्यों का यथार्थ दर्शन ही सम्यक् दर्शन है। द्रव्य व्यवस्था का विवेचन करते समय हम यह स्पष्ट कर चुके हैं कि यह विश्व षड्द्रव्य संयुक्त है। आत्मा चेतन द्रव्य है और शेष अचेतन या अजीव। सामान्य अवस्था में व्यक्ति इस भेद का दर्शन नहीं कर पाता है और जड़ चेतन का अन्तर स्पष्ट न होने से जीव शरीर के सुख-दुःख आत्मा के सुख-दुःख मानता रहवा है। इसी मोह और अज्ञान के कारण जीव बन्धन मुक्त नहीं हो पाता। अतएव सर्वप्रथम यह आवश्यक है कि जो वस्तु या द्रव्य जिस रूप में है, उसको उसी रूप में देखा जाय। यही सम्यक् दर्शन है। बनारसीदास ने कहा है कि जिसके प्रकाश में राग, द्वेष मोह आदि नहीं रहते, आश्रव का अभाव हो जाता है, बन्ध का त्रास मिट जाता है, समस्त पदार्थों के त्रिकालवर्ती अनन्तगुण पर्याय प्रतिबिम्बित होने लगते हैं और जो स्वयं अनन्त गुण पर्यायों की सत्ता सहित है, ऐसा अनुपम अखण्ड, अचल,

---

१. दरिशन वस्तु जु देखियइ, अरु जानियइ सु ज्ञान।
चरण सुथिर ता तिह विषइ, तिंहू मिलइ निरवान ॥५८।
(रूपचन्द—दोहा परमार्थ)

नित्य, ज्ञाननिधान, चिदानन्द ही सम्यक् दर्शन है। यह केवल अनुभवगम्य है, शास्त्रों द्वारा इसको जाना नहीं जा सकता।[1]

वस्तुतः राग, द्वेष, ममता, मोह आदि भाव या प्रवृत्तियां सम्यक् दर्शन के अभाव और मिथ्या दर्शन के प्रभाव के कारण ही हैं। सम्यक् दर्शन के उदय होते ही आत्मा का स्वरूप स्पष्ट हो जाता है, पर पदार्थों की अनित्यता का भान होने लगता है और सम्यक्दृष्टि कहने लगता है—मेरी आत्मा स्वतन्त्र है, शाश्वत है और ज्ञान दर्शन स्वभावमय है। इसमें अन्य जितने भी भाव दिखलाई पड़ते हैं, वे सब संयोग निमित्तिक हैं।' सम्यक्दृष्टि जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, सँवर, निर्जरा और मोक्ष आदि तत्वों का यथार्थ दर्शन करता है। सच्चे देव, शास्त्र और गुरु का यथार्थ श्रद्धान करता है। उसकी तीनों[2] मूढ़ताएँ और आठों[3] मद समाप्त हो जाते हैं। एक प्रकार से स्वानुभूतिमयी श्रद्धा ही सम्यक्दर्शन है। सम्यक्दृष्टी में निःशंकित, निःकांक्षित, निर्विचिकित्सा, अमूढ़ दृष्टि, उपबृंहण, सुस्थितीकरण, वात्सल्य और प्रभावना आदि आठों गुण या अंग प्रकट हो जाते हैं। इसीलिए सम्यक् दर्शन को कल्पवृक्ष, कामधेनु और चिंतामणि कहा गया है। जिसके हाथ में चिन्तामणि है, धन में कामधेनु है और गृह में कल्पवृक्ष है, उसे अन्य पदार्थ की क्या अपेक्षा ? इसी प्रकार सम्यक्दृष्टी को किस वस्तु का अभाव ?

सम्यक् ज्ञान :

सम्यक् दर्शन से ही सम्यक् ज्ञान सम्भव है। षड्द्रव्य जिस रूप में स्थित हैं, उनके सम्यक् स्वरूप का परिज्ञान ही सम्यक् ज्ञान है।[4] बिना ज्ञान के मोक्ष कहाँ ? जिसकी बुद्धि ही भ्रान्त होगी, जो माया, मोह से ग्रस्त होगा अथवा जो

---

१. जाके परगास में न दीसै राग द्वेष मोह,
  आस्रव मिटत नहि बंध को तरस है।
 तिहूँ काल जामें प्रतिबिम्बित अनंत रूप,
  आपहूँ अनंत सत्ता नंततैं सरस है॥
 भाव श्रुत ग्यान परवान जो विचारि वस्तु,
  अनुभौ करै न जहां बानी को परस है।
 अतुल अखंड अविचल अविनासी धाम,
  चिदानन्द नाम ऐसो सम्यक्दरस है॥१५॥
   (नाटक समयसार, पृ० १५१)

२. तीन मूढ़ताएँ—देवमूढ़, गुरुमूढ़, धर्ममूढ़।

३. आठ मद—जातिमद, कुलमद, धनमद, रूपमद, तपमद, बलमद, विद्या-मद, राजमद।

४. जं जह थक्कउ दव्वु जिय तं तह जाणइ जोजि।
 अप्पहं केरउ भावडउ ण णु मुणिजहि सोजि॥२६॥
   (परमात्म०, द्वि० महा०, पृ० १६४)

मतिभ्रम का शिकार होगा, वह कभी भी सच्ची रहस्यानुभूति की आशा कर ही नहीं सकता। रहस्यदर्शी की कल्पना का शक्तिशाली होना अनिवार्य है। उसमें सूक्ष्म, शुद्ध और निर्भ्रम ज्ञान का होना आवश्यक है। कुन्दकुन्दाचार्य ने कहा है कि संसार में जीव रहित शरीर को शव कहते हैं, इसी प्रकार सम्यक् ज्ञान से रहित व्यक्ति भी चलते हुए शव के समान है। 'शव' संसार में अपूज्य होता है और 'चल शव' लोकोत्तर में अपूज्य होता है।[1] इससे सम्यक् ज्ञान की महत्ता स्पष्ट हो जाती है। 'मोक्खपाहुड़' में ज्ञान आठ प्रकार के बताए गए हैं—मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्यायज्ञान, केवल ज्ञान और कुमति, कुश्रुत, विभंगा। इनमें से प्रथम पाँच श्रेष्ठ ज्ञान हैं और अंतिम तीन अज्ञान से युक्त।[2] अर्थात् प्रथम पाँच की उपलब्धि ही श्रेयस्कर है, वही श्रेष्ठ ज्ञान हैं और अंतिम तीन यथार्थ ज्ञान का बोध कराने में अक्षम हैं। मति, श्रुति आदि पाँचो ज्ञान 'पारमार्थिक प्रत्यक्ष' कहलाते हैं। इनके भी दो भेद माने गए हैं—सकल प्रत्यक्ष और विकल प्रत्यक्ष। केवलज्ञान सकल प्रत्यक्ष है, शेष विकल प्रत्यक्ष। विकल प्रत्यक्ष की भी सीमाएँ हैं। जिस प्रकार अवधिज्ञान से केवल रूपीद्रव्य ही जाने जा सकते हैं, आत्मादि अरूप द्रव्य नहीं, उसी प्रकार मनः पर्यायज्ञान के द्वारा बाह्य पदार्थों की ही जानकारी सम्भव है, इतर की नहीं। किन्तु केवलज्ञान इससे भिन्न है। वह समस्त ज्ञानावरण के समल नाश होने पर प्रकट होता है। वह केवल या अद्वितीय है। दूसरे ज्ञान उसकी समता नहीं कर सकते। इसके अतिरिक्त मति, श्रुति, अवधि और मनःपर्याय इन्द्रियजनित ज्ञान हैं, अतएव मोक्ष की स्थिति में उनका अभाव हो जाता है, किन्तु केवलज्ञान अतीन्द्रिय है। वह वस्तु का स्वभाव है। अतएव उसका आत्मा में अभाव नहीं होता। इसीलिए केवलज्ञान ही सम्यक् ज्ञान है। वही आत्मा का निजस्वभाव है। इसी के द्वारा ज्ञानावरणादि आठो कर्मों का विनाश होता है। योगीन्दु मुनि ने कहा है कि जो केवलज्ञानमय है, वही जिन है, वही परमानन्द स्वभाव वाला है, वही परमात्मा है और वही आत्मा का स्वभाव है।[3]

---

१. जीव विमुक्को सवओ दंसणमुक्को य होइ चलसवओ।
सवओ लोयअपुज्जो लोउत्तरयम्मि चलसवओ ॥१४३॥

(भावपाहुड़)

२. आभिणिसुदोधिमण केवलाणि णाणाणि पंजभेयाणि।
कुमदिसुदविभंगाणि, य तिण्णिवि णाणेहिं संजुत्तो ॥४१॥

(कुन्दकुन्दाचार्य—मोक्खपाहुड़)

३. जो जिणु केवल णाणमउ परमाणंद सहाउ।
सो परमप्पउ परम परु सो जिय अप्प सहाउ ॥१६७॥

(परमा०, द्वि० महा०, पृ० ३३५)

इस प्रकार सम्यक् ज्ञान की स्थिति में राग-द्वेष, मोहादि मिट जाते हैं, स्व-पर भेद स्पष्ट हो जाता है, सत्य का सूर्य प्रकाशित होता है और सुबुद्धि की किरणें मिथ्यात्व का अंधकार नष्ट कर देती हैं। सम्यक् ज्ञानी को किसी बाह्याचार की अपेक्षा नहीं रह जाती। उसका भोग ही समाधि है, चलना फिरना ही योगासन है और बोलना ही मौनव्रत है। बनारसीदास ने कहा है कि बुधजन सम्यक्ज्ञान को प्राप्त करके द्वन्द्वज की अवस्था और अनेकता का हरण करते हैं, उनके मति, श्रुति, अवधि आदि विकल्प मिट जाते हैं, निर्विकल्प ज्ञान या केवलज्ञान का उदय होता है, इंद्रियजनित सुख दुःख समाप्त हो जाते हैं, कर्मों की निर्जरा हो जाती है और वे सहज समाधि के द्वारा आत्मा की आराधना करके परमात्मा बन जाते हैं।[1]

सम्यक् चरित्र :

आत्म पदार्थ और परपदार्थ का भेद ज्ञान हो जाने पर, पर-भावों का त्याग और स्व-भाव में आचरण ही सम्यक् चरित्र कहा जाता है।[2] सम्यक् ज्ञान के द्वारा वस्तु का स्वरूप स्पष्ट हो जाता है, तब आत्मा अपने स्वरूप के अनुरूप आचरण करता है। यह आचरण ही मोक्ष अथवा परमात्मपद प्राप्ति का अन्तिम सोपान है। इस प्रकार पदार्थों का सम्यक् दर्शन और सम्यक् ज्ञान हो जाने पर तथा सम्यक् आचरण करने पर मोक्ष की स्थिति आ जाती है।

रत्नत्रय ही आत्मा :

रत्नत्रय ही आत्मा का स्वरूप है अर्थात् आत्मा सम्यक् दर्शन, ज्ञान और चरित्र से युक्त है। रत्नत्रय उसका सहज स्वभाव है। आत्मा को उनसे भिन्न नहीं मानना चाहिए। वस्तुतः आत्मा के स्वरूप की सम्यक् जानकारी ही रत्नत्रय है। अतएव इसको बाह्य विधान के अन्तर्गत नहीं गिनना चाहिए।

---

१. पंडित विवेक लहि एकता की टेक गहि,
दुंदज अवस्था की अनेकता हरतु है।
मति श्रुति अवधि इत्यादि विकलप मेटि,
निरविकलप ग्यान मन में धरतु है।।
इन्द्रियजनित सुख दुख सौं विमुख ह्वै कैं,
परम कै रूप ह्वै करम निर्जरतु है।
सहजसमाधि साधि त्यागि पर की उपाधि,
आतम अराधि परमातम करतु है।।१६।।
(नाटक समयसार, पृ० १८०)

२. जाणवि मण्णवि अप्पु परु जो पर भाउ चएइ।
सो णिउ सुद्धउ भावडउ णाणिहिं चरणु हवेइ।।३०।।
(परमा०, द्वि० महा०)

व्यक्ति में जब तक अज्ञानावस्था रहती है, तब तक वह इनको आत्मा से भिन्न पर पदार्थ मानता रहता है। किन्तु सम्यक् ज्ञान के उदय होने पर उसे आत्मा और रत्नत्रय की अभिन्नता का भान हो जाता है। योगीन्दु मुनि कहते हैं कि आत्मा को ही दर्शन और ज्ञान समझो, आत्मा ही चरित्र है। संयम, शील, तप और प्रत्याख्यान भी आत्मा ही है :—

अप्पा दंसणु णाणु मुणि अप्पा चरणु वियाणि।
अप्पा संजमु सील तउ अप्पा पच्चक्खाणि॥ ८१॥
(योगसार, पृ० ३८६)

मुनि रामसिंह ने भी कहा है कि दर्शन और केवल ज्ञान ही आत्मा है और सब तो व्यवहार मात्र है। यही त्रैलोक्य का सार है। अतएव इसी की आराधना करनी चाहिए।[1]

रत्नत्रय ही मोक्ष :

रत्नत्रय ही मोक्ष है। हम पहले ही कह आये हैं कि मोक्ष अलग से कोई एक पदार्थ नहीं है। आत्मा का अपने स्वरूप का जानना और कर्म कलंक मुक्त होना ही मोक्ष है। रत्नत्रय की उपलब्धि से ही यह सम्भव है। अतएव रत्नत्रय ही मोक्ष हुआ। जब तक जीव इस सत्य को नहीं जान पाता, तभी तक संसार में भ्रमण करता रहता है और पुण्य पाप किया करता है। योगीन्दु मुनि ने कहा है कि जो राग द्वेष और मोह से रहित होकर तीन गुणों (सम्यक् दर्शन, ज्ञान, चरित्र) से युक्त होता हुआ आत्मा में निवास करता है, वह शाश्वत सुख का पात्र होता है। यही नहीं रत्नत्रय युक्त जीव ही उत्तम पवित्र तीर्थ है और वही मोक्ष का कारण है अन्य मन्त्र तन्त्र मोक्ष के कारण नहीं हो सकते।[2] इसी का समर्थन करते हुए पाण्डे हेमराज भी कहते हैं कि :—

पढ़त ग्रन्थ अति तप तपत,
अब लौं सुनी न मोष।
दरसन ज्ञान चरित्त स्यौं,
पावत सिव निरदोष॥ २७॥
(उपदेश दोहाशतक)

---

१. अप्पा दंसणु केवलु वि अण्णु सयलु ववहारु।
एक्कु सु जोइय झाइयइ जो तइलोयहं सारु॥ ६८॥
(दोहापाहुड़)

२. तिहिं रहियउ तिहिं गुण सहिउ जो अप्पाणि वसेइ।
सो सासय सुह भायणु वि जिणवर एम भणेइ॥ ७८॥
रयणत्तय संजुत जिउ उत्तिम तित्थु पवित्तु।
मोक्खहं कारण जोइया अण्णु ण तन्तु ण मन्तु॥ ८३॥
(योगसार, पृ० ३८८-८९)

स्वसंवेदन ज्ञान :

रत्नत्रय की उपलब्धि किसी वाह्य अनुष्ठान या पुस्तकीय ज्ञान से नहीं हो सकती है। वह स्वसंवेद्य है, स्वानुभूति का विषय है। इसीलिए प्रत्येक साधना में स्वसंवेदन ज्ञान को महत्वपूर्ण स्थान मिला है। उसे परम रस या आनन्द का कारण माना गया है। पूज्यपाद ने आत्मा का स्वरूप विश्लेषण करते समय उसको 'स्वसंवेदनवेद्य' कहा है :—

'स्वसंवेदनसुव्यक्तस्तनुमात्रो निरत्ययः ।। २१ ।।

(इष्टोपदेश)

आखिर स्वसंवेदन है क्या ? जैन मान्यता के अनुसार योगी का अपने ही द्वारा अपने स्वरूप का ज्ञेयपना और ज्ञातपना स्वसंवेदन है। इसी को आत्मा का प्रत्यक्ष अनुभव भी कहा गया है :—

'वेद्यत्वं वेदकत्वं च यतस्वस्य स्वेन योगिनः ।
तत्स्वसंवेदनं प्राहुरात्मानोऽनुभवं दृशम् ।।

(इष्टोपदेश)

कहने का तात्पर्य यह है कि आत्मा स्वानुभूति से जाना जा सकता है। उसके लिए अन्य विधान की आवश्यकता नहीं। स्वसंवेदन ही आत्मा को जानने का श्रेष्ठ साधन है। चित्त की एकाग्रता से इन्द्रियों को नियन्त्रित करके आत्मज्ञानी आत्मा के द्वारा आत्मा की आराधना करता है, यही स्वसंवेदन कहलाता है। देवसेन ने 'तत्वसार' में कहा है कि स्वसंवेदन के द्वारा मन के संकल्प मिट जाते हैं। इन्द्रियों के विषय व्यापार रुक जाते हैं और योगी का आत्मध्यान के द्वारा अपना ब्रह्मस्वरूप प्रकट हो जाता है। इसलिए आत्मध्यान उपादेय है, जिसका निरन्तर अभ्यास करना चहिए।[1] स्वसंवेदन को ही आत्मध्यान, आत्मज्ञान या प्रत्यक्षानुभूति कहा गया है। द्यानतराय के शब्दों में :—

आप आप में आप, आपको पूरन धरता।
सुसंवेद निज धरम, करम किरिया को करता ।।५।।

(धर्मविलास-ज्ञानदशक, पृ० ६५)

जब तक स्वसंवेदन की महत्ता का ज्ञान नहीं होता, तभी तक व्यक्ति अन्यान्य साधनों का आश्रय ग्रहण करने की चेष्टा करता है। किन्तु इसके प्रकट होने पर सभी विधान फीके और तत्वहीन प्रतीत होने लगते हैं, क्योंकि अन्य किसी विधान से मोक्ष नहीं मिल पाता। दान से भोग भले ही प्राप्त

---

१. थक्के मण संकप्पे रुद्धे अक्खाण विसयवावारे।
पगटइ बंभसरुवं अप्पा झाणेण जोईणं ।।२६।।
(तत्वसार)

हो जाय, तप से इन्द्र-पद भले ही मिल जाय, किन्तु वीतरागस्वसंवेदन निर्विकल्प ज्ञान के बिना जन्म मरण से रहित मोक्ष पद नहीं प्राप्त हो सकता। और 'निजबोध' या स्वसंवेदन के बिना अन्य साधन से मोक्ष मिल भी कैसे सकता है? क्या 'बारि मथे घृत' सम्भव है? या पानी के मथने से हाथ तक चिकना हो सकता है?[1] स्वसंवेदन ज्ञान के प्रकट होने पर जीव रागादि विषयों का स्वतः त्याग कर देता है। वे जीव के निकट आते ही नहीं। कहीं दिनकर के प्रकाश के समक्ष अंधकार आ सकता है? जीव इस आत्मज्ञान को प्राप्त करने के पश्चात् अन्य किसी वस्तु की कामना भी नहीं करता। मरकत मणि के प्राप्त कर लेने पर कांच के टुकड़ों की इच्छा कौन करेगा?[2]

चित्तशुद्धि पर जोर :

रत्नत्रय की उपलब्धि या आत्म-स्वरूप के परिज्ञान के लिए चित्त का शुद्ध होना अनिवार्य है। मलपूर्ण और विकारयुक्त चित्त से आत्मा का दर्शन नहीं किया जा सकता। कहीं मलिन दर्पण में मुख दिखलाई पड़ सकता है। जब तक चित्त निर्विकार नहीं है, तब तक आजीवन तप करने से या किसी भी प्रकार के बाहरी वेष विन्यास या आचरण से सिद्धि नहीं प्राप्त हो सकती। सिद्धि का एक ही मार्ग है—भाव की विशुद्धि। इसीलिए योगीन्दु मुनि कहते हैं कि जिसने निर्मल चित्त से तपश्चरण नहीं किया, उसने मानो मनुष्य जन्म लेकर आत्मा को ही धोखा दिया, क्योंकि जीव जो चाहे करे, जहाँ इच्छा हो जाय, किन्तु चित्त शुद्धि के बिना मोक्ष कदापि नहीं प्राप्त हो सकता।[3] मुनि रामसिंह तो ऐसे योगी को फटकारते हैं जिसने सिर तो मुड़ा लिया, किन्तु चित्त को नहीं मुड़ाया, क्योंकि चित्त मुण्डन से ही संसार का खण्डन हो सकता है, अन्यथा नहीं :—

मुण्डिय मुण्डिय मुण्डिया। सिरु मुंडिउ चित्तु ण मुण्डिया।
चित्तहं मुण्डणु जिं कियउ। संसारह खण्डणु तिं कियउ ॥१३५॥
(दोहापाहुड)

---

१. णाणु विहीणहं मोक्ख पउ जीव म कासु वि जोइ।
बहुएं सलिल विलोलियइं करु चोप्पडउ ण होइ ॥७४॥
(परमा०, पृ० २१६)

२. अप्पा मिल्लिवि णाणमउ चित्ति ण लग्गइ अण्णु।
मरगउ जें परियाणियउ तहुं कच्चें कउ गण्णु ॥७८॥
(परमा०, पृ० २२०)

३. जेण ण चिण्णउ तव-यरणु णिम्मलु चित्तु करेवि।
अप्पा वंचिउ तेण पर माणुस जम्मु लहेवि ॥१३५॥
जहिं भावइ तहिं जाहि जिय जं भावइ करि तं जि।
केम्वइ मोक्खु ण अत्थि पर चित्तहं सुद्धि ण जं जि ॥२।७०॥

चतुर्थ खण्ड

अष्टम अध्याय

जैन काव्य और सिद्ध साहित्य

●

बौद्ध धर्म का विकास-महायान :

गौतम बुद्ध के निर्वाण के कुछ समय पश्चात् ही उनके अनुयाइयों में सैद्धान्तिक और साधनात्मक विषयों को लेकर मतभेद प्रारम्भ हो गया था। परिणामत: बौद्ध धर्म दलों में विभक्त होने लगा। कुछ ही दिनों में हीनयान और महायान नामक दो सम्प्रदाय अस्तित्व में आ गये। प्रथम मत के अनुयायी व्यक्तिगत साधना और निर्वाण के प्रयत्न पर जोर देते थे और दूसरे सम्प्रदाय के आचार्य सभी प्राणियों के उद्धार की बात करते थे। फलस्वरूप महायान ने काफी लोगों को अपनी ओर आकृष्ट करना प्रारम्भ कर दिया और इस सम्प्रदाय में विभिन्न वर्गों, वर्णों और व्यवसायों के व्यक्ति दीक्षित होने लगे। महायान का अस्तित्व ईसा की प्रथम शताब्दी के लगभग माना जाता है। 'कथावत्थु' की 'अठ्ठकथा' के आधार पर महायानियों का सम्बन्ध वैपुल्य या वैतुल्यवादियों से भी जोड़ा जाता है। राहुल सांकृत्यायन ने लिखा है कि 'प्रज्ञापारमिता, रत्नकूट, वैपुल्य आदि सूत्र महायान के हैं, इसमें तो किसी को सन्देह हो ही नहीं सकता और इसी से वैपुल्यवाद (पाली-वैतुल्लवाद) वही है जिसे हम आजकल महायान कहते हैं।[1] वैपुल्यवादियों के कुछ सिद्धान्त जैसे (१) गौतम बुद्ध ने कभी इस

---

१. पुरातत्व निबन्धावली, पृ० १३१।

लोक में अवतार नहीं लिया या (२) विशेष प्रयोजन से मैथुन का सेवन किया जा सकता है, काफी क्रान्तिकारी थे। आगे चलकर इनका व्यापक प्रभाव पड़ा और बौद्ध धर्म विभिन्न प्रकार की लौकिक-अलौकिक कथाओं तथा उचित-अनुचित आचारों का सम्प्रदाय बन गया।

ज्यों-ज्यों समय बीतता गया, गौतम बुद्ध का लौकिक रूप गौण होता गया और उनके कार्य एवं जीवन में अलौकिक तथा चामत्कारिक घटनायें जुड़ती गईं। वैपुल्यवादियों ने उनके 'मानव रूप में जन्म' को ही अस्वीकार कर दिया था। इससे उनमें देवत्व की प्रतिष्ठा होने लगी और एक दिन तो ऐसा भी आया जब हिन्दुओं ने भी ईश्वर के अन्य अवतारों के साथ बुद्ध की भी गणना प्रारम्भ कर दी। बुद्ध में देवत्व की प्रतिष्ठा हो जाने पर उनकी स्तुति और वंदना हेतु मन्त्रों एवं सूत्रों की भी रचना प्रारम्भ हो गई।

महायान और तन्त्र साधना :

कतिपय विद्वानों का अनुमान है कि इसी समय तांत्रिक साधना ने महायान सम्प्रदाय को प्रभावित किया। इतना तो निश्चित ही है कि चौथी पाँचवीं शताब्दी के बाद से न केवल बौद्ध धर्म अपितु शैव, वैष्णव आदि अन्य सम्प्रदाय भी तन्त्र साधना से व्यापक रूप से प्रभावित हुए थे। लेकिन यहाँ पर एक तथ्य को स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि आगे चल कर बौद्ध धर्म में (वज्रयान में) वामाचार का जिस रूप में जोर बढ़ा, वह मात्र तांत्रिकों की ही देन नहीं था।

वस्तुतः तन्त्र और तांत्रिक साधना के सम्बन्ध में विद्वानों में अनेक प्रकार के भ्रम विद्यमान रहे हैं। तन्त्र शब्द 'तन्' धातु से बना है, जिसका अर्थ हुआ 'विस्तार करना'। इस प्रकार तन्त्र वह शास्त्र है जिससे ज्ञान का विकास होता है—'तान्यते विस्तार्यते ज्ञानम् अनेन इति तन्त्रम्।'[१] शैव मतावलम्बियों में 'तन्त्र' उन शास्त्रों को कहा गया है जिनमें विपुल अर्थ वाले मन्त्र निहित हों तथा जो साधकों का त्राण करते हों। सामान्य रूप से तन्त्र से तात्पर्य उस ज्ञान से होता था "जिसमें देवता के स्वरूप, गुण, कर्म आदि का चिन्तन किया गया हो, तद्विषयक मन्त्रों का उद्धार किया गया हो, उन मन्त्रों को संयोजित कर देवता का ध्यान तथा उपासना के पाँचो अंग अर्थात् पटल, पद्धति, कवच, सहस्र नाम और स्तोत्र आदि व्यवस्थित रूप से दिखलाए गए हों।[२]

---

१. 'It is defined as the Shastra by which knowledge is spread.'—Sir John Woodroffe—Shakti and Shakta, P. 142.

२. बलदेव उपाध्याय—बौद्ध दर्शन, पृ० ४१७।

तन्त्र के इस स्वरूप को न समझने के कारण कुछ लोगों ने उसे 'काले जादू का क्रमहीन मिश्रण', कुछ ने 'वासनाजन्य रहस्यवाद' और अन्य ने 'अर्थहीन स्वांग' तथा 'पाखंड का पोषक' बताया। यही नहीं तन्त्राचार में पंचतत्व या पंचमकार की प्रवीनता देखकर कतिपय लोगों ने तन्त्र और परवर्ती वामाचार को पर्यायवाची समझकर, उसे वासना एवं कामुकता का प्रचार करने वाला कहा। लेकिन सर जान वुडरफ ने इन आलोचनाओं की अर्थहीनता एवं असत्यता का बड़े सुन्दर ढंग से अनावरण किया है।[१]

मन्त्रयान :

इससे स्पष्ट है कि महायान सम्प्रदाय तन्त्र साधना से प्रभावित भले ही हुआ हो और तन्त्रों-मन्त्रों के आविष्कार में उससे प्रेरणा भी मिली हो, किन्तु जिस रूप में यह वज्रयान तक विकसित हुआ उसके बीज स्वयं महायान सम्प्रदाय में ही छिपे हुए थे। हम पहले ही कह चुके हैं कि वैपुल्यवादियों के द्वारा जब बुद्ध को देव रूप में प्रतिष्ठा दी गई तथा मैथुन को भी विशेष परिस्थिति में स्वीकार्य बताया गया तो इसका व्यापक प्रभाव पड़ा। बुद्ध के निर्वाण को जितना ही समय बीतता गया, उनके सम्बन्ध में अलौकिक और विचित्र कहानियों की संख्या उतनी ही बढ़ती गई। धीरे-धीरे उनका पाठ करना भी फलदायक समझा जाने लगा। लेकिन लम्बे पाठों का प्रतिदिन जाप करना कठिन था। अतएव सरलीकरण और संक्षिप्तीकरण की प्रवृत्ति ने प्रवेश पाया। छोटे छोटे सूत्र, धारणी और मंत्र बनने लगे। "लम्बे लम्बे सूत्रों के पाठ में विलम्ब देखकर कुछ पंक्तियों की छोटी-छोटी धारणियाँ बनाई गईं, अन्त में दूसरे लोग पैदा हुए, जिन्होंने लम्बी धारणियों को रटने में तकलीफ उठाती जनता पर अपार कृपा करते हुए 'ओं मुने मुने महामुने स्वाहा,' 'ओं आ हुं' आदि मन्त्रों की सृष्टि की।"[२] इस प्रकार अक्षरों का महत्व बढ़ चला। मन्त्रों के इसी निर्माण और प्रचार युग को 'मन्त्रयान' कहा जाता है।

वज्रयान :

मन्त्रयान का समय चौथी शताब्दी से सातवीं शताब्दी तक माना जाता है। सातवीं शताब्दी के बाद से इस सम्प्रदाय में एक नई प्रवृत्ति प्रवेश करती है। मन्त्रों के चमत्कार में आकर्षण तो था ही, अतएव अनुयायियों की संख्या काफी बढ़ चुकी थी। विशेष स्थिति में मैथुन की छूट पहले ही मिल चुकी थी। अब सम्प्रदाय में स्त्री पुरुष दोनों थे ही, धन की भी कमी नहीं थी। अतएव काम वासना का जोर बढ़ने लगा और कमल-कुलिश की साधना प्रारम्भ हो

---

१. Sir John Woodroffe—Shakti and Shakta, Page 163–64.

२. राहुल सांकृत्यायन—पुरातत्व निबंधावली, पृ० १३७।

गई। 'वज्र' शब्द के भी अनेक प्रकार से अर्थ प्रस्तुत किए जाने लगे। यदि किसी ने वज्र शब्द का अर्थ 'हीरा' बताकर उसे अप्रवेश्य, अच्छेद्य, अदाह्य तथा अविनाश्य वस्तुओं का प्रतीक बताया तो अन्य नें वज्र को इन्द्रास्त्र कहा। लेकिन 'वज्र' का सर्वाधिक प्रचलित अर्थ हुआ 'पुंसेन्द्रिय'। कहा गया कि स्त्रीन्द्रिय पद्मस्वरूप है और पुरुषेन्द्रिय वज्र का प्रतीक है—'स्त्रीन्द्रियाँ यथा पद्मं बज्रं पुंसेन्द्रियं तथा' (ज्ञानसिद्धि)। इसे ही क्रमशः प्रज्ञा और उपाय की संज्ञा भी दी गई और प्रज्ञा उपाय की युगनद्ध दशा को महासुख और समरसता की अवस्था बताया गया। इसे शक्ति-शिव के मिलन या 'सामरस्य भाव' के समकक्ष ही घोषित किया गया। फलतः मद्य, मन्त्र, हठयोग और स्त्री वज्रयान के मूल आधार बन गए। स्त्री को मुद्रा या महामुद्रा बताया गया और इसके बिना साधना की पूर्ति असम्भव घोषित कर दी गई। मुद्रा के लिए भी डोमिनि या चांडालिनि कन्या को प्राथमिकता दी गई। वैसे अपनी ही पुत्री, भगिनी या माता भी वर्ज्य नहीं मानी गई।[1] इस प्रकार वज्रयान के द्वारा अनाचार और व्यभिचार को प्रश्रय ही नहीं मिला, अपितु पूरे समाज पर इसका दुष्प्रभाव पड़ा।

वज्रयान और सहजयान :

वज्रयान का समय प्रायः विद्वानों ने सातवीं शतब्दी के बाद से बारहवीं शताब्दी तक माना है। लेकिन वज्रयान और सहजयान में क्या सम्बन्ध है ? इस पर मतभेद है। कुछ लोग दोनों शब्दों को एक ही सम्प्रदाय का पर्यायवाची मानने हैं तो अन्य दोनों को भिन्न-भिन्न सम्प्रदाय सिद्ध करने की चेष्टा करते हैं। सहजयान और वज्रयान के सम्बन्ध में विवाद होने के कारण ही ८४ सिद्ध किसी के द्वारा वज्रयानो बताए जाते हैं तो अन्य उन्हें 'सहजिया सिद्ध' कहते हैं। एक विचित्र बात यह भी है कि वज्रयान और सहजयान दोनों का आरम्भ काल ईसा को आठवीं शताब्दी ही माना जाता है। महामहोपाध्याय हरप्रसाद शास्त्री ने लुईपाद को सहजिया सम्प्रदाय का प्रवर्तक माना है[2] और डा० दासगुप्त ने सहजयान को वज्रयान का एक उपयान माना है।[3] डा० विंटरनित्स के अनुसार

---

१. वज्रयान के एक आचार्य अनंगवज्र ने अपने ग्रंथ 'प्रज्ञोपायविनिश्चय सिद्धि' में लिखा है :—
प्रज्ञापारमिता सेव्यासर्वथा मुक्ति-काङ्क्षिभिः ॥२२॥
ललनारूपमास्थाय सर्वत्रैव व्यवस्थिता ॥२३॥
ब्राह्मणादि कुलोत्पन्नां मुद्रां वै अन्त्यजोद्भवाम् ॥२४॥
जनयित्रीं स्वसारं च स्वपुत्रीं भागिनेयिकाम् ।
कामयन् तत्वयोगेन लघु सिध्येद्धि साधकः ॥२५॥ (पृ० २२–२३)

२. बौद्धगान ओ दोहा—पदकर्तादेर परिचय, पृ० २१।

३. Dr. Shashibhushan Das Gupta—An Introduction to Tāntric Buddhism, p. 77.

लक्ष्मींकरा ने 'अद्वयसिद्धि' से नवीन अद्वैतवादी मत सहजयान का प्रवर्तन किया, जो अभी भी बाउलों में जीवित है।[1] इन्हीं विद्वानों के आधार पर श्री नागेन्द्रनाथ उपाध्याय ने भी निष्कर्ष निकाला है कि सहजयान वज्रयान का परवर्ती था और सहजयान ने वज्रयान के वज्र (कठोर=कठिन) के स्थान पर सहज (सरल=नैसर्गिक) की प्रतिष्ठा की।[2] इस प्रकार कुछ विद्वानों ने सहजयान को वज्रयान की एक शाखा तथा उसका परवर्ती उपयान कहा। लेकिन डा० गोविन्द त्रिगुणायत ने इसके विपरीत सहजयान को वज्रयान का पूर्ववर्ती मानते हुए विचित्र प्रकार के निष्कर्ष निकाले हैं। आपने लिखा है कि "जीवन की स्वाभाविक गति में भोग का भी थोड़ा बहुत स्थान है। अतः इन सिद्धों ने 'धर्माविरुद्ध काम' को अपनी साधना में स्थान दिया है। आगे चलकर भोग को साधना में आवश्यक समझा जाने लगा। वज्रयानियों ने इन सहजयानी सिद्धों के सिद्धान्तों का अर्थ के स्थान पर खूब अनर्थ किया है।"[3] आपका आगे चलकर फिर कहना है कि 'सहजयान बहुत दिनों तक अपने इस स्वाभाविक और सहज भाव को स्थिर न रख सका। उस पर तन्त्र-मन्त्र प्रधान वैपुल्यवाद का अत्यधिक प्रभाव पड़ा। उसकी परिणति वज्रयान के रूप में हो गई। उसी समय से सहजयान और वज्रयान का सम्मिश्रण हो गया।'[4] इन उद्धरणों से यह निष्कर्ष निकलते हैं कि (अ) सहजयान वज्रयान का पूर्ववर्ती था, (आ) सिद्ध सहजयानी थे, वज्रयानी नहीं, (इ) सहजयान में 'धर्माविरुद्ध काम' की ही मान्यता थी, (ई) सहजयान, वैपुल्यवाद (महायान) के पहले से ही स्वतन्त्र और स्वस्थ रूप में विकसित हो रहा था, बाद में वैपुल्यवाद के प्रभाव से वह वज्रयान में बदल गया।

लेकिन डा० त्रिगुणायत के उद्धरणों के आधार पर निकाले गए उक्त चारों निष्कर्ष सही नहीं प्रतीत होते। वज्रयान का प्रारम्भ ईसा की आठवीं शताब्दी से माना गया है। इसके पूर्व सहजयान नामक किसी सम्प्रदाय के अस्तित्व का प्रमाण नहीं मिलता। डा० किमूर ने चीनी बौद्ध धर्म में प्रचलित जिस सहजयान (इ ग्य दो) शब्द का उल्लेख किया है, वह महायान का ही पर्यायवाची है।[5] यह कहना कि सिद्ध वज्रयानी नहीं थे, तर्कसंगत नहीं प्रतीत होता। वज्रयान का जो समय माना गया है, लगभग सभी सिद्ध उसी अवधि में हुए थे। जिस मैथुन भाव की चर्चा वज्रयानियों के लिए की जाती है, वह लगभग सभी सिद्धों में मिल जाता है। यद्यपि सरहपाद ने सरल और सहज जीवन पर जोर दिया है

---

१. देखिए—श्री नागेन्द्र नाथ उपाध्याय—तांत्रिक बौद्ध साधना और साहित्य, पृ० १८८।

२. तांत्रिक बौद्ध साधना और साहित्य, पृ० १८४।

३. कबीर की विचारधारा, पृ० १२६।

४. ,, ,, ,, पृ० १२८।

५. डा० धर्मवीर भारती—सिद्ध साहित्य, पृ० १४६।

और बाह्याचार की अपेक्षा चित्तशुद्धि को महत्व दिया है, लेकिन उन्होंने यह भी तो कहा है कि :—

> कमल-कुलिस वेवि मज्झ ठिउ, जो सो सुरअ विलास।
> को न रमइ णइ तिहुअणहिं, कस्स ण पूरइ आस ॥९४॥
> (हिन्दी काव्यधारा, पृ० १४)

इसी प्रकार कण्हपा ने भी कहा है कि मन्त्र-तन्त्र के चक्कर में न फँसकर निज गृहिणी को लेकर केलि करना चाहिए।[1] यही सर्वोत्तम साधना है। तिलोपा ने भी इसी 'खण आणंद' को श्रेयस्कर बताया है।[2]

इससे यह निश्चित हो जाता है कि वज्रयान और सहजयान दोनों से तात्पर्य एक ही सम्द्राय से था। वज्रयान अधिक प्रचलित शब्द था। लेकिन सरहपाद आदि कतिपय सिद्धों में 'सहज' शब्द का अधिक प्रयोग देखकर, बाद में सिद्धों को 'सहजयानी' भी कहा जाने लगा। इसीलिए राहुल सांकृत्यायन ने अपने ग्रन्थों में इस प्रश्न के ही नहीं उठाया है और ८४ सिद्धों का कहीं पर व्रजयानी और कहीं पर सहजयानी नाम से उल्लेख किया है। जिन लक्ष्मींकरा को 'सहजयान' की प्रवर्तिका माना गया है, उनकी गणना सरहपाद के ही साथ, बज्रयानो साहित्यकारों में भी की गई है।[3] अतएव जैसा कि डा० धर्मवीर भारती ने लिखा है कि 'सहजयान को वज्रयान से अलग कोई शाखा मानना अथवा सहजयान को वज्रयान के अन्तर्गत कोई स्वतन्त्र शाखा मानना अथवा सहज साधना में देवता, मन्त्र, तन्त्र, योग, मैथुन तथा अतिचारों का अभाव मानना युक्तिसंगत नहीं है।'[4]

चौरासी सिद्ध :

सिद्धों के काव्य के समान ही उनका जीवन, समय तथा उनकी संख्या आदि सभी कुछ तिमिराच्छन्न, अतएव विवाद के बिषय हैं। सिद्ध शब्द के साथ ८४ और नाथ के साथ ९ अंक अभिन्न रूप से गंथे हुए हैं। लेकिन ८४ सिद्ध कौन थे? इसकी कोई एक सुनिश्चित और प्रामाणिक सूची अभी तक नहीं बन पाई है। विभिन्न स्रोतों के आधार पर विभिन्न विद्वानों ने जो सूचियाँ दी हैं, उनमें काफी पार्थक्य है। इन सूचियों में महामहोपाध्याय श्री हरप्रसाद शास्त्री

---

१. एक्कु ण किज्जइ मन्त ण तन्त।
णिअ घरणी लइ केलि करन्त ॥२८॥
(हिन्दी काव्यधारा, पृ० १४८)

२. हिन्दी काव्यधारा, पृ० १७४।

३. देखिए—तांत्रिक बौद्ध साधना और साहित्य, पृ० ११३।

४. सिद्ध साहित्य, पृ० १४८।

द्वारा उपस्थित 'वर्णरत्नाकर' की सूची[1], तिब्बत के स-स्क्य-विहार के पाँच प्रधान गुरुओं (१०९१-१२७४) की ग्रन्थावली 'स-स्क्य-बकं-बुम्' के सहारे श्री राहुल जी द्वारा बनाई गई सूची[2], हठयोग प्रदीपिका की सूची[3] तथा आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी द्वारा प्रस्तुत सूची प्रमुख हैं।[4] इन सूचियों को देखने से पता चलता है कि एक सूची दूसरी सूची से काफी भिन्न है। 'वर्णरत्नाकर' की सूची को तो द्विवेदी जी ने नाथ सिद्धों की सूची माना है।

वस्तुतः ८४ अंक सिद्धों के लिए काफी महत्व रखने लगा था। इसलिए प्रत्येक सूचीकार ने किसी न किसी प्रकार उक्त संख्या पूरी करने का प्रयत्न किया है। चौरासी शब्द के अनेक प्रकार से अर्थ भी लगाए गए हैं। इस शब्द का सांकेतिक और तांत्रिक महत्व भी है। किसी ने इसका सम्बन्ध ८४ आसनों से जोड़ा है तो किसी ने ८४ लाख योनियों से, किसी ने इसको बारह राशियों तथा सात ग्रहों का गुणनफल माना है तो किसी ने इसको 'रहस्य संख्या' बताया है। यही कारण है कि सिद्धों के साथ ८४ शब्द अभिन्न रूप से जुड़ गया। अतएव जो सूचियाँ उपलब्ध हैं, उनमें अनेक काल्पनिक और अनैतिहासिक सिद्धों के नाम भी जुड़े हुए हैं। हां, इनमें कुछ सिद्ध ऐतिहासिक भी हैं। वे विशेष महत्व रखते हैं। उनके नाम भी प्रायः सभी सूचियों में मिल जाते हैं। सरहपा, लुइपा, सबरपा, कण्हपा, तन्तिपा, भुसुकपा आदि ऐसे ही सिद्ध हैं।

सिद्धों की संख्या के अनिश्चित होने के कारण ही उनके समय तथा आदि सिद्ध के सम्बन्ध में भी मतभेद है। प्रबोधचन्द्र बागची ने लुइपा को आदि सिद्ध माना[5] है और राहुल सांकृत्यायन ने सरहपाद को चौरासी सिद्धों में प्रथम तथा आदि सिद्ध बताया है।[6]

इसी प्रकार इनके समय के सम्बन्ध में भी मतभेद है। लुइपा को कुछ लोग सातवीं और अन्य आठवीं शताब्दी का सिद्ध मानते हैं। सरहपा का समय विनयतोष भट्टाचार्य ने सन् ६३३ ई० माना है और राहुल ने सरहपा को महाराज धर्मपाल (७६८-८०९) का समकालीन सिद्ध किया है। यहाँ पर विस्तार से इन सब तथ्यों का परीक्षण सम्भव नहीं, लेकिन सरह की भाषा आदि के आधार पर उन्हें आठवीं शती का कवि मानना अधिक संगत होगा। इसके पश्चात् लगभग चार सौ वर्षों तक इस साधना का जोर रहा और सिद्धों की संख्या में विस्तार होता गया। १२ वीं शती के पश्चात् नाथ सिद्धों का जोर बढ़ता है और इनकी संख्या में ह्रास होने लगता है। नाथ सम्प्रदाय इन सिद्धों की ही

---

१. देखिए—बौद्ध गान ओ दोहा—पदकर्तादेर परिचय, पृ० ३५।
२. देखिए—पुरातत्व निबंधावली, पृ० १४४ (क से प तक)।
३. देखिए—तांत्रिक बौद्ध साधना और साहित्य, पृ० २१।
४. नाथ सम्प्रदाय, पृ० ३१ से ३६ तक।
५. देखिए—कौलज्ञाननिर्णय, सं० प्रबोधचन्द्र बागची, भूमिका, पृ० २४।
६. पुरातत्व निबन्धावली, पृ० १४७ और १५५।

एक शाखा था अथवा उसका विकास स्वतन्त्र रूप में हुआ, इस पर भी विवाद है।

सिद्ध साहित्य और जैन काव्य :

विक्रम की सातवीं-आठवीं शताब्दी से भारतीय साहित्य और धर्म साधना में एक नया मोड़ आता है। भाषा संश्लिष्टावस्था को छोड़कर अश्लिष्टावस्था को प्राप्त होती है। नई भाषा के उदय के साथ ही साथ नई छंद योजना तथा नई विचार पद्धति का भी आरम्भ और विकास होता है। जिस प्रकार संस्कृत में अनुष्टुप छंद लोकप्रिय था, प्राकृत में जैसे गाथा का प्रचलन था, उसी प्रकार अपभ्रंश में दूहा या दोहा को प्राथमिकता मिलती है। इस समय से प्रत्येक धर्म साधना में सुधार और सरलता की प्रवृत्ति आती है। बाह्याचार और शास्त्र ज्ञान की अपेक्षा चित्त-शुद्धि और अर्न्तज्ञान पर जोर दिया जाने लगता है और तीर्थ भ्रमण की अपेक्षा काया-तीर्थ को महत्व मिलता है। जैन, बौद्ध, शैव, आदि सभी धर्मावलम्बी लगभग समान शब्दों में एक ही प्रकार की बात कहने लगते हैं। मध्यकालीन धर्म साधना में यह साम्य अद्भुत और इतिहास में अनुपम है।

आठवीं शती के सिद्ध सरहपाद ने सरल या सहज जीवन पर जोर दिया और समस्त बाह्य अनुष्ठानों एवं षट्दर्शनों का विरोध किया। जैन कवि योगीन्दु मुनि सरहपाद के ही समवर्ती थे। दोनों के विचारों में अद्भुत साम्य है। दोनों ने सहज जीवन पर जोर दिया है, चित्त शुद्धि साधक का प्रथम कर्तव्य बताया है, गुरु की कृपा की कामना की है, पुस्तकीय ज्ञान से ब्रह्मानुभूति में संदेह व्यक्त किया है, शरीर को ही समस्त साधनाओं का केन्द्र और सर्वोत्तम तीर्थ घोषित किया है, आत्मा और परमात्मा की एकता में विश्वास व्यक्त किया है, सामरस्य भाव तथा महासुख की चर्चा की है और पाप पुण्य दोनों को हीन अथच त्याज्य कहा है। इनके पश्चात् लगभग दसवीं शताब्दी में जैन कवि मुनि रामसिंह हुए। इनके दोहों में और अधिक उदार विचार देखे जा सकते है। इन्होंने सिद्ध साहित्य तथा नाथ सम्प्रदाय के अनेक शब्दों को ज्यों का त्यों ग्रहण कर लिया और योगीन्दु मुनि की विचार सरणि को और आगे बढ़ाया। मुनि रामसिंह के अनेक दोहे सरहपाद तथा अन्य सिद्धों के दोहों से अद्भुत साम्य रखते हैं।

सिद्ध सरहपाद ने ब्राह्मण, पाशुपत, बौद्ध, जैन आदि सम्प्रदायों के पाषंड की निन्दा की है। जैनों के बाह्याचार की खिल्ली उड़ाते हुए उन्होंने कहा कि यदि नग्न रहने से ही मोक्ष मिल जाय तो श्वान और शृगाल को मिल जाना चाहिए, लुंचन क्रिया से यदि मोक्ष मिलता हो तो युवती का नितंब इसका प्रथम अधिकारी है, पिच्छीधारण ही यदि मोक्ष का कारण हो तो मयूर निश्चित रूप से मोक्ष को प्राप्त होता होगा, यदि रूखे-सूखे भोजन से ही मोक्ष सम्भव है तो

गज और तुरंग सबसे पहले निर्वाण लाभ करेंगे।[1] कहने का तात्पर्य यह है कि शरीर को कष्ट देने से और मात्र दिखावे से कोई मोक्ष का अधिकारी नहीं हो जाता। इसी प्रकार योगीन्दु मुनि कहते हैं कि जिन दीक्षा लेकर, केश लुंचन आदि क्रियाएं करना तथा परिग्रह का त्याग न करना आत्मा प्रवंचना है।[2] आगे वह योगसार में फिर कहते हैं कि पढ़ लेने से धर्म नहीं होता, पुस्तक और पिच्छीधारण करने से भी धर्म नहीं होता, मठ में रहने से धर्म नहीं होता और केश लोंच से भी धर्म नहीं होता (दोहा नं० ४७)। जिस प्रकार सरह ने कहा कि पडितजन सकल शास्त्रों का वर्णन करते हैं, लेकिन देह में निवास करने वाले बुद्ध को नहीं जानते[3] और कण्हपा ने कहा कि पंडित-जन आगम, वेद, पुराणों का ही अध्ययन करते रहते हैं, किन्तु इन ग्रन्थों से वे ब्रह्मानन्द उसी प्रकार नहीं प्राप्त कर पाते जिस प्रकार पके हुए श्रीफल के चतुर्दिक भ्रमण करने वाला भ्रमर रस से वंचित रहता है,[4] ठीक उसी प्रकार योगीन्दु मुनि और मुनि रामसिंह ने केवल शास्त्र ज्ञान से परमात्म-पद-प्राप्ति असम्भव घोषित किया। योगीन्दु मुनि ने कहा कि शास्त्र पढ़ता हुआ भी वह व्यक्ति मूर्ख है जिसने विकल्प का परित्याग नहीं किया और शरीर में ही स्थित परमात्मा को नहीं जाना (परमात्मप्रकाश, २–८३)। मुनि रामसिंह ने भी कहा कि हे पण्डितों में श्रेष्ठ ! तूने कण को छोड़कर तुष को कूटा है, क्योंकि तू ग्रन्थ और उसके अर्थ से ही सन्तुष्ट है, किन्तु परमार्थ को नहीं जानता (दो० नं० ८७)। षट्दर्शन के धंधे में पड़ने से भ्रान्ति नहीं मिट सकती (दो० नं० ११६)।

सिद्धों का विश्वास था कि बुद्ध का निवास शरीर में ही है, इसलिए उसे मंदिर या तीर्थ में खोजना समय और श्रम का अपव्यय है। तीर्थ स्नान और

---

१. जइ णग्गा विअ होइ मुत्ति, ता सुणह सिआलह।
लोमुपाडणें अत्थि सिद्धि, ता जुवइ णिअम्बह॥
पिच्छीगहणे दिट्ठ मोक्ख, ता मोरह चमरह।
उच्छे भोअणें होइ जाण, ता करिह तुरंगह॥
(दोहाकोश, पृ० २)

२. केण वि अप्पउ वंचियउ सिरु लुंचिवि छारेण।
सयल वि संग ण परिहरिय जिणवर लिंग धरेण॥२:९०॥
(परमात्मप्रकाश, पृ० २३२)

३. पंडिअ सअल सत्थ वक्खाणअ।
देहहिं बुद्ध वसन्त ण जाणअ॥
(दोहाकोश, पृ० १८)

४. आगम वेअ पुराणें (ही), पण्डिअ माण वहन्ति।
पक्क सिरीफलें अलिअ जिम, बाहेरिअ भमन्ति॥२॥
(हिन्दी काव्यधारा, पृ० १४६)

तपोवन में भ्रमण मिथ्यादर्शियों की बाते हैं।[1] इसीलिए सरहपाद इस शरीर को ही सरस्वती, सोमनाथ, गगासागर, प्रयाग और वाराणसी तथा क्षेत्रपीठ उपपीठ आदि सभी कुछ मानत हैं।[2] यह एक बड़ा ही विचित्र तथ्य है कि इन सिद्धों, जैनों तथा आगे चलकर सन्त कवियों द्वारा एक ओर शरीर को क्षणभगुर तथा विनश्वर कहकर उससे मोह न करने का उपदेश दिया गया, दूसरी ओर देह को ही सर्वोत्तम तीर्थ तथा देवालय माना गया। यह कथन देखने में भले ही 'परस्पर विरुद्ध' लगे, किन्तु वास्तविकता यह है कि इन साधकों ने शरीर को ही साध्य न मानकर, साधन रूप में इसके उपयोग का सुझाव दिया और देहस्थ आत्मा एवं ब्रह्म की एकता का निरूपण किया। योगीन्दु मुनि ने कहा कि जैसे बट वृक्ष में ही बीज होता है और बीज में ही वृक्ष ठीक उसी प्रकार देह में ही देव को समझो। यह आत्मा ही शिव है, विष्णु है, बुद्ध है, ईश्वर है और ब्रह्मा है। आत्मा ही अनन्त है, सिद्ध है। ऐसे देवाधिदेव का वास शरीर में ही है :—

जं वड मज्झहं बीउ फुडु, बीयहं वडु वि हु जाणु।
तं देहहं देउ वि मुणहि, जो तइलोय पहाणु ॥७४॥
सो सिउ संकरु विण्हु सो, सो रुद्द वि सो बुद्ध।
सो जिणु ईसरु बंभु सो, सो अणंतु सो सिद्ध ॥१०५॥
एव हिं लक्खण लक्खियउ, सो परु णिक्कलु देउ।
देहइं मज्झहिं सो वसइ, तासु ण विज्जइ भेउ ॥१०६॥

(योगसार, पृ० ३८७ तथा ३९४)

मुनि रामसिंह ने शरीर को ही एक मात्र देवालय मानते हुए कहा कि देहरूपी देवालय में जो शक्ति के सहित निवास करता है, वह शिव कौन है ? इस भेद को जान (दो० नं० ५३)। लेकिन इस शिव को मन्त्र तन्त्र से नहीं जाना जा सकता। काया को क्लेश देने से यह प्राप्त नहीं हो सकता। पुस्तकें उसका आस्वाद कराने में असमर्थ हैं। कहीं फलवाले वृक्ष के दर्शन मात्र से पेट भरता है या वैद्य के दर्शन मात्र से रोग दूर होता है। उसका अनुभव तो विशुद्ध चित्त वाला साधक गुरु की कृपा होने पर करता है। इसीलिए सरहपाद कहते हैं कि जिसे गुरु उपदेशरूपी अमृत रस पीने को नहीं प्राप्त हुआ, वह अनेक शास्त्रों और उनके अर्थरूपी मरुस्थली में भटकता हुआ प्यासा ही मर जाता है :—

'गुरु उवएसें अमिअ रसु, धाव ण पीअउ जेहि।
बहु सत्थत्थ मरुत्थलहिं, तिसिए मरिअउ तेहि ॥५६॥

(हिन्दी काव्यधारा, पृ० ८)

---

१. किन्तइ तित्थ तपोवण जाई।
मोक्ख कि लब्भइ पाणी न्हाई ॥१५॥
(सरहपाद-हिन्दी काव्यधारा, पृ० ६)

२. एकु से सरसइ सोवणाह, एकु से गंगासाअरु।
वाराणसि पआग एकु, से चन्द दिवाअरु ॥९६॥
(दोहाकोश, पृ० २२)

सिद्ध तिलोपा ने भी अनुभव किया था कि जो तत्व तथा जो सत्य मूढ़जनों के लिए अगम्य है वह पंडितों के लिए भी दुर्बोध है, क्योंकि वे तो मात्र शास्त्रार्थ में उलझे रहते हैं। सत्य का साक्षात्कार तो केवल उसी व्यक्ति को होता है जिस पर सद्गुरु की कृपा होती है :—

'वढ अणं लोअअ गोअर तत्त पंडिअ लोअ अगम्म ।
जो गुरुपाअ पसरण तंहि कि चित्त अगम्म ॥१॥

(संत सुधासार, पृ० ६)

मुनि रामसिंह ने भी इसी प्रकार कहा है कि लोग तभी तक कुतीर्थों में भ्रमण करते हैं और तभी तक धूर्तता करते हैं, जब तक गुरु की कृपा से देह में स्थित देव को जान नहीं लेते (दो० नं० ८०)।

'सामरस्य भाव' का वर्णन मध्यकाल की एक सामान्य विशेषता है। शिव-शक्ति के मिलन की चर्चा अथवा शरीर में जीवात्मा-परमात्मा के संयोग की कहानी प्रायः सिद्धों, नाथों और जैन मुनियों आदि सभी ने कही है। इसका विस्तार से वर्णन ग्यारहवें अध्याय में किया गया है। यहाँ इतना ही संकेत कर देना है कि सिद्धों का विश्वास था कि जब चित्त जल में नमक के सदृश समरस हो जाए तो वाह्य साधना की अपेक्षा नहीं रह जाती।[1] और मुनि रामसिंह का भी कथन था कि जब समरसता की स्थिति आ जाय तो किसी भी प्रकार की पूजा या समाधि की आवश्यकता नहीं रह जाती।[2] इस समरसता की स्थिति को प्राप्त होना दोनों का परम काम्य था। इसीलिए दोनों ने पाप-पुण्य दोनों को दोषपूर्ण घोषित किया। उनकी दृष्टि में यदि एक लौह-शृङ्खला है तो दूसरी स्वर्ण-शृङ्खला अर्थात् पुण्य भी है शृङ्खला ही। और समरसता के लिए शृङ्खला के बंधन से मुक्त होना अनिवार्य है। फिर परम पद शून्य है, निरंजन है। वहाँ न पुण्य है न पाप :—

'सुण्ण णिरजंण परमपउ, ण तहिं पुण्ण ण (उ) पाव ॥१४३॥

(दोहाकोश, पृ० ३०)

इसीलिए योगीन्दु मुनि ने कहा था कि पाप को पाप तो सभी लोग कहते हैं, किन्तु जो पुण्य को भी पाप कहे, वह पंडित है : --

जो पाउ वि सो पाउ मुणि सव्वु इ को वि मुणेइ ।
जो पुण्णु वि पाउ वि भणइ सो बुह को वि हवेइ ॥७१॥

(योगसार, पृ० ३८६)

---

१. जिम लोण विलिज्जइ पाणिएहिं तिम घरिणी लइ चित्त ।
समरस जाइ तक्खणे जइ पुणु ते सम णित्त ॥
(दोहाकोष, पृ० ४६)

२. जिम लोणु विलिजइ पाणियहं तिम जइ चित्तु विलिज्ज ।
समरसि हूवइ जीवडा काइं समाहि करिज्ज ॥१७६॥
(पाहुड़दोहा, पृ० ५४)

नवम अध्याय

जैन काव्य और नाथ योगी सम्प्रदाय

●

योग का अर्थ :

सामान्यतः 'योग' शब्द का प्रयोग अनेक अर्थों में किया जाता है। सुष्ठु ढंग से किए गए कार्य को योग कहते हैं—'योगः कर्मसु कौशलम्', सुख दुःख आदि पर विजय प्राप्त करना भी 'योग' है—'समत्वं योग उच्यते', चित्त वृत्ति के निरोध को भी 'योग' कहा गया है—'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः', मारण, मोहन और उच्चाटन आदि मन्त्रों को भी 'योग' कहते हैं और गणित में अंकों का मिलन 'योग' कहलाता ही है। इसी प्रकार 'योग' के अन्य अर्थ भी खोजे जा सकते हैं। किन्तु 'योग' शब्द जब दर्शन-शास्त्र में प्रयुक्त होता है, तब वह एक विशिष्ट अर्थ में ही नियोजित हो जाता है अर्थात् 'योग' शब्द का अपने विशिष्ट रूप में अर्थ है—वह साधना प्रणाली जिससे आत्मा और परमात्मा में ऐक्य स्थापित किया जा सके। डा० रामकुमार वर्मा ने इस तथ्य को इन शब्दों में कहा है—'आत्मा जिस शारीरिक या मानसिक साधन से परमात्मा में जुड़ जावे, वही योग है।'[1]

---

१. कबीर का रहस्यवाद, पृ० ६८।

योग की परम्परा :

भारतवर्ष में 'योग' की परम्परा अति प्राचीन है। कुछ विद्वानों ने इसका स्वरूप वैदिक युग में ही खोजा है। वैदिक काल के व्रात्य लोगों के सम्बन्ध में कहा गया है कि उनकी साधना प्रणाली '[illegible]' के बहुत निकट थी।[1] वेदों के पश्चात् उपनिषदों[2], श्रीमद्भागवत[3], गीता[4], योगवशिष्ट[5] तथा तन्त्र[6] ग्रन्थों में योग प्रणाली के उल्लेख मिलते हैं। किंवदन्ती है कि आदि पुरुष हिरण्यगर्भ ने ही सर्वप्रथम मानव मात्र के कल्याण के लिए इस विद्या का उपदेश दिया था। 'योग दर्शन के टीकाकार वाचस्पति मिश्र ने लिखा है कि पतंजलि ने हिरण्यगर्भ द्वारा उपदिष्ट शास्त्र का ही पुनः प्रतिपादन किया था। इसीलिए योगी याज्ञवल्क्य ने हिरण्यगर्भ को ही इस शास्त्र का आदि उपदेष्टा कहा है।'[7] उपनिषदों में से कुछ तो 'योग साधना' से ही सम्बद्ध हैं। इस प्रकार की कुछ उपनिषदें मद्रास की अड्यार लाइब्रेरी से श्री महादेव शास्त्री द्वारा सन् १९२० में 'योग उपनिषदः' नाम से प्रकाशित की गई हैं। सांख्य दर्शन और योग का तत्ववाद एक ही है और सांख्य काफी प्राचीन मत है। गीता में श्रीकृष्ण ने कहा है कि केवल बाल बुद्धि के लोग ही सांख्य और योग को अलग-अलग मत समझते हैं। पण्डित लोग ऐसा नहीं मानते। सांख्य तत्ववाद का नाम है और योग उसकी प्रक्रिया का[8]। योग को 'सेश्वर सांख्य' कहा भी जाता है। योग शास्त्र के प्रसिद्ध आचार्य पतंजलि के समय से तो योग को युक्तिसंगत और क्रमबद्ध दर्शन का ही रूप मिल गया। पतंजलि का समय निश्चित रूप से ज्ञात नहीं है। कुछ विद्वान् उन्हें विक्रम पूर्व दूसरी शताब्दी में विद्यमान मानते हैं तो अन्य उनका समय विक्रम की प्रथम शताब्दी मानते हैं। कुछ हो, इससे इतना तो निश्चित ही है कि पतंजलि ने विक्रम सम्वत् के आरम्भ होने से कुछ इधर-उधर

---

१. W. Briggs–'Gorakhnath and the Kanphata Yogis' (Religious life of India series, Calcutta 1938, P. 212–13.)

२. कल्याण योगांक, पृ० ६२।

३. ,, ,, पृ० १०६।

४. ,, ,, पृ० १२२।

५. ,, ,, पृ० ११७।

६. ,, ,, पृ० १०५।

७. दे० —नाथ सम्प्रदाय, पृ० ११४।

८. सांख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पंडिताः।
एकमप्यास्थितः सम्यगुभयोर्विन्दते फलम् ।।४।।
यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते।
एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति ।।५।।
(गीता, अध्याय ५)

योगसूत्रों की रचना की थी। इससे योग परम्परा की प्राचीनता और अखंडता स्पष्ट हो जाती है।

मध्यकाल में इस साधना प्रणाली को नाथ योगियों द्वारा काफी प्रोत्साहन मिला। उन्होंने योग शास्त्र के सैद्धान्तिक पक्ष को व्यावहारिक रूप दिया और संस्कृत में लिपिबद्ध विचारों को 'भाषा' द्वारा जनता तक पहुंचाया। उन्होंने 'कथनी' की अपेक्षा 'करनी' पर विशेष जोर दिया, इसलिए उसका इतना व्यापक प्रभाव पड़ा कि उनके समकालीन अन्य सन्तों और मुनियों ने तो उनकी पद्धति और शब्दावली को अपनाया ही, परवर्ती सन्त भी उसी ओर आकृष्ट हुए और योग की यह परम्परा आधुनिक काल तक चलती रही।

नाथ सम्प्रदाय और सहजयानी सिद्धों से उसका सम्बन्ध :

'नाथ' सम्प्रदाय का आदि प्रवर्तक कौन था और 'नाथ' कितने हुए तथा उनके नाम क्या हैं? इसका निर्णय करना बड़ा कठिन है। वस्तुतः मध्यकालीन धर्मसाधनाएँ एक दूसरे से इतना प्रभावित है और एक दूसरे की शब्दावली आदि को इस मात्रा में ग्रहण कर लिया है कि किसी भी साधना पद्धति के यथार्थ स्वरूप का सम्यक् विवेचन लगभग असम्भव कार्य हो गया है। नाथ सिद्धों की प्राप्त सूचियों में इतनी विभिन्नता और नामान्तर है तथा सहजयानी सिद्धों की सूचियों के अनेक नामों से ऐसी अभिन्नता है कि यह बता सकना भी कठिन है कि नौ नाथ कौन थे? या नाथों की निश्चित संख्या कितनी थी? तथा नाथ योगियों और सहजयानी सिद्धों में क्या सम्बन्ध था? दोनों सम्प्रदायों की सूचियों में अनेक नाम समान तो हैं ही, इसके अतिरिक्त नाथ सम्प्रदाय के प्रवर्तक 'आदिनाथ' को कुछ विद्वान् 'जालंधरपाद' मानते हैं और इस आधार पर नाथ सम्प्रदाय को 'चौरासी सिद्धों' से निकला हुआ मानते हैं। श्री राहुल जी ने लिखा है कि 'नाथ पंथ चौरासी सिद्धों से ही निकला है।···गोरक्ष सिद्धान्त संग्रह में 'चतुरशीति' शब्द के साथ निम्न सिद्धों का नाम मार्ग-प्रवर्तक के तौर पर लिखा गया है—नागार्गुन, गोरक्ष, चर्पट, कन्थाधारी, जालन्धर, आदिनाथ (जालन्धरपाद) चर्या (कण्हपा)। इससे चौरासी सिद्धों और नाथ पन्थ के सम्बन्ध में सन्देह की कोई गुंजायश नहीं रह जाती।'[1] लेकिन जैसा कि हम अभी कह आए हैं कि दोनों सम्प्रदायों के सिद्धों की प्राप्त सूची में अनेक नाम इस प्रकार से घूम फिरकर आए हैं कि किसी प्रकार के निश्चित निष्कर्ष पर पहुंचना बड़े साहस का कार्य है। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने 'नाथ सम्प्रदाय' में 'नौ नाथों' की भिन्न-भिन्न सूचियाँ दी हैं, इनमें भी कई सहजयानी सिद्धों के नाम आए हैं।[2] यही नहीं एशियाटिक सोसाइटी की लाइब्रेरी में सुरक्षित 'वर्णरत्नाकर' नामक हस्तलेख में चौरासी नाथ सिद्धों की जो तालिका दी हुई

---

१. पुरातत्व निबंधावली, पृ० १६२।

२. नाथ सम्प्रदाय, पृ० २५–२६।

है, तिब्बती परम्परा के चौरासी महायानी सिद्धों से इनमें के कई सिद्ध अभिन्न हैं, उभय साधारण हैं।[1] ऐसी स्थिति में राहुल जी द्वारा, उक्त सूची के आधार पर, व्यक्त मत सन्देह को जन्म दे सकता है।

एक बात और है। यद्यपि यह सम्प्रदाय 'नाथ सम्प्रदाय' के नाम से विख्यात हुआ, तथापि इस सम्प्राय के ग्रन्थों में इसके अन्य नाम जैसे सिद्ध मत, सिद्ध-मार्ग, योग-मार्ग, योग-सम्प्रदाय, अवधूत-मत, अवधूत-सम्प्रदाय आदि भी मिलते हैं। महायानी और नाथ दोनों अपने को 'सिद्ध' कहते थे, दोनों की साधना पद्धति में बहुत कुछ साम्य भी था। अतएव बहुत सम्भव है इसी कारण दोनों मार्गों के सिद्धों की सूचियों में कुछ नाम साम्य हो गया हो।

यह पहले ही कहा जा चुका है कि तत्कालीन धर्म साधनाएँ एक दूसरे के बहुत निकट थी। कभी एक सम्प्रदाय दूसरे में अन्तर्भुक्त हो जाता था और कभी एक शाखा से दूसरी प्रशाखा जन्म ले लेती थी। इस प्रकार सम्प्रदायों का उद्भव और विलयन उस समय की सामान्य विशेषता थी। नाथ सम्प्रदाय के साथ भी ऐसा ही हुआ होगा। इसका सम्बन्ध भी अनेक मतों के साथ बताया जाता है। कहा जाता है कि कौल मार्ग और कापालिक मत नाथ मतानुयायी ही हैं। नाथ सम्प्रदाय के प्रवर्तक 'आदि नाथ' को साक्षात् 'शिव' भी माना जाता है। इसलिए 'शैवों' से इसका घनिष्ठ सम्बन्ध हो ही गया। इसी प्रकार तांत्रिकों पर भी इसका प्रभाव बताया जाता है और शंकराचार्य के इस सम्प्रदाय में दीक्षित होने की बात भी कही जाती है।[2] इससे नाथ सम्प्रदाय के प्रभाव और महत्व का पता चल जाता है।

नाथ सिद्ध और उनका समय :

'राज गुह्य' नामक ग्रन्थ में कहा गया है कि 'ना' का अर्थ है 'अनादि रूप' और 'थ' का अर्थ है 'भुवनत्रय का स्थापित होना'। इस प्रकार 'नाथ' मत का अर्थ है 'वह अनादि धर्म जो भुवनत्रय की स्थिति का कारण है'। श्री गोरखनाथ को इसीलिए 'नाथ' कहा जाता है।[3] नाथ सिद्धों की संख्या और समय के सम्बन्ध में काफी मतभेद है। इस मतभेद का कारण है किसी ऐतिहासिक प्रमाण का अभाव और किंवदन्तियों एवं कथाओं का विशाल जाल। जिस प्रकार सिद्धों के साथ 'चौरासी' शब्द अभिन्न रूप से गुंथा है, उसी प्रकार 'नाथ' शब्द कहते ही 'नौ' स्वतः जिह्वा पर आ जाता है। किन्तु ये नौ नाथ

---

१. नाथ सम्प्रदाय, पृ० २७-२८।

२. विस्तार के लिए देखिए—नाथ सम्प्रदाय, पृष्ट २ से १४ तक।

३. नाकारोऽनादि रूपं थकारः स्थाप्यते सदा।
भुवनत्रयमेवैकः श्री गोरक्ष नमोऽस्तुते॥
(नाथ सम्प्रदाय, पृ० ३ से उद्धृत)

कौन थे ? इसका कोई प्रामाणिक उल्लेख नहीं मिलता है। यही नहीं, इनकी संख्या भी वज्रयानी सिद्धों के समान चौरासी तक पहुंचाई गयी है। लेकिन इतना निश्चित है कि इस सम्प्रदाय में मत्स्येद्रनाथ, जालन्धरनाथ, गोरक्षनाथ, भरथरी, चौरंगीनाथ आदि का व्यक्तित्व काफी ऊँचा था। डा० पीताम्बर दत्त बडथ्वाल ने गोरखनाथ की रचनाओं को बहुत पहले सम्पादित करके 'गोरखबानी' नाम से प्रकाशित कराया था। इसकी भूमिका में उन्होंने गोरखनाथ के अतिरिक्त अन्य नाथ सिद्धों की बानियों को भी प्रकाशित करने की घोषणा की थी। किन्तु असमय में उनकी मृत्यु हो जाने से यह कार्य सम्पन्न न हो सका। आपके पश्चात् इस क्षेत्र में श्री राहुल सांकृत्यायन तथा डा० धर्मवीर भारती ने कुछ कार्य किया। डा० कल्याणी मल्लिक ने 'सिद्ध सिद्धान्त पद्धति ऐण्ड अदर वर्क्स आफ नाथ योगीज़' का सम्पादन करके उसे पूना से सन् १९५४ में प्रकाशित कराया है। इधर आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने 'नाथ सिद्धों की बानियाँ' का सम्पादन किया है। यह ग्रन्थ नागरी प्रचारिणी सभा, काशी से सं० २०१४ विक्रमी में प्रकाशित हुआ है। इसमें २४ नाथ सिद्धों की रचनाएँ संग्रहीत हैं। सम्भवत: यह प्रथम ग्रन्थ है, जिसमें इतने अधिक नाथ सिद्धों की रचनाएँ एक साथ देखने को मिली हैं।

नाथों का समय कब से कब तक रहा यह विषय काफी विवाद का है। इनमें से यदि किसी एक के समय का पता चल जाए तो शेष का समय निकालने में आसानी हो सकती है, क्योंकि सभी नाथ सिद्ध एक दूसरे से किसी न किसी प्रकार सम्बद्ध थे। इस सम्प्रदाय के सर्वाधिक महिमा सम्पन्न व्यक्तित्व वाले गोरखनाथ थे। उन्हीं के सम्बन्ध में दन्तकथाओं का ढेर लगा हुआ है। उनके समय को यदि एक ओर दूसरी शताब्दी तक घसीटा गया है तो दूसरी ओर १७वीं शताब्दी तक। डा० शहीदुल्ला ने गोरख को आठवीं शताब्दी का कवि माना है तो राहुल सांकृत्यायन[1] ने नवीं शताब्दी का, यदि आचार्य द्विवेदी ने उनका समय दसवीं शताब्दी सिद्ध किया है[2] तो शुक्ल जी ने गोरख को पृथ्वीराज का समकालीन माना है।[3] इसी प्रकार किम्वदन्तियों में उन्हें कहीं चारों युगों में अवतरित हुआ बताया गया है तो कहीं १५वीं शताब्दी के कबीर से, कहीं १६वीं शती के नानक से और कहीं १७वीं शताब्दी के जैन कवि बनारसीदास से विवाद करते हुए दिखाया गया है। नाथों के सम्बन्ध में प्रचलित दन्तकथाओं और ऐतिहासिक, अर्ध-ऐतिहासिक तथा पौराणिक लेखों के परीक्षण-निरीक्षण के पश्चात् द्विवेदी जी इस निष्कर्ष पर पहुंचे हैं कि गोरखनाथ विक्रम की दसवीं शताब्दी के आस-पास विद्यमान थे। यदि गोरख का यही समय था, तब 'नाथ युग' का अनुमान सहज ही लगाया जा सकता है।

---

१. हिन्दी काव्य धारा, पृ० १५६ ।
२. नाथ सम्प्रदाय, पृ० ९९ ।
३. हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० १४ ।

मत्स्येन्द्रनाथ गोरखनाथ के गुरु थे तथा मत्स्येन्द्रनाथ और जालन्धरनाथ सम-सामयिक थे। जालन्धरनाथ ही 'नाथ' मत के आदि प्रवर्तक माने जाते हैं। अतएव नाथ सम्प्रदाय का आविर्भाव नवीं शताब्दी के लगभग हुआ होगा। 'नाथ सिद्धों की बानियाँ' में जिन चौबीस नाथ सिद्धों की रचनायें संग्रहीत हैं, उनमें चौरंगीनाथ को गोरखनाथ का गुरु भाई बताया गया है, नागार्जुन के बारहवीं शताब्दी में होने का अनुमान किया गया है, चर्पटीनाथ को गोरखनाथ का शिष्य कहा गया है। इसी प्रकार काणेरी को गोरखनाथ का समसामयिक, जालन्धरीपाव को कृष्णपाद का शिष्य, अजयपाल को चौदहवीं शताब्दी के बाद का, लक्ष्मणनाथ को तेरहवीं शताब्दी का और घोड़ाचोली को बारहवीं शती का सिद्ध बताया गया है। दत्त जी तथा पृथ्वीनाथ जैसे कुछ लोग १५वीं-१६वीं शती में भी हुए[1]। इससे अनुमान होता है कि नाथ सिद्धों का चार-पाँच सौ वर्षों तक काफी जोर रहा।

नाथ सिद्धों का प्रभाव :

धर्म साधना में 'योग' का पहले से ही महत्वपूर्ण स्थान था और बुद्ध तथा महावीर तक इस ओर पहले से ही आकृष्ट हो चुके थे, किन्तु मध्यकालीन धर्म साधना पर 'नाथ मत' का व्यापक प्रभाव पड़ा। बौद्ध, शैव, शाक्त, जैन आदि सभी मतावलम्बी इस साधना की ओर आकृष्ट हुए। अनेक वज्रयानी सिद्ध भी इधर चले आए। जैन मुनियों ने भी इनकी शब्दावली एवं साधना की कतिपय विशेषताओं को अपनाया तथा आगे चलकर हिन्दी 'निर्गुनियाँ' संतों, विशेष रूप से, कबीर के मार्ग निर्धारण में इसने बहुत बड़े आधार का कार्य किया। काबुल, पंजाब, उत्तर प्रदेश, बिहार, बंगाल तथा महाराष्ट्र तक फैली नाथ पंथ की गद्दियाँ उनके प्रभाव-विस्तार की साक्षी हैं।

नाथ साहित्य और जैन काव्य :

जैन रहस्यवादी कवियों तथा नाथ सिद्धों की रचनाओं में अनेक प्रकार की समानता देखने को मिलती है। प्रत्येक रहस्यवादी में कतिपय साधना विषयक समानताओं का होना तो स्वाभाविक ही है, इसके अतिरिक्त जैन मुनियों ने 'नाथ सम्प्रदाय' के कुछ शब्दों को भी अपना लिया तथा एकाध ने उनकी पद्धति के अनुसार अपने को मोड़ने का भी प्रयत्न किया। जैनों में 'योग' का तो पहले से ही प्रभाव था, स्वयं महावीर स्वामी भी उस ओर प्रवृत्त हुए थे। इसके अतिरिक्त नेमिनाथ और पार्श्वनाथ, जो गोरखनाथ के पूर्ववर्ती थे, योग से काफी प्रभावित थे। परवर्ती जैन मुनियों पर भी इस योग साधना का प्रभाव पड़ा। योगीन्दु मुनि ने प्रायः 'योगी' को सम्बोधित करके ही अपनी बात कही है।

---

१. देखिए--नाथ सिद्धों की बानियाँ, पृ० २० से २५ तक।

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने लिखा है कि 'स्पष्ट ही गोरखनाथ द्वारा प्रवर्तित कहे जाने वाले पंथों में पुराने सांख्ययोगवादी, बौद्ध, जैन, शाक्त सभी हैं। सभी की सामान्यधर्मिता योग मार्ग है।[1] नाथ पंथियों के हठयोग, सामरस्य-भाव, अवधू सम्बोधन आदि को तो जैनों ने अपनाया ही, उन्हीं के समान निरंजन, रवि-शशि, वाम-दक्षिण, शिव-शक्ति, अजपा आदि का भी वर्णन किया। इसके अतिरिक्त दोनों साधनाओं में कतिपय अन्य समानताएँ भी मिलती हैं— जैसे, पिंड-ब्रह्माण्ड की एकता, मन एवं इन्द्रिय नियन्त्रण, बाह्याचार विरोध, गुरु का महत्व, परम पद की कल्पना तथा आत्मा और ब्रह्म की एकता आदि।

हठयोग की साधना :

योग कई प्रकार का होता है, जैसे प्रेमयोग, सांख्ययोग, ज्ञानयोग, कर्मयोग, हठयोग, राजयोग, मंत्रयोग आदि। इनमें नाथ पंथ की साधना का नाम 'हठयोग' है। यद्यपि हठयोग की परम्परा भी प्राचीन है, किन्तु गोरखनाथ ने इसको व्यापक रूप दिया और नाथ सिद्धों की साधना का मूल आधार हठयोग ही हुआ। हठयोग शरीर से होता है अर्थात् श्वास प्रश्वास एवं शारीरिक अंगों पर अधिकार प्राप्त कर उनका सम्यक् उपयोग करते हुए मन को एकाग्र कर ब्रह्म में नियोजित करना हठयोग है। सिद्ध सिद्धान्त पद्धति में 'ह' का अर्थ 'सूर्य' बतलाया गया है और 'ठ' का अर्थ 'चन्द्र'। सूर्य और चन्द्र के योग को हठयोग कहते हैं :—

'हकारः कथितः सूर्यष्ठकारश्चन्द्र उच्यते।
सूर्याचन्द्रमसोर्योगात् हठयोगो निगद्यते॥'[2]

इस श्लोक की व्याख्या कई प्रकार से की गई है। कुछ लोग सूर्य (प्राणवायु) और चन्द्र (अपान वायु) के योग अर्थात् प्राणायाम से वायु का निरोध करना हठयोग मानते हैं। दूसरे लोग सूर्य (इड़ा नाड़ी) और चन्द्र (पिंगला) को रोक कर सुषुम्णा मार्ग से प्राणवायु के संचार को हठयोग कहते हैं। संत सुन्दरदास ने 'सर्वांग योग प्रदीपिका' के 'हठयोग नाम तृतीयोपदेश' में रवि-शशि के योग को ही हठयोग माना है :—

रवि शशि दोऊ एक मिलावै।
याही तै हठयोग कहावै॥

इस साधना पद्धति के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति कुंडलिनी और प्राण शक्ति लेकर पैदा होता है। सामान्यतया यह 'कुंडलिनी' शक्ति निश्चेष्ट रूप से उपस्थ

---

१. नाथ सिद्धों की बानियाँ (भूमिका), पृ० १६।
२. आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी—नाथ सम्प्रदाय, पृ० १२३ से उद्धृत।

मार्ग में रहती है। साधक नाना प्रकार की चेष्टाएँ करके 'कुंडलिनी' को ऊर्ध्वमुख करता है। इन योगियों ने शरीर रचना का वर्णन करते हुए षट्चक्रों और तीन नाड़ियों की भी कल्पना की है। साधारण स्थिति में व्यक्ति की इड़ा और पिंगला नाड़ियाँ चला करती है। किन्तु जब योगी प्राणायाम द्वारा इन दोनों श्वास मार्गों को रोक लेता है, तब इनके मध्य की 'सुषुम्ना' नाड़ी का द्वार खुलता है। कुंडलिनी शक्ति इसी नाड़ी के मार्ग से ऊपर बढ़ती है। मार्ग में मूलाधार चक्र, स्वाधिष्ठान चक्र, मणिपूर चक्र, अनाहत चक्र, विशुद्धाख्य चक्र और आज्ञा चक्र को पार कर, 'शक्ति' मस्तिष्क के निकट स्थित 'शून्य चक्र' में पहुंचती है। यहीं पर जीवात्मा को पहुंचा देना योगी का चरम लक्ष्य है। इस स्थान पर जिस कमल की कल्पना की गई है, उसमें सहस्रदल हैं। इसी सहस्रार चक्र या शून्य चक्र को 'गगन मंडल' भी कहा गया है। कुंडलिनी शक्ति के इस प्रकार जागृत होनेपर योगी अनहदनाद का श्रवण करता है, ब्रह्मानन्द का अनुभव करता है और 'जीवन्मुक्त' अवस्था को प्राप्त हो जाता है।

गोरखनाथ ने इसी साधना पद्धति द्वारा 'अमृतरस' के पान का बार-बार उपदेश दिया है। उनका विश्वास है कि इस 'आकाश तत्व' में निहित 'निर्वाण पद' के रहस्य को जो जान लेता है, उसका फिर आवागमन नहीं होता।[1] काणेरी जी 'गगन मण्डल' में बजने वाले इसी अनहद 'तूर' की बात करते हैं[2] और गोपीचन्द कहते हैं कि 'गगन मण्डल में ही हमारी मढ़ी (निवास स्थान) है, चन्द सूर तूंब हैं, 'सहज सील' पत्र है और अनहद सींगी नाद है।'[3] चौरंगीनाथ ने 'प्राण सांकली' में इस साधना का विस्तार से वर्णन किया है।[4] जैन कवियों में मुनि रामसिंह और संत आनन्दघन में विशेष रूप से इस साधना की बातें मिल जाती हैं। मुनि रामसिंह ब्रह्म की प्राप्ति के लिए किसी बाह्य विधान की अपेक्षा मन और इन्द्रियों को नियन्त्रित कर शरीर में ही स्थित ब्रह्म के दर्शन की बात करते हैं। उनका कहना है कि अम्बर (गगन मण्डल) में जो निरंतर शब्द होता रहता है, मूढ़ जन उसका श्रवण नहीं कर पाते। वह तो सुनाई तभी पड़ता है, जब मन पाँचो इन्द्रियों सहित अस्त हो जाता है

---

१. आकाश तत सदा सिव जांण। तास अभिअन्तरि पद निरवाण।
पंड़े परचानैं गुरमुखि जोइ। बाहुडि आवागमन न होइ।
(हिन्दी काव्यधारा, पृ० १५६)

२. ग्यौसैं चन्दा रातैं सूर, गगन मण्डल में बाजे तूर।
सति का सबद कणेरी कहै, परमहंस का है न रहै ।७।
(नाथ सिद्धों की बानियाँ, पृ० ११)

३. गगन मण्डल में मढ़ी हमारी। चन्द सूर ना तूंबं जी।
सहज सील ना पत्र हमारे। अनहद सींगी नाद जी ॥३॥
(नाथ सिद्धों की बानियाँ, पृ० २०)

४. नाथ सिद्धों की बानियाँ, पृ० ३६ से ४७ तक।

(दोहापाहुड़, दो० नं० १६८) । वाम और दक्षिण (इड़ा-पिंगला) के मध्य में स्थित (सुषुम्ना) की सहायता से अपर ग्राम बसाने की भी आप चर्चा करते हैं (दो० नं० १८२) । योगीन्दु मुनि जब यह कहते हैं कि जो नासिका पर दृष्टि रखकर अभ्यन्तर में परमात्मा को देखते हैं, वे इस लज्जाजनक जन्म को फिर से धारण नहीं करते और वे माता के दूध का पान नहीं करते, तब उनका मन्तव्य हठयोग साधना से ही है।[1] इसी प्रकार मुनि रामसिंह के इस कथन में, कि जिसका मोह विलीन हो जाता है, मन मर जाता है, श्वास-निश्वास टूट जाते हैं और अम्बर (गगन मण्डल) में जिनका निवास है, वे केवलज्ञान को प्राप्त होते हैं, प्राणायाम और हठयोग की ओर ही संकेत है।[2]

सन्त आनन्दघन हठयोग की साधना से विशेष रूप से प्रभावित प्रतीत होते हैं। वह अनेक पदों में 'अवधू' के सम्बोधन द्वारा इसी साधना की बात करते हैं। वह 'आत्मानुभव' और 'देह-देवल मठवासी' की बात कुछ साखियों में इस प्रकार करते हैं :—

'आतम-अनुभव-रसिक को, अजब सुन्यो बिरतंत।
निर्वेदी वेदन करै, वेदन करै अनन्त ॥
माहारो बालुड़ो सन्यासी, देह देवल मठवासी।
इड़ा-पिंगला मारग तजि जोगी, सुषमना घरबासी ॥
ब्रह्मरंध्र मधि सांसन पूरी, बाऊ अनहद नाद बजासी।
यम नीयम आसन जयकारी, प्राणायाम अभ्यासी ॥
प्रत्याहार धारणा धारी, ध्यान समाधि समासी।
मुल उत्तर गुण मुद्राधारी, पर्यंकासन वासी ॥

(आनन्दघन बहोत्तरी, पृ० ३५८)

शिव-शक्ति :

जैसा कि आठवें अध्याय में कहा जा चुका है कि 'सामरस्य भाव' उस युग की महत्वपूर्ण साधना थी। सिद्धों, नाथों, कौलमार्गियों और जैन मुनियों आदि सभी साधकों में इसका वर्णन किसी न किसी रूप में मिल जाता है। शैव और शाक्त साधना के अनुसार इस सृष्टि प्रपंच का मूल कारण है शिव-

---

१. णासग्गिं अब्भिन्तरहं जो जोवहिं असरीरु।
बाहुडि जम्मि ण सम्भवहिं पिवहिं ण जणणी खीरु ॥६०॥
(योगसार, पृ० ३८४)

२. मोहु विलिज्जइ मणु मरइ तुट्टइ सासु णिसासु।
केवल णाणु वि परिणवइ अंबरि जासु णिवासु ॥१४॥
(पाहुड़दोहा, पृ० ६)

शक्ति का विपमी भाव। अनएव दोनों के मिलन मे सभी प्रकार के द्वन्द्वों की समाप्ति हो जाती है। यही 'सामरस्य भाव' है। कौल साधना का भी लक्ष्य है—कुल और अकुल का मिलन। कुल अर्थात् शक्ति और अकुल अर्थात् शिव का मिलन ही 'सामरस्य' है। यही कौल ज्ञान है। नाथ सिद्धों और कौल साधकों दोनों ने कुण्डलिनी शक्ति को जगाकर सुषुम्ना के द्वारा सहस्रार चक्र में जीवात्मा को पहुंचाकर गगन मण्डल या कैलाश में स्थित 'शिव' से मिला देने को भी 'समरस' या 'सामरस्य' कहा है। शिव-शक्ति का यह सामरस्य ही परम आनन्द है।

शिव-शक्ति की इसी अभिन्नता और सामरस्य का वर्णन करते हुए मुनि रामसिंह कहते हैं कि शिव के बिना शक्ति का व्यापार सम्भव नहीं और शिव भी शक्ति विहीन होकर कोई कार्य नहीं कर सकते। इस दोनों को जान लेने से सम्पूर्ण संसार का ज्ञान हो जाता है और मोह विलीन हो जाता है।[1] शिव शक्ति का मिलन ही चरम साध्य है।[2] जब चित्त परमेश्वर से मिल जाता है और परमेश्वर मन से अर्थात् 'समरसता' की स्थिति आ जाती है तो फिर किसकी पूजा की जाय और कौन पूजा करे? (दोहापाहुड़ दो० नं० ४९)। योगीन्दु मुनि ऐसे योगियों की बलि जाते हैं तथा उनके प्रति बार बार मस्तक नवाते हैं, जो शून्य पद का ध्यान करते हुए इस समरसी भाव को पहुंच चुके हैं और जिनके लिए पुण्य पाप दोनों ही उपादेय नहीं रह गए हैं :—

> 'सुण्णउं पउं झायंताहं वलि बलि जोइयडाहं।
> समरसि भाउ परेण सहु पुण्णु वि पाउ ण जाहं ॥२।१५९॥
>
> (परमात्मप्रकाश, पृ० ३०१)

अन्य समानताएँ:

नाथ सिद्धों और जैन मुनियों दोनों में बाह्याचार खण्डन की प्रवृत्ति भी समान रूप से मिलती है। दोनों चित्त शुद्धि पर जोर देते हैं, तीर्थ स्नान को व्यर्थ समझते हैं, केवल पुस्तकीय ज्ञान को निरर्थक बताते हैं और दोनों की साधनाओं में गुरु को महत्वपूर्ण स्थान मिला है। गोरखनाथ कहते हैं कि हे पण्डित! कैसे बताऊँ कि देव कहाँ है? तू अपने और मेरे में परम तत्व को क्यों नहीं देखता? पत्थर के देवालय में स्थित पत्थर की पूजा करता है। सजीव को तोड़कर निर्जीव की उपासना का पाप करता है, इससे तेरा उद्धार कैसे हो सकता है? तू तीर्थों में

---

१. दोहापाहुड़, दो० नं० ५५।
२. ,, दो० नं० १२७।

स्नान करता है। बाह्य स्नान से आभ्यंतर का मल कैसे दूर हो सकता है ?[1] गोरखनाथ इसी प्रकार पढ़ने लिखने को मात्र लोकाचार मानते हैं तथा पूजा पाठ को भी व्यर्थ समझते हैं।[2] गोरखनाथ के ही समकालीन मुनि रामसिंह थे। उन्होंने भी बाहरी तप की अपेक्षा चित्त शुद्धि पर जोर दिया है (दो० नं० ६१), पत्तो, पानी, दर्भ, तिल आदि से पत्थर की पूजा की निन्दा की है (दो० नं० १५९), तीर्थों के भ्रमण को लाभहीन बताया है (दो० नं० १६२) और ग्रन्थ तथा उसके अर्थ से सन्तुष्ट रहने वाले व्यक्ति को कण को छोड़कर तुष कूटने वाले के समान बताया है (दो० नं० ८५)। जिस प्रकार चरपटनाथ जी ने बाहरी वेष बनाने वालों, जटा रखने वालों, तिलक लगाने वालों और पीत वस्त्र धारण करने वालों के आडम्बर की खिल्ली उड़ाई है,[3] उसी प्रकार योगीन्दु मुनि, मुनि रामसिंह रूपचन्द और संत आनंदघन आदि जैन मुनियों ने दिखावा करने वालों की खबर ली है, भले ही आडम्बर करने वाला जैन ही क्यों न हो।

नाथ सिद्धों ने जैन मुनियों के समान ही आत्मा और ब्रह्म की एकता का निरूपण किया है और मन को वश में करना साधक का प्रमुख कर्तव्य बताया है। संत काणेरी जी ने तो यहाँ तक कहा है कि समुद्र की तरंगों का पार पाया जा सकता है लेकिन मन की लहरों का पार पाना सम्भव नहीं।[4] इसीलिए मुनि रामसिंह ने मन-करभ को नियन्त्रित करने पर बार बार जोर दिया है। दोनों मार्गों के साधकों ने 'माया' को अपना परम शत्रु माना है। योगी की साधना भंग इसी के द्वारा होती है। गोरखनाथ ने कहा है कि माया रूपी सर्पिणी अबला

---

१. कैसे बोलौं पण्डिता, देव कौने ठांई।
निज तत निहारतां, अम्हे तुम्हें नाहीं ॥
पाषांणची देवली पाषांण चा देव, पषांण पूजिला कैसे फटीला सनेह।
सरजीव तोड़िला निरजीव पूजिला, पाप ची करणीं कैसे दूतर तिरीला ॥
तीरथि तीरथि सनांन करीला, बाहर धोए कैसें भीतरि भेदीला।
आदिनाथ नाती मछींद्रनाथ पूता, निज तत निहारै गोरख अवधूता ॥३॥
(संत सुधा सार, पृ० ३७)

२. छोड़ौ वेद वणज व्यौपार। पढ़िबा गुणिबा लोकाचार।
पूजा पाठ जपौ जिनि जाप। जोग मांहि विटंबौ आप ॥
(हिन्दी काव्यधारा, पृ० १६३)

३. इक पीत पटा इक लम्ब जटा। इक सूत जनेऊ तिलक ठटा।
इक जंगम कहीए भसम छटा। जड़लउ नहीं चीनै उलटि घटा ॥
तब चरपट सगले स्वांग नटा ॥ २०१॥
(नाथ सिद्धों की बानियाँ, पृ० ३४)

४. समदां की लहर्‍याँ पार जु पाइला।
मनवां की लहर्‍यां पार न आवै रै लो ॥
(नाथ सिद्धों की बानियाँ, पृ० १०)

होते हुए भी बलवान है और उसने ब्रह्मा, विष्णु, महादेव को भी छला है।[1] एक अन्य स्थान पर आपने माया को बाघिन बताया है और कहा है कि यह माया रूपी बाघिन दिन को मन मोहती है और रात में सरोवर का शोषण करती है। मूर्ख लोग जानकर भी घर-घर में इस व्याघ्रा का पोषण करते हैं :—

दिवसै बाघणि मन मोहै राति सरोवर सोपै।
जाणि बूझि रे मूरिप लोया घरि-घरि बाघिण पोपै॥
(हिन्दी काव्यधारा, पृ० १६०)

संत आनन्दघन ने इसी प्रकार 'माया' के द्वारा सभी के छले जाने की बात इस प्रकार कही है :—

अवधू ऐसो ज्ञान विचारी, वामें कोण पुरुष कोण नारी।
बम्भन के घर न्हाती धोती, जोगी के घर चेली॥
कलमा पढ़ पढ़ भई रे तुरकड़ी, तो आपही आप अकेली।
ससुरो हमारो बालो भोलो, सासू बाल कुंवारी॥
पियुजो हमारे प्होढ़ै पारणिये, तो मैं हूं झुलावनहारी।
नहीं हूँ परणी, नहीं हूँ कुंवारी, पुत्र जणावन हारी॥
(आनन्दघन बहोत्तरी, पृ० ४०३-४०४)

उलटवासियों की परम्परा तो प्राचीन है, किन्तु सिद्धों और नाथों ने इस शैली को अधिक व्यापक बनाया। उनकी रहस्यात्मक उक्तियाँ प्रायः उलटवासियों द्वारा व्यक्त हुई हैं, इसे हम पहले कह आए हैं—(देखिए, अध्याय नं० ८)। जैन काव्य पर भी इसका प्रभाव पड़ा और संत आनन्दघन ने विशेष रूप से इस पद्धति को अपनाया।

निष्कर्ष :

दोनों साधना मार्गों में इन कतिपय समानताओं के होते हुए भी यह मानना संगत नहीं होगा कि जैन काव्य में जो कुछ है वह 'नाथ सम्प्रदाय' प्रभावापन्न है अथवा दोनों में कोई अन्तर नहीं। वस्तुतः सभी साधक अपने अपने मार्ग पर चलते हुए भी अनेक विषयों पर एक मत हो जाते थे, कारण कि सभी का लक्ष्य एक ही था—ब्रह्मानुभूति और तज्जन्य आनन्द की प्राप्ति। फिर भी नाथ योगियों ने अपनी उक्तियों को जितना जटिल और रहस्यमय बना दिया है, उतनी अस्पष्टता जैन काव्य में नहीं आने पाई है। जैन मुनियों ने अपनी बात को सीधे सरल माध्यम से ही कहने की चेष्टा की है। योगियों के 'शून्य' की चर्चा भी जैन मुनियों के द्वारा नहीं हुई है। इसके अतिरिक्त नाथ सिद्धों के लिए 'हठयोग' ही मूल और प्रधान साधना थी। प्रत्येक योगी के लिए इसी साधना का अनुसरण अनिवार्य था, जबकि जैन मुनि अपने ढंग पर ब्रह्म-पद-प्राप्ति के लिए प्रयत्नशील थे, कभी-कभी 'योग' की चर्चा अवश्य कर देते थे।

---

१. स्रपर्णी कहै मैं अबला बलिया।
ब्रह्मा बिस्न महादेव छलिया॥२॥ (हिन्दी काव्यधारा, पृ० १५७)

दशम अध्याय

जैन काव्य और हिन्दी संत काव्य

●

संत कवि :

हिन्दी संत कवियों से तात्पर्य उन 'निर्गुनियाँ' साधकों से है, जो समस्त बाह्याडम्बरों का विरोध करते हुए आत्म-शुद्धि के लिए प्रयत्नशील थे, जिनकी दृष्टि में ईश्वर एक, अनन्य और सर्वव्यापक था, जिनके लिए गुरु गोविन्द से भी बड़ा था और जिनकी दृष्टि में भक्ति के क्षेत्र में ऊँच-नीच या छूत-अछूत का कोई अर्थ नहीं था। वैसे हिन्दी में यह संत परम्परा कबीर के पहले से ही प्रारम्भ हो चुकी थी, 'श्री गुरु ग्रन्थ साहब' में उल्लिखित संतों में से कई कबीर के पूर्ववर्ती थे, लेकिन कबीर इस शाखा के सर्वाधिक लोकप्रिय और गरिमा सम्पन्न व्यक्तित्व वाले साधक हैं। उनका प्रभाव भी बड़ा व्यापक पड़ा। परिणामस्वरूप यह संत काव्य धारा कई शतियों तक प्रवहमान रही।

संत कवि और पूर्ववर्ती साधना मार्ग :

इन संतों, विशेष रूप से कबीर, का अध्ययन करते समय, इन्हें अनेक पूर्ववर्ती साधना मार्गों से प्रभावित बताया गया है। उपनिषद्, सिद्ध साहित्य, नाथ साहित्य, सूफी सम्प्रदाय आदि में से एक या अनेक इन सन्तों के प्रेरणा स्रोत माने गए हैं। एक आलोचक के अनुसार कबीर श्रुति पंथ, वैष्णव मत, रामानन्द, बौद्ध धर्म, वज्रयानी और सहजयानी, निरंजन पंथ, तन्त्र-मन्त्र, नाथ सम्प्रदाय,

इस्लाम और सूफी सम्प्रदाय से प्रभावित थे। आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने भी लिखा हैं कि 'इनकी (कबीर) रचना में अद्वैतवादी वचन भी हैं। सूफियों के सत्संग से प्राप्त प्रेम की पीर भी मिलती है। वैष्णवों का अहिंसावाद भी मिश्रित है। हिन्दू मुसलमानों की एकता में ये विशेष रूप से संलग्न रहे। ज्ञान मार्गी अद्वैतवाद, प्रेममार्गी तसव्वुफ (सूफीमत), अहिंसा प्रधान वैष्णव प्रपत्तिवाद, मुसलमानी एकेश्वरवाद और नाथ पंथियों का योग मार्ग सबका आपानक मिलता है कबीर पंथ में।'[२]

वस्तुतः सत्य एक ही है। उसकी अनुभूति भी एक ही प्रकार की हो सकती है। पहुंचने के मार्ग भले ही भिन्न और अनेक हों। यही कारण है कि विभिन्न युगों में नाना साधना मार्गों के सन्त और साधक अन्ततः एक ही निष्कर्ष पर पहुंचते रहते हैं। अतएव भिन्न युगों और सम्प्रदायों के साधकों में जो वर्णन साम्य मिलता है, उसे केवल पूर्ववर्ती साधक का परवर्ती साधक पर प्रभाव मात्र नहीं नहीं माना जा सकता और न दो कवियों के समान-कथन को देखकर, दूसरे द्वारा प्रथम का भावापहरण मात्र कहा जा सकता है। वस्तुतः ये संत जब परम सत्य का अनुभव कर लेते थे तो अनायास एक ही प्रकार की बातें करने लगते थे, उनका सम्प्रदाय भले ही भिन्न हो। हाँ ! कभी-कभी एक सम्प्रदाय या साधक, दूसरे सम्प्रदाय अथवा संत को प्रभावित भी करता था। किन्तु इस प्रभाव-ग्रहण और स्वतः-दर्शन के बीच कोई निश्चित रेखा नहीं खींची जा सकती।

संत कवि और जैन कवि :

इस दृष्टि से विचार करने पर हम देखेंगे कि कबीर तथा अन्य संत न केवल सिद्धों, नाथों, सूफियों या वैष्णवों से प्रभावित थे, अपितु जैन काव्य और संतकाव्य में भी अद्भुत समानता है। दोनों में बाह्याडम्बर का विरोध मिलता है, मात्र पुस्तकीय ज्ञान को ब्रह्मानुभूति कराने में असमर्थ बताया गया है, चित्त शुद्धि और मन के नियन्त्रण पर जोर दिया गया है, गुरु को विशेष महत्व मिला है, आत्मा-परमात्मा का प्रिय-प्रेमी के रूप में चित्रण हुआ है, ब्रह्म की सत्ता घट में निरूपित होते हुए भी उसे सर्वव्यापक तथा निर्गुण, निराकार और अज माना गया है और पाप-पुण्य दोनों को समान रूप से बंधन का हेतु, अतएव त्याज्य घोषित किया गया है। यद्यपि योगीन्दु मुनि कबीर से लगभग छः-सात शताब्दी पूर्व हुए थे और मुनि रामसिंह कम से कम चार-पाँच शताब्दी पूर्व विद्यमान थे तथापि इन दोनों जैन कवियों और कबीर की बानियों में काफी साम्य पाया जाता है। कबीर शिक्षित नहीं थे। अतएव यह नहीं कहा जा सकता कि कबीर ने परमात्म प्रकाश, योगसार अथवा पाहुड़दोहा पढ़कर उससे प्रभाव

१. डा० गोविन्द त्रिगुणायत—कबीर की विचारधारा, पृ० ६६ से १६० तक।

२. हिन्दी साहित्य का अतीत (भाग १), पृ० १४२।

ग्रहण किया था। इन कवियों में साम्य देखकर यही कहना अधिक उपयुक्त होगा कि ये सभी कवि संत और मुनि भी थे और अनुभवजनित तथ्य ही इनके द्वारा व्यक्त हुआ है। इसी कारण इनमें साम्य है। हाँ, कबीर के लगभग दो ढाई सौ वर्षों पश्चात् संत आनन्दघन हुए, जो कबीर से अवश्य प्रभावित थे। इसी प्रकार संत सुन्दरदास और बनारसीदास के जीव जगत सम्बन्धी विचारों में काफी साम्य है।

योगीन्दु मुनि, मुनि रामसिंह और कबीर :

प्रारम्भ में सिद्धों, नाथों तथा अन्य सम्प्रदाय के कवियों के साहित्य का विशद परिचय न होने के कारण कतिपय आलोचकों ने कबीर साहित्य का अध्ययन करते समय, उन पर अनेक प्रकार के मिथ्या आरोप लगाए। कबीर में बाह्याडम्बरों के खंडन-मंडन की प्रवृत्ति को देखकर, उन्हें प्रच्छन्न रूप से इस्लाम का प्रचारक, नूतन मत प्रवर्तक, हिन्दू-विधि-विधान का निन्दक और न जाने क्या-क्या कहा गया। लेकिन अब अपभ्रंश साहित्य के प्रकाश में आ जाने के पश्चात् यह स्पष्ट हो गया है कि न केवल कबीर ने मूर्ति पूजा को व्यर्थ का आडम्बर बताया था, तीर्थ स्नान को कोरा श्रम और दिखावा कहा था, कर माला को पाषंड का प्रतीक घोषित किया था और मात्र शास्त्र ज्ञान से पूर्ण सत्य की जानकारी असम्भव बताया था, अपितु उनके छः सात सौ वर्षों पूर्व से ही उनसे कठोर भाषा में बाह्याचारों और दिखावे की प्रवृत्ति की निन्दा और विरोध होने लगा था। सिद्धों ने तो सहज जीवन पर जोर दिया ही था। जैन कवियों ने भी कबीर से भी अधिक तिलमिला देनेवाली भाषा में बाह्य विधानों की सारहीनता पर प्रहार किया था। कबीर ने कहा कि यदि आत्मतत्व को नहीं पहचाना तो स्नान और मंजन से क्या लाभ ? अन्तःविकारों के होने पर बाह्य शरीर की स्वच्छता निरर्थक है। शरीर का सैकड़ों बार मार्जन करने पर भी राम नाम के बिना मुक्ति नहीं मिल सकती। दादुर सदैव गंगा में ही रहता है, लेकिन वह निर्वाण को नहीं प्राप्त होता। इसीलिए कबीर समस्त बाह्यविधानों को त्यागकर रामनाम का स्मरण करने का उपदेश देते हैं, क्योंकि वही (रामनाम) अभय पददाता है।[1] यही बात बहुत पहले ही मुनि रामसिंह

---

१. क्या है तेरे न्हाई धोई, आतमराम न चीन्हा सोई।
क्या घट ऊपरि मंजन कीयै भीतरी मैल अपारा ।।
राम नाम बिन नरक न छूटै, जो धोवै सौ बारा।
ज्यूँ दादुर सुरसरि जल भीतरि हरि बिन मुकति न होई ।।
परिहरि काम राम कहि बौरे, सुनि सिखु बंधू मोरी।
हरि कौ नांव अभैपददाता, कहै कबीरा कोरी। १५८।
(कबीर, पृ० ३२२)

ने कहा था कि जब तक आभ्यन्तर चित्त मलिन है, तब तक बाह्य तप से क्या लाभ ? चित्त में उस निरञ्जन को धारण कर, जिससे मलिनता से छुटकारा मिले : –

> अब्भिन्तर चित्ति वि मइलियइं बाहिरि काइं तवेण ।
> चित्ति णिरञ्जणु को वि धरि मुच्चहि जेम मलेण ॥६१॥
> (पाहुडदोहा, पृ० १८)

मुनि रामसिंह के बाद एक और जैन कवि हुए हैं – आनन्दतिलक । उन्होंने भी कहा है कि भीतर पाप मल भरा है, लेकिन मूर्ख लोग स्नान करते हैं। जो मल या विकार चित्त में लगा है, वह स्नान से कैसे मिट सकता है ?

> भिंत्तरि भरिउ पाउमलु, मूढ़ा करहि सण्हाणु ।
> जे मल लाग चित्त महि अणन्दा रे ! किम जाय सण्हाणि ॥४॥

उक्त उद्धरणों से स्पष्ट है कि कबीर और दोनों जैन कवि बाह्य स्वच्छता की अपेक्षा आन्तरिक शुद्धि पर अधिक बल देते हैं। दोनों में अन्तर इतना ही है कि कबीर भक्त थे, अतएव उन्होंने 'राम' नाम के सुमिरन पर जोर दिया है और मुनि रामसिंह ने 'निरंजन तत्व' को अन्तर में धारण करने का उपदेश दिया है। आनन्दतिलक ने भी मुनियों को ध्यान रूपी सरोवर में अमृत जल से स्नान करके आठों प्रकार के कर्म मल धोकर निर्वाण प्राप्त करने का मार्ग सुझाया है।[1] कबीर ने एक पद में चित्त शुद्धि पर बल देते हुए फिर कहा है कि जिसके हृदय में मैल है, यदि वह तीर्थों में भी स्नान करे तो उसे बैकुण्ठ नहीं प्राप्त हो सकता।[2] तीर्थ भ्रमण की असारता का उल्लेख कबीर और जैन कवियों ने लगभग समान रूप से किया है। कबीर ने एक अन्य पद में कहा है कि योगी, यती, तपस्या करने वाले और सन्यासी अनेक तीर्थों में भ्रमण करते हैं। कुछ लोग (जैन साधु) केश लुंचन करते हैं और अन्य मूँज की मेखला धारण करते हैं या मौन रहकर जटा धारण करते हैं। किन्तु परमतत्व की जानकारी के अभाव में ये सभी मृत्यु को प्राप्त होते हैं।[3] ठीक इन्हीं शब्दों में जैन मुनि योगीन्दु और रामसिंह तीर्थ भ्रमण को व्यर्थ का श्रम ठहरा चुके थे। योगीन्दु मुनि ने आत्मा को ही सर्वोत्तम तीर्थ माना था (परमात्मप्रकाश, ९५)। इसीलिए तीर्थ जाने वालों से कहा था कि हे मूढ़ ! तीर्थ-तीर्थ भ्रमण करने से मोक्ष नहीं मिलता-

---

१ झाण सरोवर अमिय जलु मुणिवरु करइ सण्हाणु ।
अट्ठ कर्म मल धोवहिं अणंदा रे ! णियडा पाहु णिव्वाणु ॥५॥
(आणंदा)

२. संत कबीर, पद २७, पृ० १२७ ।

३. जोगी जती तपी संनिआसी बहु तीरथ भ्रमना ।
लुंजित मुंजित मोनि जटाधर अंति तऊ मरना ॥५॥
(संत कबीर, पृ० ६५)

'तित्थइं तित्थु भमंताहं मूढ़हं मोक्खु ण होइ (परमात्मप्रकाश, २-८५)। और मुनि रामसिंह ने भी कहा था कि हे मूर्ख ! एक तीर्थ से दूसरे तीर्थ को जाता हुआ तू जल से चमड़े को धोता है। किन्तु तू इस मन को किस प्रकार धोएगा जो पाप मल से मलिन है :—

तित्थइं तित्थ भमेहि वढ़ धोयउ चम्मु जलेण।
एहु मणु किम धोएसि तुहुँ मइलउ पावमलेण ॥१६३॥

(पाहुड़दोहा, पृ० ४८)

तीर्थ स्नान के ही समान जप, तप, व्रत, छापा, तिलक आदि की भी समान रूप से निन्दा की गई है। कबीर ने कहा है कि जिसके हृदय में दूसरा ही भाव है, उसके लिए क्या जप, क्या तप और क्या पूजा ?

किआ जपु किआ तपु किआ व्रत पूजा।
जाकै हिरदै भाउ है दूजा ॥१॥

(संत कबीर, पृ० ८)

योगीन्दु मुनि ने भी कहा था कि व्रत, तप, संयम और शील आदि तो सांसारिक व्यवहार मात्र हैं। मोक्ष का कारण तो एक परमतत्व है, जो तीनों लोकों का सार है :—

वउ तउ संजमु सील जिम इउ सव्वइं ववहारु।
मोक्खहं कारणु एक्कु मुणि जो तइलोयहं सारु ॥३३॥

(योगसार, पृ० ३७८)

प्रायः सभी साधक अपने अनुभव से इस निष्कर्ष पर पहुंचे थे कि जो परमसत्य है, उसकी जानकारी ऐन्द्रिय ज्ञान से सम्भव नहीं, बुद्धि वहाँ तक पहुंचने के पूर्व ही थक जाती है। अतएव शास्त्रों के अध्ययन मात्र से ब्रह्मानुभूति नहीं हो सकती, तर्कणा शक्ति भले ही बढ़ जाय। इसीलिए इन संत कवियों ने 'पुस्तक लेखी की अपेक्षा अनुभव देखी' बात पर अधिक बल दिया है, षड्दर्शन के झमेले में न पड़कर स्वसंवेदन ज्ञान का सहारा लिया है। इस विषय में कबीर और मुनि रामसिंह ऐसे एकमत हैं कि लगता है कबीर ने 'दोहापाहुड़' के भाव को ही अपनी भाषा में कह दिया है। एक उदाहरण देखिए :—

मुनि रामसिंह : बहुयइं पढ़ियइं मूढ़ पर तालू सुक्कइ जेण।
एक्कु जि अक्खरु तं पढ़हु सिवपुरि गम्मइ जेण ॥९७॥

(पाहुड़दोहा, पृ० ३०)

कबीर : पोथी पढ़ि पढ़ि जग मुवा, पंडित भया न कोय।
एकै अषिर पीव का, पढ़ै सु पंडित होय ॥४॥

(कबीर ग्रन्थावली, पृ० ३९)

जैनों का परमात्मा और कबीर का ब्रह्म :

आत्मा परमात्मा के संबंध में भी कबीर के विचार बहुत कुछ जैन कवियों के समान ही हैं। अन्तर केवल इतना ही है कि जैन मत में अनेक आत्मा अनेक ब्रह्म बन जाते हैं और कबीर के मत से अनेक आत्मा एक ही ब्रह्म के अनेक रूप हैं। लेकिन आत्मा और परमात्मा में कोई तात्विक भेद नहीं। दोनों एक हैं। यह दोनों की ही धारणा है। जैन कवियों ने जोर देकर कहा है कि आत्मा कर्म कलंक से विमुक्त होकर परमात्मा बन सकता है और कबीर भी कहते हैं कि आत्मा और परमात्मा एक ही हैं। दृष्टान्तों द्वारा उन्होंने पूर्णतः स्पष्ट कर दिया है कि आत्मा और परमात्मा की एकता दो भिन्न वस्तुओं की सामान्यधर्मिता ही नहीं, प्रत्युत् पूर्ण एकता है। वह दो की एकता नहीं, एक की ही एकता है। जैसे जलाशय के भीतर डूबे हुए घड़े के भीतर और बाहर एक ही जल है, जैसे दर्पण का प्रतिबिम्ब अपने बिम्ब से भिन्न नहीं है और जैसे घट के भीतर के आकाश और बाहर दसों दिशाओं में फैले हुए आकाश में कोई अन्तर नहीं है, उसी प्रकार सर्वव्यापक परमात्मा तथा इस शरीर के भीतर का आत्मा दोनों एक ही हैं। जैसे बाह्य व्यवधानों के दूर होने पर जलादि एक हो जाते हैं, उसी प्रकार शरीरजन्य कर्मों के समाप्त हो जाने पर आत्मा परमात्मा का प्रतीत होने वाला भेद भी समाप्त हो जाता है।[1] यह भेद ग्रन्थों के अध्ययन से समाप्त नहीं हो सकता। इसके लिए तो चित्त की शुद्धि आवश्यक है और गुरु की कृपा। इसीलिए इन साधना पंथों में गुरु को गोविन्द से भी बड़ा स्थान मिला है। जब आत्मा और परमात्मा एक ही है और आत्मा का वास शरीर में ही है तो परमात्मा को खोजने के लिए कहीं बाहर जाने की आवश्यकता नहीं, मन्दिर मस्जिद में भटकने से लाभ नहीं। उसका दर्शन तो अपने अन्तर में ही करना चाहिए। इसीलिए कबीर और सभी जैन कवियों ने देवालय में जाने का निषेध कर, देह-देवालय में स्थित देव का दर्शन करने पर जोर दिया हैं। कबीर कहते हैं :--

---

१. जल में कुंभ कुम्भ में जल है बाहर भीतर पानी।
फूटा कुम्भ जल जलहि समाना यहु तत कथौ गियानी॥

× × ×

ज्यूं बिंबहिं प्रतिबिम्ब समाना उदिक कुम्भ बिगराना।
कहै कबीर जानि भ्रम भागा, सीवहि जीव समाना॥

× × ×

आकाश गगन पाताल गगन दसौ दिस गगन कहाई लै।
आनन्द मूल सदा परसोतम, घट बिनसै गगन समाई लै॥

'अंब्या निकटि जु घट रहिओ दूरि कहा तजि जाइ।
जा कारणि जग ढूढ़िअउ, नेरउ पाइअउ ताहि ॥१६॥
(सन्त कबीर, पृ० ८०)

कबीरदास शरीर स्थित देव को समझाने के लिए कभी तो उसे मृग के शरीर में विद्यमान कस्तूरी के समान बताते हैं और कभी उसे शरीर रूपी सरोवर में कमल के समान विकसित कहते हैं :—

सरीर सरोवर भीतरै आछै कमल अनूप।
परम जोति पुरखोतमां जाकै रेख न रूप॥
(सन्त कबीर, पृ० १६१)

इसी प्रकार योगीन्दु मुनि ने बहुत पहले ही कहा था अनादि अनन्त ब्रह्म का वास देह रूपी देवालय में ही है (परमात्मप्रकाश १।३३)। शरीर में स्थित होने पर भी उसे हरिहर भी नहीं जान पाते (परमात्मप्रकाश १।४२)। मुनि रामसिंह भी कहते हैं कि देह रूपी देवालय में जो शक्ति सहित वास करता है, वह शिव कौन है ? इस भेद को जान (पाहुड़दोहा, दो० नं० ५३)।

इस अनन्त तत्व को यद्यपि जैन कवियों और कबीर ने अनेक सम्बोधनों से पुकारा है, उसे शिव, विष्णु, राम, केशव आदि कहा है, किन्तु दोनों को अवतारवाद में विश्वास नहीं है। दोनों का आराध्य निर्गण, निराकार, अलख और सभी विशेषणों से परे है। जिस प्रकार योगीन्दु मुनि ने कहा था कि निरञ्जन तत्व वह है, जिसका कोई वर्ण नहीं, गन्ध नहीं, रस नहीं, शब्द नहीं, स्पर्श नहीं, जिसका न जन्म होता है और न मरण, जो क्रोध, मोह, मद और मान आदि से विवर्जित है (परमात्मप्रकाश, पृ० २७-२८) उसी प्रकार कबीर का 'राम' भी सगुण-निर्गुण से परे है, रूपरेख हीन है, वेद-विवर्जित, भेद-विवर्जित, पाप-पुन्य-विवर्जित, ग्यान-विवर्जित, ध्यान-विवर्जित और भेष विवर्जित है :—

राम कै नांइ नींसांन बाबा, ताका मरम न जानैं कोई।
भूख त्रिषा गुण वाके नांहीं, घट घट अंतरि सोई ॥टेक॥
बेद बिबर्जित भेद बिबर्जित बिबर्जित पाप रु पुन्यं।
ग्यान बिबर्जित ध्यान बिबर्जित, बिबर्जित अस्थूल सुन्यं॥
भेष बिबर्जित भीख बिबर्जित, बिबर्जित ड्यंभक रूपं।
कहै कबीर तिहूं लोक बिबर्जित, ऐसा तत्त अनूपं ॥२२०॥
(कबीर ग्रन्थावली, पृ० १६२)

आत्मा परमात्मा की इस अद्वय स्थिति का और चित्त के परमात्मा में लीन होने की सामरस्य दशा का वर्णन मुनि रामसिंह और कबीर दोनों ने एक ही ढंग से किया है। मुनि रामसिंह ने कहा है कि जब चित्त जल में नमक के समान विलीन (विशेष रूप से लीन) हो जाता है और जीव समरसता

की दशा को प्राप्त हो जाता है तो किसी अन्य समाधि की आवश्यकता नहीं रह जाती :—

'जिमि लोणु विलिज्जइ पाणियहं तिम जइ चित्त विलिज्ज।
समरसि हूवइ जीवडा काहं समाहि करिज्ज।।१७६।।

कबीरदास ने भी 'सामरस्य' का वर्णन करते हुए नमक-पानी का ही दृष्टान्त दिया है, हाँ 'चित्त' के स्थान पर 'मन' के लीन होने की बात की है : —

मन लागा उनमन सौं, उनमन मनहि विलग।
लूंण बिलगा पांणयां, पांणीं लूंण बिलग।।१६।।

अर्थात् जब मन परमतत्व से मिल गया और परमतत्व मन मे, दोनों जल-नमकवत् समरस हो गए तो द्वैत भाव रहा ही कहां ?

कबीर और सन्त आनन्दघन :

१७ वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में एक प्रसिद्ध मर्मी जैन सन्त आनन्दघन हो गए हैं। इनकी विचार पद्धति और रचना शैली को देख कर सहज ही कहा जा सकता है कि ये कबीर की श्रेणी के हैं। आनन्दघन के अनेक पदों और साखियों को देखकर कबीर के पद और साखी होने का भ्रम हो जाता है- नहीं, भ्रम हो गया है और 'आनन्दघन बहोत्तरी' में कई ऐसे पद संग्रहीत कर दिए गए हैं, जो वस्तुतः कबीर के हैं। सन्त आनन्दघन पूर्ण कबीरवादी हैं। कबीर के ही समान आपने आत्मा-परमात्मा की प्रणयानुभूति की चर्चा की है, आत्मा की वियोग दशा का वर्णन किया है, माया की शक्ति का चित्रण किया है, उलटवासियाँ और साखी लिखा है, हिन्दू-मुस्लिम ऐक्य की बात कही है और कबीर के ही समान 'अवधू' या 'साधू' को सम्बोधित कर उपदेश दिया है। सम्भवतः कबीर का कोई शिष्य या अनुयायी भी साधना के उस उच्च सोपान को नहीं पहुंच सका है और न किसी का काव्य ही उतने उच्च कोटि का बन सका है, जिस स्थान को सन्त आनन्दघन पहुंचे हैं या जैसा काव्य इनका है। यदि इनके नाम से 'जैन' विशेषण हटा दिया जाय अथवा इनकी रचनाओं को कबीर की बानी के साथ रख दिया जाय तो सन्त आनन्दघन सीधे हिन्दी सन्त कवियों की परम्परा में आ जाएँगे।

आत्मा-परमात्मा प्रिय-प्रेमी के रूप में :

रहस्यवादी कवियों ने प्रायः आत्मा-परमात्मा के सम्बन्ध का वर्णन प्रिय-प्रेमी के रूप में किया है और इससे बढ़कर अन्य सुन्दर सम्बन्ध की कल्पना भी तो नहीं हो सकती। एक विद्वान् ने ठीक ही लिखा है कि 'लोक में आनन्द शक्ति का सबसे अधिक स्फुरण दाम्पत्य संयोग में होता है, ऐसे संयोग में जिनमें दो की पृथक् सत्ता कुछ समय के लिए एक ही अनुभूति में विलीन हो जाती है। आनन्द-

स्वरूप विश्वसत्ता के साक्षात्कार का आनन्द इसी कारण अनायास लौकिक दाम्पत्य प्रेम के रूपकों में प्रकट हो जाता है।'[1] कबीरदास रामदेव के संग अपना व्याह रचाते हैं, तन, मन से श्रृङ्गार करते हैं, सखियाँ मंगल गीत गाती हैं, तेंतीसो कोटि देवता और अठासी सहस्र मुनि बराती बन कर आते हैं। ऐसे प्रियतम को प्राप्त करके कबीर अहर्निश उन्हीं में अपने को लीन कर देना चाहते हैं। प्रिय का क्षण मात्र का वियोग कबीर को सहन नहीं। लेकिन वह प्रियतम सदैव कबीर के समक्ष रहता भी कहाँ है? ऐसा सौभाग्य तो किसी का ही होता है। अतएव कबीर उसे उपालम्भ देते हैं, अपनी विरह वेदना का निवेदन करते हैं। बालम के बिना कबीर की आत्मा तड़प रही है। दिन को चैन नहीं, रात को नींद नहीं। सेज सूनी है, तड़पते ही रात बीत जाती है, आँखें थक गई हैं, मार्ग भी नहीं दिखाई पड़ता। फिर भी बेदर्दी साँई सुध नहीं लेता[2] मार्ग देखते देखते आँखों में भी झाँई पड़ गई, नाम पुकारते पुकारते जिह्वा में छाला पड़ गया है, फिर भी निष्ठुर पसीजता नहीं।[3] उसको पत्र भी लिखा जाय तो कैसे? पत्र तो उसको लिखा जाता है, जो विदेश में हो, लेकिन वह तो तन में, मन में और नेत्रों में समा गया है, उसको सन्देश कैसे दिया जाय?[4] यदि कहीं सन्देश भेजना सम्भव होता, तब तो कबीर इस शरीर को ही जला कर स्याही बनाते और हड्डियों की लेखनी से पत्र लिख लिख कर भेजते।[5] अब

---

१. पुरुषोत्तम लाल श्रीवास्तव—कबीर साहित्य का अध्ययन, पृ० ३७२।

२. तलफै बिन बालम मोर जिया।
दिन नहिं चैन रात नहिं निंदिया,
तलफ तलफ के भोर किया।
तन मन मोर रहँट अस डोलै,
सून सेज पर जनम छिया॥
नैन थकित भए पन्थ न सूझै,
सांई बेदरदी सुध न लिया।
कहत कबीर सुनो भाई साधो,
हरो पीर दुख जोर किया॥ १७३॥
(कबीर, पृ० ३२९)

३. अँखियाँ तो झाँई परी, पन्थ निहारि निहारि।
जीहड़िया छाला पड्या, नाम पुकारि पुकारि॥ १॥
(कबीर, पृ० ३३१)

४. प्रीतम को पतिया लिखूँ, जो कहुँ होय विदेस।
तन में मन में नैन में, ताको कहा संदेस॥ २॥
(कबीर, पृ० ३३०)

५. यहु तन जालौं मसि करौं, लिखौं राम का नाउं।
लेखणि करूँ करंक की, लिखि लिखि राम पठाउं॥ ३॥
(कबीर, पृ० ३४१)

ऐसी विषम स्थिति में पिया बिना बिरहिणी जीवित भी कैसे रहेगी ? जीवन का कोई आधार भी तो चाहिए। यहाँ तो न दिन को भूख है न रात को सुख। आत्मा जल विहीन मीन के समान तड़प रही हैं।[1] हाय कबीर के वे दिवस कब आवेंगे ? जब उनका जीवन सफल होगा, जब शरीर धारण करने का फल प्राप्त होगा, जब प्रिय के अंग से अंग लगाकर आलिंगन का अवसर मिलेगा, जब उनके तन मन प्राण-प्रियतम से एकरूप हो जाएँगे। न जाने वह दिवस कब आएगा ?[2] और सौभाग्य से जब वह दिवस आ गया तो कबीर नेत्रों की कोठरी में पुतली की पलंग बिछाकर पलकों की चिक डालकर प्रिय को रिझाने में पूरी शक्ति लगा देते हैं।[3] अब उनका प्रियतम उनसे कदापि दूर नहीं जा सकता। कबीर उसे जाने ही नहीं देंगे, क्योंकि अनन्त वियोग के पश्चात् बड़े भाग्य से कबीर ने घर बैठे ही उनको प्राप्त किया है। अब तो प्रिय को प्रेम प्रीति में ही उलझा रक्खेंगे और उसके चरणों से लग जायेंगे।[4]

सन्त आनन्दघन कबीर से पूर्णरूप से प्रभावित हैं। वे भी इसी ढंग से आत्मा परमात्मा के संबन्ध का वर्णन करते हैं। उनकी आत्मा भी कभी प्रियतम से मान करती है (पद १८), कभी उसकी प्रतीक्षा करती है (पद १६), कभी मिलन की आतुरता से व्यग्र हो उठती है (पद ३३), कभी अपनी विरहव्यथा

---

१. कैसे जीवैगी बिरहिनी पिया बिन, कीजै कौन उपाय।
दिवस न भूख रैन नहिं सुख है, जैसे करि युग जाय ॥ १८६ ॥
(कबीर, पृ० ३३४)

२. वै दिन कब आवैंगे भाई ॥
जा कारनि हम देह धरी है।
मिलिबो अंग लगाई ॥

३. नैनों की करि कोठरी, पुतरी पलंग बिछाय।
पलकों की चिक डारि कै, पिया को लिया रिझाय ॥
(कबीर, पृ० ३३०)

४. अब तोहिं जान न देहूँ राम पियारे।
ज्यूँ भावै त्यूँ होहु हमारे ॥
बहुत दिनन के बिछुरे हरि पाए।
भाग बड़े घर बैठे आए ॥
चरननि लागि करौं बरियाई।
प्रेम प्रीति राखौं उरझाई ॥
इत मन मन्दिर रहौ नित चोपै।
कहै कबीर परहु मति धोपै ॥ २८१ ॥
(कबीर, पृ० ३३२)

का निवेदन करती है (पद ४१, ४७), कभी प्रिय की निष्ठुरता पर उपालम्भ देती है (पद ३२) और कभी प्रिय मिलन से आनन्दित हो अपने 'सुहाग' (सौभाग्य) पर गर्व करतो है (पद २०)। प्रिय के वियोग में सन्त आनन्दघन की आत्मा अपनी सुध बुध खो चुकी है, नेत्र दुःख-महल के झरोखे में झूल रहे हैं,[1] भादों की रात्रि कटारी के समान हृदय को छिन्न-भिन्न किए डाल रही है, प्रियतम की रट लगी हुई है।[2] विरह रूपी भुवंग सेज को खूंदता रहता है, भोजन पान की तो बात ही समाप्त हो चुकी है। लेकिन इस दशा का निवेदन किया किससे जाय ?[3] प्रिय सुनता ही नहीं। इसीलिए आनन्दघन की आत्मा उपालम्भ देती है कि 'हे प्रिय ! तुम इतने निष्ठुर कैसे हो गए ? मैं मन, वाणी, कर्म से आपकी हो चुकी और आपका यह उपेक्षाभाव। आप पुष्प पुष्प पर मंडराने वाले भ्रमर का अनुकरण कर रहे हैं। इससे प्रीति का निर्वाह कैसे हो सकता है ? मैं तो प्रिय से एकमेक हो चुकी हूं, जैसे कुसुम के संग वास। मेरी जाति नीच भले ही हो। किन्तु हे प्रिय ! अब तुम्हें गुण अवगुण का विचार नहीं करना चाहिए।[4] यह प्रिय जब आनन्दघन पर कृपा करके दर्शन देता है और उनकी आत्मा को अपनी सहचरी बना लेता है तब वे कह उठते हैं कि हे अवधू ! नारी आज सौभाग्यवती हुई है। मेरे नाथ ने आज स्वयं कृपा किया है, अतएव मैंने सोलहों शृंगार किया है। झीनी सारी में प्रेम प्रतीति का राग झलक रहा है, भक्ति की मेंहदी लगी हुई है, श्रेष्ठ भावों का सुखकारी अंजन शोभायमान है, 'सहज स्वभाव' की चूड़ियाँ धारण किया है, स्थिरता का कंकन पहन रक्खा है, ध्यान रूपी उर्वशी (आभूषण विशेष) उत्तर प्रदेश पर सुशोभित

---

१. पिया बिन सुधि बुधि भूली हो।
आँख लगाई दुःख महल के झरूँखै झूली हो ॥ ४१ ॥
(आनन्दघन बहोत्तरी, पृ० ३७५)

२. भादूँ की राति काती सी बहै, छाती छिन छिन छीना।
प्रीतम सब छबि निरख के हो, पीउ पीउ पिउ कीना ॥ ५१ ॥
(आनन्दघन बहोत्तरी, पृ० ३७९)

३. पिया बिन सुध बुध मूंदी हो।
विरह भुवंग निसा समै, मेरी सेजड़ी खूंदी हो।
भोयण पान कथा मिटी, किसकूँ कहुँ सुद्धी हो ॥६२॥
(पृ० ३८४)

४. पिया तुम निठुर भए क्यूं ऐसे।
मैं मन बच क्रम करी राउरी, राउरी रीति अनैसें ॥
फूल फूल भंवर कैसी भाउंरी भरत हौ निबहै प्रीति क्यूं ऐसें।
मैं तो पिय तें ऐसि मिली आली कुसुम बास संग जैसें ॥
ओछी जात कहा पर एती, नीर न हैयै मैंसें।
गुन अवगुन न विचारौ आनन्दघन, कीजियै तुम हो तैसें ॥३२॥

है, सुरति का सिंदूर लगा है, निरति की वेणी संवारी गई है, अन्तर में अजपा की अनहद ध्वनि निनादित हो रही है और आनन्द के घन की झड़ी लगी हुई है।[1]

ब्रह्म का स्वरूप :

आनन्दघन का ब्रह्म भी कबीर के ब्रह्म के समान निर्गुण, निराकार, अलख, निरंजन और अज है। अनन्त है उसकी महिमा और अनन्त हैं उसके नाम रूप। कबीरदास उसे यदा कदा राम, कृष्ण, गोविन्द, केशव, माधव आदि पौराणिक नामों से भी पुकारते हैं। किन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं कि वे सगुणवाद के समर्थक हैं अथवा ब्रह्म के स्वरूप के सम्बन्ध में उनकी कोई निश्चित धारणा नहीं। वस्तुतः किसी भी प्रकार की संकीर्णता उनको मान्य नहीं। वे अपने इष्टदेव को किसी भी नाम से, चाहे वह सगुणवाची हो या निर्गुणवाची, पुकारने में संकोच या हिचक का अनुभव नहीं करते। वैसे उनके सम्बन्ध में किसी को भ्रम न हो, इसलिए उन्होंने अपने आराध्य के विषय में स्पष्टीकरण भी कर दिया है। उन्होंने घोषणा कर दिया है कि उनका 'अल्लाह' अलख निरंजन देव है, जो हर प्रकार की सेवा से परे है, उनका 'विष्णु' वह है जो सर्वव्यापक है, 'कृष्ण' वह है, जिसने संसार का निर्माण किया है, 'गोविन्द' वह है जो ब्रह्माण्ड में व्याप्त है, 'राम' वह है जो युग-युग से रम रहा है, 'खुदा' वह है जो दसों द्वारों को खोल देता है, 'रब' वह है जो चौरासी लाख योनियों का रक्षक है, 'करीम' वह है जो सभी कार्य कर रहा है, 'गोरख' वह है जो ज्ञान से गम्य है, 'महादेव' वह है जो मन की जानता है। इस प्रकार अनन्त हैं उसके नाम, अपार है उसकी महिमा।[2] सन्त आनन्दघन ने भी लगभग कबीर के ही शब्दों में 'ब्रह्म' के स्वरूप का विश्लेषण किया है। एकाध पदों में उन्होंने पौराणिक शब्दावली का भी प्रयोग किया है। वे कभी ब्रजनाथ के समक्ष अपनी दीनता व्यक्त करते हैं (पद ६३)

---

१. आज सुहागन नारी, अवधू आज०।
मेरे नाथ आप सुध लीनी, कीनी निज अंगचारी।
प्रेम प्रतीत राग रुचि रंगत, पहिरे झीनी सारी।
मँहिदी भक्ति रंग की राची, भाव अंजन सुखकारी।
सहजसुभाव चुरी मैं पैन्ही, थिरता ककन भारी।
ध्यान उरवसी उर में राखी, पिय गुनमाल अधारी।
सुरत सिन्दूर माँग रंगराती, निरतै वेनि समारी।
उपजी ज्योति उद्योत घट त्रिभुवन आरसी केवल कारी।
उपजी धुनि अजपा की अनहद, जीत नगारेवारी।
झड़ी सदा आनन्दघन बरसत, वन मोर एकनतारी ॥२०॥
(आनन्दघन बहोत्तरी, पृ० ३६५)

२. कबीर ग्रन्थावली, पद १२७, पृ० १६६।

और कभी वंशीवाले से दिल लगने की कहानी कहते हैं (पद ५३) । किन्तु इसका तात्पर्य उनके द्वारा अवतारवाद का समर्थन नहीं हो जाता । वस्तुतः उनका मत है कि 'ब्रह्म' एक है, उसे राम कहो या रहमान, कृष्ण कहो या महादेव, पार्श्वनाथ कहो या ब्रह्मा । जिस प्रकार एक मृत्तिका पिण्ड से नाना प्रकार के पात्र बनते हैं, उसी प्रकार एक अखण्ड तत्व में अनेक भेदों की कल्पना का आरोप कर लिया जाता है । वास्तव में जो निज पद में रम रहा है वही 'राम' है, जो रहम करता है वह 'रहमान' है, जो कर्मों को मिटाता है वह 'कृष्ण' है, जो निर्वाण प्राप्ति में साधक है वही 'महादेव' है जो ब्रह्म रूप का स्पर्श करता है वही 'पारसनाथ' है और जो ब्रह्म को जानता है वही ब्रह्म है । यही है कर्मों से अलिप्त चेतनमय परमतत्व के स्वरूप की झाँकी ।[1]

अनिर्वचनीयता :

वास्तविकता यह है कि ब्रह्म का कोई एक निश्चित नाम नहीं है, उसका कोई निश्चित स्वरूप भी नहीं है । साधक किसी विधि से उसके नाम रूप का परिचय देना चाहता है । इसीलिए सभी सम्भव नामों का प्रयोग करता है । लेकिन अन्त में वह भी ब्रह्म की अनन्तता और उसके स्वरूप की अनिर्वचनीयता को स्वीकार कर लेता है और साफ-साफ कह देता है कि वह अनुभव का विषय है, वाणी की शक्ति के परे है । कबीरदास इसीलिए उसे 'गूँगे का गुड़' कहते हैं, क्योंकि उसका वर्णन कैसे किया जाय ? जो दिखाई पड़ता है, वह ब्रह्म है नहीं और वह जैसा है, उसका वर्णन सम्भव नहीं, क्योंकि वह न दृष्टि में आ सकता है न मुष्टि में ।[2] सन्त आनन्दघन भी अन्त में इसी निष्कर्ष

---

१. राम कहो रहमान कहो कोउ, कान कहो महादेव री ।
पारसनाथ कहो कोउ ब्रह्मा, सकल ब्रह्म स्वयमेव री ।
भाजन भेद कहावत नाना, एक मृत्तिका रूप री ।
तैंसे खण्ड कल्पना रोपित, आप अखण्ड सरूप री ।
निज पद रमे राम सो कहिए, महादेव निर्वाण री ।
करसे करम कान सो कहिए, महादेव निर्वाण री ।
परसे रूप पारस सो कहिए, ब्रह्म चिन्हे सो ब्रह्म री ।
इह विध साधो आप आनन्दघन, चेतनमय निःकर्म री ॥६७॥
(आनन्दघन बहोत्तरी, पृ० ३८८)

२. बाबा अगम अगोचर कैसा, ताते कहि समुझावौं ऐसा ।
जो दीसै सो तो है वो नाहीं, है सो कहा न जाई ।
सैना बैना कहि समुझाओं, गूंगे का गुड़ भाई ।
दृष्टि न दीसै मुष्टि न आवै, बिनसै नाहि नियारा ।
ऐसा ग्यान कथा गुरु मेरे, पण्डित करो विचारा ॥
(कबीर, पृ० १२६)

पर पहुँचते हैं। वे कहते हैं 'तेरी' (ब्रह्म की) निसानी कैसे बताऊँ? तेरा रूप वाणी से अगोचर है। अरूप तत्व को रूप की सीमा में कैसे बाँधा जा सकता है? तुम्हें 'रूपारूपी' (रूप और अरूप) दोनों कहना भी संगत नहीं होगा। यदि सिद्ध सनातन तत्व कहूँ, तो उपजता विनसता कौन है? और यदि उत्पन्न होने वाला तथा विनाशकारी कहूँ, तो नित्य और शाश्वत कौन है? वस्तुतः तुम अनुभव के विषय हो, कथन श्रवण की सीमा के परे।[1]

माया :

यह शब्दातीत, गुणातीत और अनुभवैकगम्य परमतत्व ही कबीर और सन्त आनन्दघन दोनों का उपास्य है। इसके लिए किसी बखेड़े की जरूरत नहीं, वेद, कुरान के प्रमाण की आवश्यकता नहीं और हिन्दू या मुसलमान धर्म की बाह्य संकीर्णता में फँसना श्रेयस्कर नहीं। इस मार्ग के पथिक के लिए चित्त की शुद्धि और मन तथा इन्द्रियों का नियन्त्रण ही परम काम्य है तथा जागतिक प्रपंचों से अनासक्त होने की आवश्यकता है, क्योंकि माया या अविद्या ही भ्रम का कारण है। माया के वश में होकर ही जीव संसार में भ्रमण करता रहता है। माया के पाश को छिन्न करके योगी मुक्त होते हैं या मोक्ष प्राप्त करते हैं। इसीलिए कबीरदास ने बार बार माया से बचने का उपदेश दिया है। उसे चाण्डालिनि, डोमिनि और सांपिन आदि कहा है। उसी के प्रभाव से ब्रह्मा, विष्णु और महेश च्युत हुए हैं, नारद और श्रृङ्गी महर्षि भी पथ भ्रष्ट हुए हैं। माया ने न जाने कितने मुनिवरों, पीरों, वेदान्ती-ब्राह्मणों एवं शाक्तों का शिकार किया है।[2] उसने अपने नागपाश से पूरे विश्व को बाँध रक्खा है। सन्त आनन्दघन भी माया को कबीर के समान ही ठगिनी मानते हैं और उससे सावधान रहने का उपदेश देते हैं। उनके ऐसे एक पद पर कबीर का पूरा प्रभाव ही नहीं है, अपितु उसकी सात पक्तियाँ, एक दो शब्दों के हेर-फेर के साथ कबीर के पद से ही लेली गयी हैं। पद इस प्रकार है : –

---

१. निशानी कहा बताऊँ रे, तेरो वचन अगोचर रूप।
रूपी कहूँ तो कछू नाहीं रे, कैसे बँधै अरूप।
रूपारूपी जो कहूँ प्यारे, ऐसे न सिद्ध अनूप।
सिद्ध सरूपी जो कहूँ रे, बन्धन मोक्ष विचार॥

× × ×

सिद्ध सनातन जो कहूँ रे, उपजै विणसै कौण।
उपजै विणसै जो कहूँ प्यारे, नित्य अबाधित गौन॥ २१॥
(आनन्दघन बहोत्तरी, पृ० ३६५-६६)

२. कबीर ग्रन्थावली, पृ० १५१, पद १८७।

अवधू ऐसो ज्ञान विचारी, वामें कोण पुरुष कोण नारी।
बम्भन के घर न्हाती धोती, जोगी के घर चेली।
कलमा पढ़ पढ़ भई रे तुरकड़ी, तो आप ही आप अकेली॥
ससरो हमारो बालो भोलो, सासू बाल कुँवारी।
पियजू हमारे प्होढ़े पारणिए, तो मैं हूँ भुलावनहारी॥
नहीं हूँ परणी, नहीं हूँ कुँवारी, पुत्र जणावन हारी।
काली दाढ़ी को मैं कोई नहीं छोड्यो, तो हजुए हूँ बाल कुँवारी॥
अढी द्वीप में खाट खटूली, गगन उशीकुं तलाई।
धरती को छेड़ो, आम की पिछोड़ी, तोमन सोडभराई॥
गगन मंडल में गाय बिआणी, वसुधा दूध जमाई।
सउ रे सुनो माइ वलोणूँ बलोवे, तो तत्व अमृत कोई पाई॥
नहीं जाऊँ सासरिये ने नहीं जाऊँ पीहरिये, पियजू की सेज बिछाई।
आनदघन कहै सुना भाई साधु, तो ज्योत से ज्योत मिलाई॥ ६८॥[1]

(आनन्दघन बहोत्तरी, पृ० ४०३-४०४)

बनारसीदास और संत सुन्दरदास :

बनारसीदास और संत सुन्दरदास समवर्ती थे। दोनों ही उच्च कोटि के अध्यात्मवादी थे। दोनों के मिलन की भी बात कही जाती है। यद्यपि इस प्रकार की भेंट का उल्लेख 'अर्ध कथानक' तक में नहीं मिलता है, तथापि दोनों के परिचय की संभावना में शंका नहीं व्यक्त की जा सकती। संत सुन्दरदास ने अधिक दिनों तक काशी में रहकर अध्ययन किया था। इसके पश्चात् उन्होंने दिल्ली, उत्तर प्रदेश, राजस्थान और पंजाब आदि प्रदेशों के अनेक स्थानों का भ्रमण किया था। बहुत संभव है इस यात्रा काल में उनकी भेंट बनारसीदास से हुई हो और दोनों में अध्यात्म चर्चा भी हुई हो। मोतीलाल मेनारिया का तो यह कहना है कि "इनका (संत सुन्दरदास) नियम था कि जिस स्थान पर जाते वहाँ के साधु महात्माओं से अवश्य मिलते थे। उनके सत्संग से लाभ उठाते और अपने सदुपदेशों से उन्हें लाभान्वित करते थे। अपनी गुणग्राहकता के कारण दादूपंथियों के सिवा इतर धर्मावलम्बी भी इन्हें बड़ी श्रद्धा की दृष्टि

---

१. मिलाइए, कबीर का पद इस प्रकार है :—

अवधू ऐसा ग्यांन विचारी, तार्थं भई पुरिष थैं नारी॥ टेक॥
नां हूँ परनीं नां हूँ क्वारी, पूत जन्यूँ द्यौ हारी।
काली मूण्ड कौ एक न छोड्यौ अजहूँ अकन कुवारी॥
बाम्हन कै बम्हनेटी कहियौ, जोगी के घर चेली।
कलमां पढि पढि भई तुरकनीं, अजहूँ फिरौं अकेली॥
पीहरि जांउं न रहूँ सासुरै, पुरषहि अंगि न लांऊं।
कहै कबीर सुनहु रे सन्तौ, अंगहि अंग न छुवांऊं॥ २३१॥

(कबीर ग्रन्थावली, पृ० १६६)

से देखते और इनकी ज्ञान गरिमा, साधुता तथा रचना पाटव की बड़ी सराहना करते थे।"[1] ऐसी स्थिति में दोनों के सत्संग का अनुमान सहज ही लगाया जा सकता है।

शरीर, आत्मा, ब्रह्म, जगत आदि के सम्बन्ध में दोनों के विचार बहुत कुछ मिलते जुलते हैं। अन्तर केवल इतना है कि बनारसीदास ने जैन दर्शन की शब्दावली का प्रयोग किया है और संत सुन्दरदास ने सीधे ढंग से या उपनिषदों की शब्दावली में वही बात कही है। जैसे, शरीर और आत्मा एक दूसरे से भिन्न हैं। शरीर जड़ है और आत्मा चेतन। शरीर नाशवान है और आत्मा अमर। लेकिन भ्रम से लोग शरीर को ही आत्मा जान लेते हैं और शरीरजन्य सुख दुःखों को आत्मा के सुख दुख मान लेते हैं। इस तथ्य पर दोनों सहमत हैं। बनारसीदास कहते है कि चेतन और पुद्गल अनादि काल से एक दूसरे में ऐसे मिल गए हैं जैसे तिल में तेल और खली। जैसे लोहा चुम्बक की ओर आकृष्ट होता है वैसे ही आत्मा (बहिरात्मा) शरीर के रस से ही लिपटता रहता है। परिणाम यह होता है कि जड़ (शरीर) ही प्रत्यक्ष रूप से दिखाई पड़ता है और चेतन आत्मा की सत्ता पर पर्दा पड़ जाता है। इस विषम स्थिति को तो केवल सुविचक्षण जन ही जान पाते हैं, अन्य लोग जड़ में ही चैतन्य भाव का आरोप कर लेते हैं।[2] लेकिन वस्तु स्थिति यह है कि जिस प्रकार घट स्थित घी को घट कह देने मात्र से घी घट नहीं हो जाता, वैसे ही वर्ण आदि नामों से जीव जड़ता (शरीरत्व) को नहीं प्राप्त हो जाता है।[3] जिस प्रकार तृण, काठ, बाँस तथा अन्य जंगली लकड़ी के जलते सयय अग्नि विविध प्रकार की दिखाई पड़ती है, किन्तु सभी रूपों में अग्नि का दाहकता का गुण विद्यमान रहता है, उसी प्रकार जीव विभिन्न शरीरों में भिन्न-भिन्न आकार का प्रतीत होता है, किन्तु उस चेतन तत्व के वास्तविक स्वरूप का ज्ञान होने पर सभी में एक ही अलख और अभेद तत्व का दर्शन होता है।[4] संत सुन्दरदास भी अग्नि की ही उपमा देते हुए कहते हैं कि जिस प्रकार पावक काठ के संयोग से काठ रूप हो जाती है और दीर्घ काठ में दीर्घ रूप तथा चौड़ी काठ में चौड़ी दिखाई पड़ती है, किन्तु जब सम्पूर्ण काठ भस्म होकर अग्नि में परिणत हो जाती है तो पूरी अग्नि एक ही रूप में दिखाई पड़ती है, उसी प्रकार प्रत्येक शरीर में विद्यमान आत्मा को पागल पुरुष जान नहीं पाते।[5] परिणाम यह होता है कि शरीर की

---

१. राजस्थानी भाषा और साहित्य, पृ० २२२।

२. बनारसी विलास (अध्यात्म बत्तीसी), पृ० १४४।

३. ज्यों घट कहिए घीव को, घट को रूप न घीव।
त्यों बरनादिक नाम सौं, जड़ता लहै न जीव ॥६॥
(नाटक समयसार, पृ० ७७)

४. नाटक समयसार, पृ० ३६।

५. जैसेंहि पावक काठ के योग तें, काठ सो होय रह्यौ इकठौरा।
दीरघ काठ मैं दीरघ लागत, चौरे से काठ में लागत चौरा॥

पुष्टता-दुर्बलता, शीत-ताप और सुरूपता-कुरूपता को आत्मा के साथ जोड़ देते हैं। यह आत्मा ही परमात्मा बन जाता है, इसे सभी जैन कवि बहुत पहले से कहते आए हैं। संत सुन्दरदास भी आत्मा और ब्रह्म की अद्वयता में विश्वास करते हैं। अन्तर केवल इतना है कि सुन्दरदास जी उपनिषदों के समान आत्मा से ही विश्व की उत्पत्ति मानते हैं। 'सर्वांग योग प्रदीपिका' के 'अथ सांख्य योग नाम चतुर्थोपदेश:' में उन्होंने अपने इन विचारों को विस्तार से अभिव्यक्त किया है। लेकिन जिस प्रकार संत सुन्दरदास ने ब्रह्म को सर्वव्यापक मानते हुए भी घट में स्थित बताया है, वैसे ही बनारसीदास तथा अन्य जैन कवियों ने भी विराट् सत्ता को देह में ही खोजने की बात कही है। संत सुन्दरदास कहते हैं कि 'हे देव ! तुम सर्व व्यापक हो। तुम्हारी आरती कैसे करूँ ? तुम्हीं कुम्भ हो और तुम्हीं नीर। तुम्हीं दीपक हो और तुम्ही धूप। तुम्ही घण्टा हो और तुम्ही नाद। तुम ही पत्र, पुष्प और प्रकाश हो तथा तुम ही जल, स्थल, पावक और पवन हो। अतएव मौन रूप से तुम्हारा ध्यान ही श्रेयस्कर है :—

> आरती कैसे करौं गुसाईं, तुमहीं व्यापि रहे सब ठाईं।
> तुमहीं कुंभ नीर तुम देवा, तुमहीं कहियत अलख अभेदा।
> तुम ही दीपक धूप अनूपं, तुम ही घंटा नाद स्वरूपं॥
> तुम ही पाती पुहुप प्रकासा, तुम ही ठाकुर तुमहीं दासा।
> तुम ही जल थल पावक पौना, सुंदर पकरि रहे मुख मौना॥२५॥
>
> (संत सुधासार, पृ० ६६३)

यह व्यापक तत्व प्रत्येक घट में विद्यमान है, अतएव उसे बाहर खोजना ठीक नहीं। उसे तो दिल में ही गोता लगाकर प्राप्त कर लेना चाहिए :–

> सुन्दर अन्दर पैस करि, दिल में गोता मारि।
> तौ दिल ही मौं पाइए, साईं सिरजनहार॥१॥
>
> (संत सुधासार १–६३७)

आत्मा की बिरहानुभूति का वर्णन बनारसीदास और सन्त सुन्दरदास दोनों ने किया है। बनारसीदास की आत्मा में 'कन्त मिलन का चाव' पैदा होता है। बिरहिणी 'जल बिन मीन' के समान तड़पती है। प्रिय घट में ही विद्यमान है, फिर भी भेंट नहीं हो पाती। इससे बढ़कर और विडम्बना क्या हो सकती है ? सन्त सुन्दरदास ने 'सुन्दर विलास' के 'विरहिन उराहने का अंग' शीर्षक के अन्तर्गत आत्मा की विरह दशा का ही वर्णन किया है। इसी प्रकार उनकी साखियों में 'अथ विरह को अंग' में विरह की अभिव्यंजना हुई है। सन्त सुन्दरदास की आत्मा कभी प्रिय वियोग से चिन्तित हो उठती है और कभी

> आपुनो रूप प्रकाश करै, जब जारि करै तब और को औरा।
> तैसेंहि सुन्दर चेतनि आपु सु, आपुकौं नाहिन जानत बौरा॥१॥
>
> (संत सुधासार [खण्ड १], पृ० ६२६)

व्यग्रता का अनुभव करती है, कभी आँसू बहाती है तो कभी उसकी उद्वेग, विस्मृति और मरण तक की स्थिति आ जाती है। सुन्दर जी कभी तो कहते है :—

बिरहिन है तुम दरस पियासी।
क्यौं न मिलौ मेरे पिय अविनासी॥

(सुन्दर दर्शन, पृ० २६५)

और कभी प्रिय के कारण बारह मास तड़पने की बात कहते हैं :—

सुन्दर पिय कै कारणौं, तलफै बारह मास।
निस दिन लै लागी रहै, चातक की सी प्यास॥

(सुन्दर दर्शन, पृ० २६५)

वियोग में भूख, प्यास और नींद भी दूर हो गई है :—

भूख पियास न नींदड़ी, बिरहिन अति बेहाल।
सुन्दर प्यारे पीव बिन, क्यों करि निकसै साल॥

(सुन्दर दर्शन, पृ० २६८)

अन्य सन्त कवि :

विचार और अभिव्यक्ति की यह समानता न केवल सन्त सुन्दरदास और बनारसीदास में ही मिलती है और न केवल मुनि रामसिंह, कबीर और सन्त आनन्दघन ने ही समान ढंग से रहस्यदशा का वर्णन किया है, अपितु प्रायः सभी जैन और सन्त कवियों में विचार-साम्य मिलता है। प्रायः सभी साधक एक ही सत्य पर पहुंचे हैं। मत, पन्थ या सम्प्रदाय के भेद से निष्कर्ष में अन्तर नहीं आने पाया है। रैदास, दादू, गरीबदास, रज्जब, धरमदास, मलूकदास, धरनीदास, जगजीवन, दरियासाहब, गुलाल साहब, भीखा साहब और चरनदास आदि सन्तों ने भी रहस्य भावना की अभिव्यक्ति लगभग जैन कवियों के समान ही की है। लगभग सभी सन्तों ने ब्रह्म को घट में स्थित माना है, गुरु को विशेष महत्व दिया है, आत्मा-परमात्मा का सम्बन्ध प्रिय-प्रेमी के रूप में दिखाया है, बाह्याचार की निन्दा की है, हिन्दू-मुस्लिम एकता पर बल दिया है, मुल्ला और पुरोहित के पाखण्ड और भेद-नीति का विरोध किया है, मन पर नियन्त्रण रखना आवश्यक बताया है और शास्त्रज्ञान की अपेक्षा स्वसम्वेदन ज्ञान का सहारा लिया है।

पंचम खण्ड

एकादश अध्याय

मध्यकालीन धर्म साधना में प्रयुक्त कतिपय शब्दों का इतिहास

●

सहज

मध्यकालीन साहित्य के अध्ययन से एक बड़े ही मनोरंजक और साथ ही महत्वपूर्ण इस तथ्य का पता चलता है कि कुछ शब्द ऐसे हैं, जिनका प्रयोग लगभग सभी साधना मार्गों में हुआ है और प्रत्येक साधना के साथ जुड़कर उस शब्द ने किसी अन्य विशिष्ट अर्थ को भी ग्रहण कर लिया है। निरंजन, सहज, शून्य, महासुख, समरस, खसम, अवधू आदि ऐसे ही शब्द हैं। इनका इतिहास मनोरंजक तो है ही, साथ ही मध्यकालीन धर्मसाधना की पूरी विशेषताओं को भी प्रकट करता है। 'सहज' शब्द इनमें सर्वाधिक व्यापक है। इसका प्रयोग अनेक अर्थों में, अनेक सम्प्रदायों में और अनेक शताब्दियों में हुआ है। अतएव इसकी कहानी भी लम्बी है।

सहज की परम्परा :

सामान्यत: 'सहज' का अर्थ है—स्वाभाविक। और इस अर्थ में 'सहज' शब्द का प्रयोग बहुत प्राचीन काल से होता रहा है। किन्तु 'सहजायते इति सहज:' के अनुसार सहज का अर्थ 'जन्म के साथ-साथ उत्पन्न होने वाला या

किसी भी वस्तु का नैसर्गिक रूप' भी होता है। इसलिए इसका प्रयोग 'परम तत्व' के लिए भी होने लगा और मध्यकाल में इसको काफी व्यापकता मिली। "दार्शनिक दृष्टि से जहाँ यह 'ब्रह्म' की भाँति एकमात्र सत्ता के रूप में स्वीकृत हुआ, वहाँ विशुद्ध चित्त वाले साधकों के लिए यही मानव जीवन के चरम लक्ष्य 'निर्वाण' का भी बोधक मान लिया गया है"।[1]

सहज शब्द किस धर्म साधना में प्रथम बार प्रयुक्त हुआ, इसका निर्णय करना कठिन है, लेकिन इतना निश्चित है कि बज्रयान और सहजयान के जन्म के पूर्व यह शब्द प्रचलित हो चुका था। डा० धर्मवीर भारती ने लिखा है कि सहज का प्रयोग स्वाभाविक वृत्ति के रूप में ४०० ई० से पहले ही होने लगा था। उनको 'इस बात की भी पूरी सम्भावना है कि बौद्ध तथा शैव दोनों प्रकार की पद्धतियों ने इस शब्द को किसी तीसरी परम्परा से ग्रहण किया।'[2] डा० गोविन्द त्रिगुणायत ने इस शब्द का और प्राचीन इतिहास खोजा है। उनका विश्वास है कि 'वेदों में वर्णित निवारतीय और निव्युत्तीय सहजवादी ही थे। अथर्ववेद में वर्णित व्रात्य भी सहज धर्म के अनुयायी थे। ये सहजवादी अधिकतर पुरुषवादी होते थे और मनुष्य को ही सबसे अधिक महत्व देते थे।'[3] डा० त्रिगुणायत का यह मत सवमान्य भले ही न हो, किन्तु उपर्युक्त कथनों से 'सहज' के प्रयोग की प्राचीनता का आभास अवश्य मिल जाता है।

मध्यकाल में सहज का काफी प्रचार हुआ और बौद्ध धर्म में इसी आधार पर 'सहजयान' नामक सम्प्रदाय का विकास हुआ और उसमें यह अनेक अर्थों में प्रयुक्त हुआ। नाथ सिद्धों, जैन मुनियों और हिन्दी के सन्त कवियों ने भी इस शब्द को अपनाया। यही नहीं, बौद्ध सहजिया सम्प्रदाय के समान ही 'वैष्णव सहजिया' सम्प्रदाय भी बन गया और जिस प्रकार बौद्ध सहजिया लोगों ने 'प्रज्ञा' और 'उपाय' के युगनद्ध भाव की कल्पना की थी, वैसे ही इन लोगों ने राधा-कृष्ण की नित्य प्रेम लीला को वही रूप देने की चेष्टा की।

जैसा कि हम अभी कह आये हैं यह शब्द प्रत्येक साधना मार्ग में आने के साथ ही साथ नए अर्थ को भी ग्रहण करता गया। सिद्धों ने तो अपनी साधना से सम्बन्धित सभी वस्तुओं का नाम ही सहज से जोड़ दिया। इस प्रकार 'सहज' शब्द 'सहज तत्व, सहज ज्ञान, सहज स्वरूप, सहज सुख, सहज समाधि, सहज काया, सहज पथ, यहाँ तक कि सहज सम्वर और सहज सुन्दरी आदि के लिए भी प्रयुक्त होने लगा'।[4] यहाँ तक कि इसके विषय में यह भी कहा जाने लगा कि 'सहज की न तो कोई व्याख्या की जा सकती है और न इसे शब्दों द्वारा ही व्यक्त किया जा सकता है। यह स्वसंवेद्य केवल अपने

---

१. परशुराम चतुर्वेदी—मध्यकालीन प्रेम साधना, पृ० ७६।

२. सिद्ध साहित्य, पृ० ३६८।

३. कबीर की विचारधारा, पृ० ४०४।

४. देखिए—डाक्टर धर्मवीर भारती-सिद्ध साहित्य, पृ० १७६।

आप ही अनुभवगम्य है, यद्यपि इसके लिए गुरु-चरणों की सेवा भी अपेक्षित होती है।[1]

सिद्धों में सहज :

'सहजयान' में यह शब्द काफी लोकप्रिय हो गया। सहजयानी सिद्धों ने इसका प्रयोग सहज समाधि, सहजज्ञान, सहज स्वभाव, सहज मार्ग, परम तत्व, परम पद, महासुख आदि के रूप में किया है। सरहपाद इस सहजवाद के आचार्य माने जा सकते हैं। उन्होंने सरल जीवन पर जोर दिया है। विभिन्न प्रकार की कठिन साधनाओं की अपेक्षा वह सहज रूप से ही परम तत्व की प्राप्ति का उपाय बताते हैं। उनकी दृष्टि में मन्त्र-तन्त्र और ध्यान-धारणा विभ्रम के कारण हैं। निर्मल चित्त ही योगी के लिए अलं है।[2] चित्त के राग मुक्त हो जाने पर नाद-विन्दु, रवि-शशि आदि किसी की आवश्यकता नहीं रह जाती। इसी ऋजु मार्ग पर चलने के लिए वे सभी को प्रेरित करते हैं।[3] इसी सहज साधना के लिए तिल्लोपाद कहते हैं कि सहज की साधना से चित्त को तू अच्छी तरह विशुद्ध कर ले। इससे इसी जीवन में तुझे सिद्धि और मोक्ष दोनों प्राप्त हो जायेंगे।[4] यह सहज उनके लिए 'परम तत्व' भी है। इस तत्व की जानकारी शास्त्रादि पढ़ने से नहीं हो पाती। किन्तु जो इस सहज तत्व को जान लेता है, वह विषय विकल्प से मुक्त हो जाता है। सरह ने इसी को 'सहजामृत रस' की संज्ञा दी है। वह पवन वेग से कम्पित नहीं होता, अग्नि उसको जला नहीं सकती, मेघ वर्षा से वह भीगता भी नहीं। वह न उत्पन्न होता है और न उसकी मृत्यु होती है। गुरु न उसका वर्णन कर सकता है और न शिष्य उसका श्रवण। वह अनिर्वचनीय है।[5] इस सहज तत्व को जो

---

१. प्रेम पंचक, अद्वयवज्र संग्रह, पृ० ५८ (मध्यकालीन प्रेम साधना, पृ० ७६ से उद्धृत)।

२. मन्त ण तन्त ण धेअ ण धारण।
सव्व वि रे बढ़। विब्भम कारण ॥२३॥ (काव्यधारा, पृ० ६)

३. नाद न विन्दु न रवि शशि मण्डल, चीअ राअ सहावे मूकल।
उजु रे उजु छड़ि मा लेहु बंक, निअड़ि बोहि मा जाहु रे लंक ॥३२॥
(काव्यधारा, पृ० १८)

४. सहजें चित्त विसोहहु चंग।
इह जम्महि सिद्धि मोक्ख भंग ॥२॥
(सन्त सुधा सार, पृ० ६)

५. पवण वहन्ते णउ हल्लइ। जलण जलन्ते णउ सो डज्झइ ॥४॥
घण वरिसन्ते णउ तिम्मइ। ण उवजहि णउ खअहि पइसइ ॥५॥
णउ तं बाअहि गुरु कहइ, णउ तं बुज्झइ सीस।
सहजामिअ रसु सअल जगु, कासु कहिज्जइ कीस ॥६॥
(काव्यधारा, पृ० २)

सहज भाव से जान लेता है, उसके मार्ग के सभी अवरोध स्वतः भङ्ग हो जाते हैं।[1] भुसुकपा इसी 'सहज' महातरु के फलने पर गगनगमन की बात करते हैं[2] और कण्हपा पाप-पुण्य के विभेद में समय न गँवा कर 'सहज' भाव की उपासना पर जोर देते है।[3]

नाथ योगियों में सहज :

डाक्टर गोविन्द त्रिगुणायत ने लिखा है कि 'नाथ पंथियों ने सहज शब्द का प्रयोग बहुत कम किया है। इसका कारण यह भी है कि वे सहज योग में विश्वास न करके हठयोग में विश्वास करते थे। जहाँ कहीं भी उन्होंने 'सहज' शब्द का प्रयोग किया है, वहाँ वह 'स्वाभाविक' का ही पर्यायवाची प्रतीत होता है'।[4] डाक्टर त्रिगुणायत का उक्त मत सही नहीं प्रतीत होता। यद्यपि यह सत्य है कि नाथ योगियों की साधना हठयोग की साधना थी, तथापि वे सहज मत से काफी प्रभावित थे। कुछ विद्वानों ने तो नाथ सम्प्रदाय को सहजयानी सिद्धों की ही शाखा माना है। उनमें सहज शब्द का प्रयोग भी काफी मात्रा में और अनेक अर्थों के लिए हुआ है। यद्यपि नाथ सिद्धों का 'सहज' सहजयानियों का ही सहज नहीं है। उनके सहज के साथ 'शून्य' भी जुड़ गया है। नाथ योगी शून्य की अपेक्षा 'सहज शून्य' को श्रेष्ठ मानते हैं, क्योंकि मात्र शून्य से आवागमन लगा रहता है, किन्तु जिस शून्य में चित्त समा कर स्थित हो जाता है, वह 'सहज शून्य' है। गोरखनाथ के प्रश्न करने पर मछीन्द्रनाथ कहते हैं :—

> अवधू सुंने आवै सुंने जाइ, सुंने चीया रहै समाइ।
> सहज सुंनि तन मन थिर रहै, ऐसा विचार मछिन्द्र कहै॥
>
> (गोरखबानी, पृ० १६५)

गोरखनाथ इसी 'सहज शून्य' में रहने की भी बात करते हैं।[5] सहज शून्य के अतिरिक्त योगियों ने 'सहज' का प्रयोग 'परम तत्व' और सहज स्वभाव के लिए भी किया है। भरथरी जी को न मृत्यु की शंका है और न जीवन की आशा। वह जीवन मरण के ऊपर उठ चुके हैं, क्योंकि उनके अन्तर में

---

१. सहजें सहज वि बुज्झइ जव्वें। अन्तराल गइ तुट्टइ तव्वें॥८२॥
(दोहाकोश, पृ० २०)

२. हिन्दी काव्यधारा, पृ० १३६।

३. हिन्दी काव्यधारा, पृ० १४६।

४. डाक्टर गोविन्द त्रिगुणायत-कबीर की विचारधारा, पृ० ४०५।

५. इहाँ नहीं उहाँ नहीं त्रिकुटी मंझारी, सहज सुंनि मैं रहनि हमारी॥३॥
(हिन्दी काव्यधारा, पृ० १५७)

'सहज' का लीला विलास हो रहा है।[1] डाक्टर धर्मवीर भारती ने भी सप्रमाण यह सिद्ध किया है कि नाथ सम्प्रदाय की बानियों में सहज का प्रयोग छः रूपों में मिलता है[2]:—

१—परम तत्व के रूप में।

२—परम ज्ञान, परम स्वभाव के रूप में।

३—देह के अन्दर य गिनी या शक्ति से संगम लाभ करने की योग पद्धति।

४—सहज समाधि।

५—परम पद, परम सुख अथवा आनन्द के रूप में सहज।

६—जीवन पद्धति के रूप में सहज।

जैन कवियों में सहज :

जैन कवि भी सहज' के लोभ का संवरण नहीं कर सके हैं और विभिन्न रूपों में इसका प्रयोग किया है। यद्यपि यह कहना ठीक नहीं होगा कि उनको सहज की प्रेरणा सहजयानियों से मिली या उनका सहज सिद्धों का सहज है। बहुत सम्भव है परवर्ती जन कवि जैसे आनन्दतिलक, बनारसीदास और रूपचन्द आदि सिद्धों के सहज से परिचित हुए हों और उन्हीं के प्रभाव में आकर सहज का प्रयोग किया हो, किन्तु योगीन्दु मुनि जो आठवीं शताब्दी के थे और सहजवाद के प्रवर्तक सरहपाद के समकालीन थे, सिद्धों से प्रभावित नहीं माने जा सकते। उन्होंने जिस 'सहज स्वरूप' और 'सहज समाधि' का वर्णन किया है, वह उनकी अपनी देन है। हाँ यह अवश्य सत्य है कि दसवीं शताब्दी और उसके पश्चात् सहज शब्द का काफी प्रचार बढ़ गया था। जिस प्रकार आज 'संस्कृति' शब्द का व्यापक रूप से प्रचार हुआ है, वसे ही मध्यकाल में 'सहज' का बड़ा जोर था। प्रत्येक साधना में इसका प्रयोग गौरवमय माना जाता था। इसीलिए जैन कवियों ने भी इस शब्द को खूब अपनाया। जैन काव्य में 'सहज' शब्द मुख्यतया तीन रूपों में प्रयुक्त हुआ है :—

(१) सहज-समाधि के रूप में।

(२) सहज-सुख के रूप में।

(३) परमतत्व के रूप में।

---

१. मरणें का संसा नहीं।
नहीं जीवन का आस ॥
सति भाषंति राजा भरथरी।
हमरे सहजै लीला विलास ॥१४॥

(नाथ सिद्धों की बानियाँ, पृ० १०१)

२. सिद्ध साहित्य, पृ० ३६६।

आनंदतिलक ने बाह्याचार का विरोध करते हुए कहा है कि जाप जपने और तप तपने से कर्मों का विनाश नहीं होता। आत्मा की जानकारी से ही सिद्धि सम्भव है और आत्म ज्ञान तथा सिद्धि 'सहज समाधि' से ही प्राप्त हो सकती है।[1] किन्तु जैसा कि बनारसीदास ने कहा है यह सहज समाधि सरल नहीं है। यह तो नेत्र और वाणी दोनों से अगम है। इसको तो साधक ही जान पाते हैं। इसका वर्णन सम्भव नहीं।[2] जो सम्यक्ज्ञानी हैं, वही सहज समाधि के द्वारा परमात्मा के दर्शन करते हैं। पंडितजन मति, श्रुति, अवधि आदि ज्ञान के विकल्पों को छोड़कर, जब निर्विकल्प सम्यक्ज्ञान को मन में धारण करते हैं, इन्द्रियजनित सुख दुःख से विमुख होकर परम रूप हो कर्म की निजरा करते हैं, पर अर्थात् पुद्गल की समस्त उपाधियों को त्याग कर आत्मा की आराधना करते हैं, तब वे परमात्म-स्वरूप हो जाते हैं। यही सहज समाधि है।[3] बनारसीदास के इस कथन से स्पष्ट है कि जैन कवियों ने 'सहज' शब्द को अपने रंग में रंग लिया था। उनके 'सहज' में जैन दर्शन की कतिपय विशेषताएँ भी समाहित हो गई थीं। योगीन्दु मुनि ने इसी 'सहज समाधि' को 'परम समाधि' कहा है। उनका मत है कि जो परम समाधि रूपा महासरोवर में मज्जन करते हैं, उनके सभी भव-मल छूट जाते हैं और उनका आत्मा निर्मल भाव को प्राप्त होता है। उनके अनुसार रागादि समस्त विकल्पों का विनाश होना ही परम समाधि है :—

---

१. जापु जपइ बहु तव तवई तो वि ण कम्म हणेई।
एक समउ अप्पा मुणइ आणंदा चउ गइ पाणिउ देई। २१॥
सो अप्पा मुणि जीव तुहुं अणहकरि परिहारु।
सहज समाधिहिं जाणियई आणंदा जे जिण सासणि सारु ॥२२॥
(आणंदा)

२. नैनन ते अगम अगम याही बैनन तें,
उलट पुलट बहै कालकूट कहरी।
मूल बिन पाए मूढ़ कैसे जोग साधि आवें,
सहज समाधि की अगम गति गहरी ॥३४॥
(बनारसी विलास, पृ० ८४)

३. पंडित विवेक लहि एकता की टेक गहि,
दुंदज अवस्था की अनेकता हरतु है।
मति श्रुति अवधि इत्यादि विकलप मेटि,
निरविकलप ग्यान मन में धरतु है॥
इन्द्रियजनित सुख दुख सौं विमुख ह्वै कैं,
परम के रूप ह्वै करम निर्जरतु है।
सहज समाधि साधि त्यागि पर की उपाधि,
आतम आराधि परमातम करतु है ॥१६॥
(बनारसीदास-नाटक समयसार, पृ० १८)

परम समाहि महा-सरहिं जे बुड्डहिं पइसेव।
अप्पा थक्कइ विमलु तहं भव-मल जंति बहेवि ॥२-१८६॥

सयल वियप्पहं जो विलउ परम समाहि भणंति।
तेण सुहासुह भावडा मुणि सयलवि मेल्लंति ॥२-१९०॥
(परमात्मप्रकाश, पृ० ३२८)

योगीन्दु मुनि निर्वाण प्राप्ति के लिए सहज स्वरूप में ही रमण करने का उपदेश देते हैं।[1] और मुनि रामसिंह सहज अवस्था की बात करते हैं (दो० नं० १७०)। रूपचन्द आत्म-सुख को सहज-सुख कहते हैं। उनका विश्वास है कि सहज-सुख के बिना मन की तृष्णा या पिपासा शान्त नहीं हो सकती।[2] छीहल इसी कारण ब्रह्म को 'सहजानंद स्वरूप' मानते हैं—'हउं सहजाणंद सरूव सिंधु ॥६॥'

संतों में सहज :

हम पहले ही कह आए हैं कि दसवीं शताब्दी से सहज का जोर बढ़ चला था और प्रत्येक साधना में इसको किसी न किसी रूप में स्थान मिलने लगा था। चौदहवीं-पंद्रहवीं शती तक आते आते यह शब्द और व्यापक हो गया। हिन्दी के संत कवियों ने भी इसको अपनाना शुरू कर दिया। कबीर के काव्य में सहज का प्रयोग सर्वाधिक मात्रा में मिलता है। लेकिन कबीर तथा अन्य संतों का सहज, जैन कवियों के ही समान, सिद्धों का सहज नहीं है। कबीर तो शब्द-चयन में काफी स्वच्छन्द थे। उन्हें उपयुक्त शब्द जहाँ से मिल गया है, उन्होंने ले लिया है। लेकिन जिस प्रकार उनके 'राम' वैष्णव ग्रन्थों से गृहीत होने पर भी 'दशरथ सुत' नहीं हैं, उसी प्रकार उनके सहज, रवि, शशि आदि सिद्धों से ग्रहीत होने पर भी, वही अर्थ-द्योतन नहीं करते हैं। वस्तुत: उन्होंने प्रत्येक शब्द की अपने ढंग से व्याख्या की है। उन्हें हर बात में 'सहज' का प्रयोग उपयुक्त भी नहीं लगता था। इसीलिए उन्होंने ऐसे साधकों और संतों को डाटा था, जो 'सहज' का नाम तो लेते थे, किन्तु उसके तत्ववाद से परिचित नहीं थे।[3]

---

१. सहज सरूवइ जइ रमहि तो पावहि सिव सन्तु। ८७॥
(योगसार, पृ० ३९०)

२. चेतन सहज सुख ही बिना, इहु तृष्णा न बुझाइ।
सहज सलिल बिन कहउ क्यउं उसन प्यास बुझाइ ॥३०॥
(दोहा परमार्थ)

३. सहज सहज सबको कहै, सहज न चीन्हें कोइ।
पाँचू राखै परसती, सहज कहीजै सोइ ॥ २ ॥
सहज सहज सबको कहै, सहज न चीन्है कोइ।
जिन्ह सहजै हरि जी मिलै, सहज कहीजै सोइ ॥ ४ ॥
(कबीर ग्रन्थावली, पृ० ४२)

कबीर ने 'सहज' को सहज-समाधि, सहज-मार्ग और जीवन की सहज पद्धति के लिए प्रयुक्त किया है। द्विवेदी जी ने लिखा है कि 'वे (कबीर) साधना को सहज भाव से देखना चाहते थे। वे नहीं चाहते थे कि प्रतिदिन के जीवन के साथ चरम साधना का कहीं भी विरोध हो। दैनिक जीवन और शाश्वत साधना का यह जो अविरोध भाव है, वहीं कबीर का 'सहज पन्थ' है।"[1] कबीर जब सहज समाधि की बात करते हैं तो उनका तात्पर्य ऐसी ही सरल जीवन पद्धति से होता है। 'सहज समाधि' की जानकारी के बाद साधक को आँखें नहीं मूंदनी पड़ती, मुद्रा नहीं धारण करनी पड़ती और न आसन ही लगाना पड़ता है। उसका तो हिलना डुलना ही परिक्रमा होता है; सोना, बैठना ही दण्डवत है; बोलना ही नाम जप है; खाना ही पूजा है।[2] लेकिन इस उपाधि रहित सहज समाधि में बड़ी कठिनाई से लौ लगती है और सन्त रैदास साक्षी हैं कि एक बार इससे लौ लगने पर जन्म-मृत्यु का भय नहीं रह जाता है।[3] सन्त सुन्दरदास ने यद्यपि हठयोग की साधना का विस्तार से वर्णन किया है, तथापि वह भी 'सहज साधना' के महत्व से भलीभाँति परिचित थे और इसीलिए उन्होंने 'सहज समाधि' पर काफी जोर दिया है।[4] दादू को सहज मार्ग में ही विश्वास है[5] और सन्त दूलनदास जी सहज भाव से ही राम-रसायन को पीने की बात करते हैं।[6] गुलाल साहब तो 'सहज' नाम का व्यापार करने की ही अपने मन को सलाह देते हैं।[7]

---

१. हजारी प्रसाद द्विवेदी—हिन्दी साहित्य की भूमिका, पृ० ३८।

२. देखिए—हजारी प्रसाद द्विवेदी, कबीर, पद ४१, पृ० २६२।

३. सहज समाधि उपाधि रहित होइ बड़े भागि लिव लागी।
कहि रविदास उदास दास मति जनम मरन भय भागी॥ ५॥
(सन्त सुधा सार, पृ० १८४)

४. सहजै नाम निरंजन लीजै।
और उपाय कछू नहिं कीजै॥
सहजै ब्रह्म अगिनि पर जारी।
सहज समाधि उनमनी तारी॥
(डा० त्रिलोकी नारायण दीक्षित—सुन्दर दर्शन, पृ० १६० से उद्धृत)

५. देखिए-सन्त सुधा सार (खण्ड १) पृ० ४८८।

६. देखिए-सन्त सुधा सार (खण्ड २) पृ० ८५।

७. देखिए-सन्त सुधा सार (खण्ड २) पृ० १२३।

समरस और महासुख

'सामरस्य भाव' मध्य युग की महत्वपूर्ण साधना है। उस युग के सभी साधक इसकी चर्चा करते हैं, यद्यपि प्रत्येक का तत्ववाद दूसरे से भिन्न है। वज्रयानी सिद्धों, कौल साधकों, शैव और शाक्त मतावलम्बियों तथा जैन मुनियों ने समरसता की अपने अपने ढंग पर व्याख्या की है। वज्रयान में महायान के 'शून्य' एवं 'करुणा' क्रमश: 'प्रज्ञा' और 'उपाय' संज्ञा से अभिहित किए गए। 'प्रज्ञा' को स्त्री रूप दिया गया तथा 'उपाय' को पुरुषवत् माना गया। दोनों के मिलन को 'समरस' अथवा 'महासुख' कहा गया।[१] वज्रयानियों का यही चरम लक्ष्य है। उनके अनुसार 'सम' का अर्थ है-एकात्मकता तथा 'रस' का अर्थ है-चक्र। इस संसार चक्र के पदार्थों में एकात्मकता की उपलब्धि ही समरसोपलब्धि मानी गई। दार्शनिक दृष्टि से समरस का अर्थ है—अद्वय और युगनद्ध। अतएव इस अवस्था की प्राप्ति होने पर सम्पूर्ण संसार एकरसमय और एकरागमय हो जाता है। इसीलिए हेवज्रतन्त्र में कहा गया कि सहजावस्था में प्रज्ञा और उपाय की अभेदता रहती है किसी का पृथक् प्रत्यभिज्ञान नहीं रहता।[२] इस प्रकार प्रज्ञा-उपाय 'कमल कुलिश' साधना के रूप में वामाचार के जन्म के कारण हुए और स्त्री-सुख को परम-सुख माना जाने लगा। कतिपय सिद्धों ने स्पष्ट रूप से कहा कि समरस गृहिणा महामुद्रा के प्रगाढ़ स्नेह से प्राप्त होता है। कण्हपा ने सीधे शब्दों में कहा कि निज गृहिणी को लेकर केलि करना चाहिए, फिर मन्त्र-तन्त्र की कोई आवश्यकता नहीं रह जाती है।[३] तिलोपा ने कहा कि जो इस क्षणिक आनन्द के भेद जो जान लेते हैं, वही सच्चे योगी हैं।[४] सरहपाद ने इसी को 'परम महासुख' की संज्ञा दी।[५] उन्होंने कहा कि जिस प्रकार जल, जल में प्रवेश कर समरस हो जाता है, उसी प्रकार प्रज्ञोपाय में प्रज्ञा और उपाय का दाम्पत्य रूप में युगनद्ध हो जाता है। भुसुकपा ने भी यही उदाहरण देते हुए कहा कि जैसे जल जल में समाकर अभिन्न हो जाता है उसी प्रकार समरस में मन रूपी मणि शून्यता में समाकर अभिन्न हो जाता है।[६] तान्त्रिक बौद्ध साधना में इस वामाचार को अधिक विस्तार मिला। महामहोपाध्याय

---

१. Dr. Shashibhushan Dasgupta—Obscure Religious Cults, (University of Calcutta, 1946,) p. 30.

२. नागेन्द्रनाथ उपाध्याय—तान्त्रिक बौद्ध साधना और साहित्य, पृ० १४५।

३. एक्कु ण किज्जइ मन्त ण तन्त।
णिअ घरणी लइ केलि करन्त ॥ २८ ॥
(हिन्दी काव्यधारा, पृ० १४८)

४. हिन्दी काव्यधारा, पृ० १७४।

५. हिन्दी काव्यधारा, पृ० १४।

६. देखिए-सिद्ध साहित्य, पृ०.२३१।

पं० गोपीनाथ कविराज ने लिखा है "कि तांत्रिकों की रहस्य साधना में तीन अवस्थाओं की चर्चा मिलती है—(१) पशुभाव, (२) वीरभाव और (३) दिव्य भाव या परम भाव। पशु भाव में संयम, ब्रह्मचर्य, यम, नियमादि की आवश्यकता रहती है। इस भूमि में विन्दु की शुद्धि तथा स्थिरता सिद्ध हो जाती है। उसके अनन्तर वीर भाव में प्रकृति संयोग या प्रकृति संभोग का अधिकार आता है।......इस अवस्था में प्रकृति के साथ पुरुष का संघर्ष होता है, जिसमें वीरत्व की आवश्यकता होती है।......वीर भाव के अनन्तर प्रकृति के साथ सहयोग करते हुए साधक क्रमशः दिव्य भाव की ओर अग्रसर होता है। पहली दशा में प्रकृति का त्याग जैसे आवश्यक है। दूसरी दशा में योग्यता लाभ होने पर प्रकृति का ग्रहण भी वैसे ही आवश्यक है, तृतीय अवस्था में न त्याग है न ग्रहण। उस समय प्रकृति के अधीन होने पर पुरुष और प्रकृति दोनों सम्मिलित होकर एक अखण्ड सत्ता में प्रवेश करते हैं। इस परम भाव में पुरुष और प्रकृति का भेद नहीं रहता। यही शिव शक्ति का सामरस्य है।"[1]

शैव, शाक्त तथा कौल साधना में इस सामरस्य भाव का वर्णन दूसरे रूप में किया गया है। शैव और शाक्त साधना के अनुसार शिव शक्ति के विषमीभाव से ही यह सृष्टि प्रपंच है। संसार का यह व्यापार तभी तक है, जब तक शिव शक्ति में भेद है। दोनों के मिलन से सामरस्य की स्थिति आ जाती है। 'कौल' का अर्थ ही है कुल और अकुल का मिलन, कुल अर्थात् शक्ति और 'अकुल' अर्थात् शिव। शक्ति सृष्टि रूपा है, जागतिक व्यापार का कारण है, शिव निर्गुण निराकार है। शिव का धर्म है शक्ति। दोनों का सम्बन्ध अभिन्न है। अतएव दोनों एक दूसरे से अलग रह ही नहीं सकते। कौल ज्ञान निर्णय में कहा गया है कि शिव के विना शक्ति नहीं रह सकती और शक्ति के बिना शिव नहीं होते।[2] शिव-शक्ति का संयोग ही सामरस्य है। यही परम महासुख है।[3]

जो पिण्ड में है वही ब्रह्माण्ड में है—"जोइ जोइ पिण्डे सोइ ब्रह्माण्डे।" इसी आधार पर शरीर स्थित जीव और ब्रह्म के मिलन की भी चर्चा की गई है। नाथ योगियों द्वारा कहा गया कि कुण्डलिनी शक्ति जब उद्बुद्ध होकर सुषुम्ना मार्ग से षट् चक्रों को पार कर सहस्रार चक्र में स्थित शिव से मिलती है, तब समरसता की स्थिति आती है।

जैन साधकों में भी इस 'सामरस्य भाव' का वर्णन मिलता है, यद्यपि प्रज्ञा-उपाय के संयोग की बात कहीं भी नहीं आने पाई है। जैन कवियों ने

---

१. तान्त्रिक बौद्ध साधना और साहित्य का प्राक्कथन, पृ० ११-१२।

२. देखिए—नाथ सम्प्रदाय, पृ० ६६।

३. समरसानन्दरूपेण एकाकारं चराचरे।
ये च ज्ञातं स्वदेहस्थमकुलवीरं महाद्भुतम्॥
(अकुलवीर तन्त्र, बी० ११५)।

प्राय: शिव-शक्ति के मिलन की चर्चा की है और मन को परमेश्वर में मिलाकर 'समरसता' लाने पर जोर दिया है। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने लिखा है कि 'पिण्ड में मन का जीवात्मा में तिरोभूत हो जाना या एकमेक होकर मिल जाना ही सामरस्य है।'[1] इसी बात को योगीन्दु मुनि इन शब्दों में कहते हैं :—

> मणु मिलियउ परमेसरहं,
> परमेसरउ वि मणस्सु।
> बेहि वि समरस हूवाहं,
> पुज्ज चड़ावउं कस्स ॥१।१२३॥
> (परमात्मप्रकाश, पृ० १२५)

वस्तुत: जब मन परमेश्वर से मिल गया और परमेश्वर मन से, तो कौन पूजा करे? और किसकी पूजा की जाय? उस अद्वैत स्थिति में सब कुछ तो ब्रह्ममय हो जाता है। इसीलिए योगीन्दु मुनि कहते हैं कि किस की समाधि करूँ? किसकी अर्चना करूँ? स्पर्शास्पर्श का विचार कर किसका परित्याग करूँ? किससे मित्रता करूँ और किससे शत्रुता करूँ? किसका सम्मान करूँ? क्योंकि जहाँ कहीं भी देखता हूँ अपनी आत्मा ही दिखाई पड़ती है।[2] वस्तुत: इस समरसता की स्थिति में ऊँच-नीच और अपने-पराए का भेद-ज्ञान ही नहीं रह जाता है, फिर विभेद किया किस आधार पर जाय? सरहपाद ने भी तो कहा था कि समरसता में शूद्रत्व और ब्राह्मणत्व का कोई विचार नहीं रह जाता—'तव्वें समरस सहजें वज्जइ णउ सुद्द ण बह्मण' (दोहाकोष, पृ० २५)। मुनि रामसिंह ने भी कहा कि शारीरिक सुख-दु:ख, चिन्ताएँ आदि तभी तक सताती हैं, जब तक चित्त निरञ्जन से मिलकर समरस नहीं हो जाता।[3] और जब यह चित्त निरञ्जन में उसी प्रकार मिल जाता है जैसे जल में नमक, तब समरसता की स्थिति में किसी प्रकार की साधना या समाधि की आवश्यकता नहीं रह जाती।[4] एक बात और है। इस समरसता की स्थिति में ही साधक 'आत्मा' का दर्शन करता है, जैसा कि

---

१. मध्यकालीन धर्म साधना, पृ० ४५।

२. को सुसमाहि करउं को अंचउ, छोपु अछोपु करिवि को वंचउ।
हल सहि कलहु केण समाणउ, जहिं कहिं जोवउं तहिं अप्पाणउ ॥४०॥
(योगसार, पृ० ३७६)

३. देहमहेली एह वढ तउ सत्तावइ ताम।
चित्तु णिरंजणु परिण सिहुँ समरसि होइ ण जाम ॥६४॥
(पाहुड़दोहा, पृ० २०)

४. जिम लोणु विलिज्जइ पाणियहं तिम जइ चित्तु विलिज्ज।
समरसि हूवइ जीवडा काइं समाहि करिज्ज ॥१७६॥
(पाहुड़दोहा, पृ० ५४)

आनन्दतिलक ने कहा है कि 'समरस भावे रंगिया अप्पा देखइ सोई' (आणन्दा, दो० नं० ४०)। इसलिए जैसा कि बनारसीदास ने सुझाया है कि अन्तरात्मा रूपी धोबी को भेद-ज्ञान रूपी साबुन और समरसी भाव रूपी निर्मल जल से आत्म-गुण रूपी वस्त्र को स्वच्छ करना चाहिए।[1] यही परम सुख है, इसीलिए योगीन्दु मुनि शून्य पद में ध्यान निमग्न ऐसे योगी को बार बार प्रणाम करते हैं जो पाप पुण्य भाव से विवर्जित है और समरसी भाव को प्राप्त हो चुका है।[2] जिस प्रकार शैव और शाक्त साधकों ने शिव शक्ति के मिलन द्वारा समरसता की स्थिति का वर्णन किया है, उसी प्रकार के भाव जैन साधकों में भी देखने को मिल जाते हैं। मुनि रामसिंह ने शिव-शक्ति के मिलन की चर्चा की है (पाहुड़दोहा, दो० नं० १२७)। यही नहीं, जैसे मत्स्येन्द्रनाथ ने कहा था कि शक्ति के बिना शिव नहीं रहते और शिव के बिना शक्ति नहीं रह सकती, ठीक उसी प्रकार मुनि रामसिंह ने भी कहा कि शिव के बिना शक्ति और शक्ति के बिना शिव अपना व्यापार नहीं कर सकते। सारे सृष्टि व्यापार के मूल कारण यही दोनों परम तत्व हैं। इनको जान लेने से किसी प्रकार के मोहादि नहीं रह जाते :—

सिव विणु सत्ति ण वावरइ, सिउ पुणु सत्ति विहीणु।
दोहि मि जाणहिं सयलु जगु, बुज्झइ मोहविलीणु ॥५५॥
(पाहुड़दोहा, पृ० १८)

नाम सुमिरन और अजपा जाप

सुमिरन और उसके भेद :

सामान्यतया भगवन्नाम स्मरण की महिमा प्राचीन काल से ही रही है, लेकिन मध्य युग में 'नाम सुमिरन' को विशेष महत्व मिला। वस्तुतः मध्य युग की समस्त धर्म साधना को 'नाम साधना' की संज्ञा दी जा सकती है। निर्गुण-मार्गियों और सगुणमार्गियों दोनों ने नाम स्मरण को समान महत्व दिया है। संतों ने 'सुमरन' के कई सोपानों की चर्चा की है। साधारण रूप से ईश्वर का

---

१. भेद ग्यान साबुन भयो, समरस निरमल नीर।
धोबी अन्तर आतमा, धौवै निज गुन चीर ॥६॥
(नाटक समयसार, पृ० १६१)

२. सुण्णउं पउं झायंताहं बलि बलि जोइयाडाहं।
समरसि भाउ परेण सहु पुण्णु वि पाउ ण जाहं ॥२-१५६॥
(परमात्मप्रकाश, पृ० ३०१)

नाम लेना 'सुमिरन' ही है, माला लेकर जप करना भी 'सुमिरन' हो सकता है। डा० पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल ने संतों में सुमिरन तीन प्रकार का माना है :—[1]

(१) जाप—जो कि बाह्य क्रिया होती है।
(२) अजपा जाप—जिसके अनुसार साधक बाहरी जीवन का परित्याग कर आभ्यांतरिक जीवन में प्रवेश करता है।
(३) अनाहद—जिसके द्वारा साधक अपनी आत्मा के गूढ़तम अंश में प्रवेश करता है, जहाँ पर अपने आप की पहचान के सहारे वह सभी स्थितियों को पार कर अंत में कारणातीत हो जाता है।

संत सुन्दरदास ने 'सर्वांग योग प्रदीपिका'[2] में 'सुमिरन' के उक्त तीन भेदों का दूसरे शब्दों में उल्लेख किया है। उनके अनुसार जप तीन प्रकार के होते हैं :-

(१) वाचिक—जो दूसरे को प्रतिश्रुत हो।
(२) उपांशु—जो केवल साधक को सुनाई दे।
(३) मानस—जो साधक को भी न सुनाई दे।

अजपा जाप :

इनमें से 'अजपा जाप' की विशेष महिमा रही है। सिद्धों, नाथों, जैन कवियों और संत कवियों सभी ने इसको अपनाने पर जोर दिया है। इनका विश्वास था कि बाह्य जप से या माला फेरने से सच्चा सुमिरन नहीं हो सकता। इससे दिखावे की प्रवृत्ति को बढ़ावा मिलता है। अतएव सभी साधकों ने अन्य बाह्य अनुष्ठानों के साथ 'माला जप' की भी निन्दा की है और 'अजपा जाप' को महत्व दिया है। 'अजपा जाप' में मंत्र के उच्चारण की आवश्यकता नहीं रह जाती, अपितु मंत्र या जप स्वतः उच्चरित होने लगता है। साधक के शरीर के अंग अंग से नाम ध्वनि निकलने लगती है। इसीलिए कबीर ने कहा था कि उनको अब मुख से राम नाम जपने की आवश्यकता नहीं रह गई है, क्योंकि उनके रोम-रोम से 'राम' शब्द प्रतिध्वनित हो रहा है। डा० बड़थ्वाल ने लिखा है कि "इसके (अजपाजाप) द्वारा स्वयं आत्मा उद्‌बुद्ध हो जाती है और भीतरी ईश्वरीय भावना के समक्ष अपने आपको प्रत्यक्ष एवं अबाधित रूप से समर्पित कर देती है।"[3]

सिद्धों का सहज जप :

सिद्धों की साधना में 'अजपाजाप' का वर्णन आता है, लेकिन उन्होंने इसको 'वज्रजप' अथवा 'सहज जप' कहा है। उन्होंने 'एवं' शब्द के सुमिरन पर

१. हिन्दी काव्य में निर्गुण सम्प्रदाय, पृ० २२५।
२. देखिए—डा० त्रिलोकी नारायण दीक्षित—सुन्दर दर्शन, पृ० १३५।
३. हिन्दी काव्य में निर्गुण सम्प्रदाय, पृ० २२३।

जोर दिया है। इस 'एवं' के उच्चारण की आवश्यकता नहीं होती। साधना के आरम्भ में इसका ध्यान कर लेना चाहिए, तब यह स्वतः श्वासोच्छ्वास के साथ ध्वनित होता रहता है। 'एवं' शब्द में 'ए' बुद्ध का और 'वं' उनकी शक्ति का परिचायक माना गया है।

योगियों का अजपा :

नाथ योगियों में भी अजपा' की चर्चा मिलती है। इन योगियों ने हठयोग की साधना के साथ 'सोहं' के ध्यान की बात कही है। गोरखनाथ का कहना है कि 'इस प्रकार मन लगाकर जाप जपो कि 'सोहं सोहं' का उच्चारण वाणी के बिना भी होने लगे। दृढ़ आसन पर बैठकर ध्यान करो और रात दिन ब्रह्म ज्ञान का चिन्तन करो।'[1] महादेव जी ऐसे योगी की पद वंदना करते हैं, जो अजपा जाप करता है, शून्य में मन को स्थिर करता है, पंचेन्द्रियों का निग्रह करता है और ब्रह्माग्नि में काया का होम करता है।[2] जलंधरी पाव जी का विश्वास है कि अजपा जाप करने वाला योगी समस्त पापों का प्रहार करता है।[3]

संत कवियों में अजपा :

हिन्दी संत कवियों ने सुमिरन को विशेष महत्व दिया है। उनकी दृष्टि में नाम स्मरण ब्रह्म दर्शन का सर्वोत्तम उपाय है। लेकिन स्मरण में किसी बाह्य साधना की आवश्यकता नहीं। सुमिरन तो ऐसा होना चाहिए कि तन मन में इष्ट स्वतः गुंजरित होने लगे। कबीर ने ऐसे ही 'सुमिरन' को जगत का सार कहा है। मन से जब ऐसा सुमिरन होने लगता है तब किसी अन्य देवता के समक्ष शीश झुकाने की आवश्यकता नहीं रह जाती।[4] दादू नाम लेने की सार्थकता इसी में समझते हैं कि नाम ही तन-मन में समा रहे और मन उसमें ऐसा एकरस हो जाय कि फिर एक क्षण भी नाम का विस्मरण न हो।[5] रज्जब का कहना है कि

---

१. डा० पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल—गोरखबानी, पद ३०, पृ० १२४।

२. अजपा जपै सुंनि मन धरै।
पांचूं इन्द्री निग्रह करै।।
ब्रह्म अगिन मै होमै काया।
तास महादेव बंदै पाया।।६।।
(नाथ सिद्धों की बानियाँ, पृ० ११५)

३. देखिए—नाथ सिद्धों की बानियाँ (जलंध्रीपाव जी की सबदी), पृ० ५४।

४. मेरा मन सुमिरै राम कूँ, मेरा मन रामहिं आहि।
अब मन रामहिं ह्वै रहा, शीश नवावौं काहि।।८।।
(कबीर ग्रंथावली, पृ० ५)

५. संत सुधा सार (खण्ड १), पृ० ४५५।

सुमिरन रूपी साबुन और जल रूपी सतसंग से अपना अंग निर्मल कर लेना चाहिए, जब इस साधना से मल दूर हो जाता है, तब आत्मा रूपी अम्बर निर्विकार हो जाता है।[1] धरमदास जी भी प्रिय मिलन के लिए अजपा जाप पर जोर देते हैं।[2] और संत जगजीवन का विश्वास है कि जो अजपा जाप करता है, वह 'परमज्ञान' को प्राप्त होता है।[3] भीखा साहब भी बताते हैं कि दुनिया लोक और वेद मत की स्थापना में लगी हुई है, जब कि उनके गुरु अजपा जाप को ही सर्वोपरि समझते हैं।[4] दयाबाई ने पद्मासन में बैठकर अजपा जाप करने पर सर्वाधिक जोर दिया है। उनका कहना है कि जो हृदय कमल में सुरति लगाकर अजपा जाप करता है, उसके अन्तर में विमल ज्ञान प्रकट होता है और सभी कल्मष बह जाते हैं। यही नहीं यह जप करते करते मन ऐसे स्थान पर पहुँच जाता है, जहाँ बिना बिजली के प्रकाश हो रहा है और बिना मेघ के फुहार पड़ रही है। मन ऐसे दृश्य को देखकर वहीं मग्न हो जाता है।[5]

जैन कवियों में अजपा :

जैन मुनियों ने भी बाह्य साधना की अपेक्षा अन्तःसाधना पर जोर दिया है, पाषंड की निन्दा की है और समस्त बाह्य आडम्बरों का विरोध किया है। उनको विश्वास है कि चित्त शुद्धि ही ब्रह्मत्व प्राप्ति का एकमात्र उपाय है। अतएव जब मन निर्मल होगा, तब किसी बाहरी साधना की अपेक्षा नहीं रह जाएगी। मुनि रामसिंह का कहना है कि जब तक आभ्यंतर चित्त मलिन है, तब तक बाह्य तप से कोई लाभ नहीं। अतएव निर्मल चित्त में ही निरंजन को धारण करने की आवश्यकता है। इसी से सभी मलों से छुटकारा मिल जाता है।[6] नाथ योगियों और संतों के समान ही जैन कवियों ने 'सोहं' शब्द को ध्यान में

---

१. संत सुधा सार (खण्ड १), पृ० ५२६।
२. संत सुधा सार (खण्ड २), पृ० १३।
३. संत सुधा सार (खण्ड २), पृ० ६६।
४. संत सुधा सार (खण्ड २), पृ० १४५।
५. पद्मासन सूं बैठ करि, अंतर दृष्टि लगाव।
दया जाप अजपा जपौ, सुरति स्वांस में लाव ।।१।।
हृदय कमल में सुरति धरि, अजपा जपै जो कोय।
विमल ज्ञान प्रगटै तहाँ, कलमख डारै खोय ।।४।।
बिन दामिन उजियार अति, बिन घन परत फुहार।
मगन भयो मनुवाँ तहाँ, दया निहार निहार ।।६।।
(संत सुधासार, पृ० २०५–२०६)
६. अब्भिंतर चित्ति वि मइलियइं बाहिरि काइं तवेण।
चित्ति णिरंजणु को वि धरि मुच्चहि जेम मलेण ।।६१।।
(पाहुड़दोहा, पृ० १८)

लाने पर जोर दिया है। द्यानतराय जी का तो कहना है कि सदैव ही श्वासोच्छ्वास के साथ 'सोहं सोहं' का ध्वनन् होता रहता है। यह 'सोहं' तीन लोक में सार है। इस 'सोहं' के अर्थ को समझकर, जो लोग 'अजपा जाप' की साधना करते हैं, वे श्रेष्ठ हैं :—

सोहं सोहं होत नित, सांस उसास मझार।
ताको अरथ विचारिये, तीन लोक में सार॥
तीन लोक में सार, धार सिव खेत निवासी।
अष्ट कर्म सौं रहित, सहित गुण अष्ट विलासी॥
जैसो तैसो आप, थाप निहचै तजि सोहं।
अजपा जाप संभार, सार सुख सोहं सोहं।७॥

(धर्म विलास, पृ० ६५)

मुनि रामसिंह के ही समान संत आनन्दघन ने भी कहा कि जो व्यक्ति आशाओं का हनन करके अंतर में अजपा जाप को जगाते हैं, वे चेतन मूर्ति निरंजन का साक्षात्कार करते हैं।[1] इस अजपा की अनहद ध्वनि उत्पन्न होने पर आनन्द के मेघ की झड़ी लग जाती है और जीवात्मा सौभाग्यवती नारी के सदृश भाव विभोर हो उठती है।[2] इसीलिए संत आनन्दघन भी 'सोहं' को संसार का सार तत्व मानते हैं :—

चेतन ऐसा ज्ञान विचारो।
सोहं सोहं सोहं सोहं सोहं अणु नबी या सारो॥८१॥

(आनन्दघन बहोत्तरी, पृ० ३६५)

निरंजन

'निरंजन' शब्द का इतिहास बड़ा ही मनोरंजक है। इसका प्रयोग परब्रह्म, यम, बुद्ध, परमपद, मन, कालपुरुष, शैतान, दोषी, पाषण्डी और महाठग आदि अनेक अर्थों में हुआ है। सामान्यतः 'निरंजन' का अर्थ है—अंजन अर्थात् माया रहित। मुण्डकोपनिषद् (३।३) में कहा गया है—'तदा विद्वान् पुण्य पापे विधूय निरंजनः परमं साम्यमुपैति।' आठवीं शताब्दी के बाद से 'निरंजन' शब्द व्यापक होने लगा और नाथ योगियों के समान एक 'निरंजन मत' ही चल पड़ा। जिस प्रकार नाथ सम्प्रदाय में 'नाथ' को परमात्मा से

---

१. आसा मारि आसन धरि घट में, अजपा जाप जगावै।
आनंदघन चेतनमय मूरति, नाथ निरंजन पावै॥७॥
(आनंदघन बहोत्तरी, पृ० ३५६)

२. उपजी धुनि अजपा की अनहद, जीत नगारेवारी।
झड़ी सदा आनंदघन बरखत, बन मोर एकनतारी॥२०॥
(आनंदघन बहोत्तरी, पृ० ३६५)

भी श्रेष्ठ माना जाता था, उसी प्रकार इस सम्प्रदाय में निरंजन को सर्वोच्च पद पर प्रतिष्ठित किया गया। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी का अनुमान है कि 'उड़ीसा के उत्तरी भाग, छोटा नागपुर को घेरकर रीवां से पश्चिमी बंगाल तक के क्षेत्र में धर्म या निरंजन की पूजा प्रचलित थी।'[1] ऐसा अनुमान किया गया है कि यह निरंजन मत बौद्ध धर्म का ही एक विकसित रूप या उसी की एक प्रच्छन्न या विस्मृत शाखा थी। इस सम्प्रदाय के ग्रन्थों में निरंजन की स्तुति अनादि और अनन्त तत्व के रूप में की गई है। एक स्तोत्र के अनुसार 'निरंजन का न कोई रूप है न रेखा, न धातु है न वर्ण, न वह श्वेत है न पीत, न रक्त वर्ण है न अन्य रंग का, उसका न कभी उदय हुआ है, न वह कभी अस्त होता है, वह न वृक्ष है न मूल, न बीज है न अंकुर, न शाखा है न पत्र, न पुष्प है न गन्ध, न फल है न छाया, वह न नारी है न पुरुष, उसके न हाथ हैं न पैर, न रूप है न छाया, वह न ब्रह्मा है न इन्द्र, न विष्णु है न रुद्र, न ग्रह है न तारा, न वेद है न शास्त्र, न संध्या है न स्तोत्र और न होम है न दान। वह इन सभी से परे निराकार, निर्विकार, निर्गुण, अज और अरूप तत्व है।"[2] इस प्रकार इस मत में 'निरंजन' को इस जगत की समस्त उपाधियों से परे बताया गया तथा अन्य सभी देवताओं को इससे नीची कोटि में गिना गया।

किन्तु आगे चल कर इसका उक्त कल्पित स्वरूप स्थिर न रह सका। ऐसा प्रतीत होता है कि पन्द्रहवीं-सोलहवीं शताब्दी में इस सम्प्रदाय ने कबीर पंथ में एक शाखा के रूप में अन्तर्भुक्त होने की चेष्टा की। यहीं से कबीर पंथ की अन्य शाखाओं से उसका संहर्ष प्रारम्भ हो गया और 'निरंजन' के सम्बन्ध में विविध प्रकार की कथाएँ और किंवदंतियाँ गढ़ी जाने लगीं। किसी कथा में उसे काल पुरुष बताया गया तो किसी में शैतान, किसी में उसे अनन्य शक्ति से युक्त सिद्ध किया गया, तो किसी में पाषण्डी और महाठग, यदि किसी ने उसे साधक को भ्रष्ट करने वाला बाधक-तत्व बताया तो अन्य ने उसे पूरे विश्व को भ्रम में डाल रखने वाला।

'कबीर मंसूर'[3] की एक कथा के अनुसार सत्य पुरुष समस्त जगत का उत्पन्न कर्ता है। वह कभी गर्भ में नहीं आता। कबीर उसी के अवतार हैं। इस सत्य पुरुष ने सृष्टि के लिए छह पुत्रों को पैदा किया। इसके पश्चात् एक सातवीं सन्तान कालपुरुष निरंजन को उत्पन्न किया। इसी निरंजन ने इस संसार का निर्माण किया है। इस सृष्टि के निर्माण करने के मसाले को एक कूर्म जी छिपाए हुए थे। निरंजन ने उन्हें युद्ध में पछाड़ कर मसाला छीना था। कालपुरुष निरंजन ने पहले माया को उत्पन्न किया, फिर माया के संयोग से ब्रह्मा, विष्णु और महेश की सृष्टि की। इसके पश्चात् वह अज्ञात

---

१. मध्यकालीन धर्म साधना, पृ० ७८।

२. ,, ,, पृ० ७६।

३. देखिए—आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी—कबीर, पृ० ५४ से ५६ तक।

स्थान में तप करने चले गये। उन्हीं के नाक से श्वास के साथ चारो वेद निकले। लेकिन यह निरंजन सन्तों और साधकों के मार्ग में बाधा डालता है और उसने पूरे विश्व को भ्रम या माया से बाँध रक्खा है। वेद उसके रहस्य को बताने में असमर्थ हैं। इसी से संघर्ष करने के लिए कबीर सतयुग, त्रेता, द्वापर और कलियुग आदि चारो युगों में पैदा हुए।

इस प्रकार कबीर के अनुयाइयों ने कबीर को निरंजन से श्रेष्ठ सिद्ध करने के लिए कथाओं को गढ़ा और निरंजन को 'शैतान' व महाठग तक बताया। यहाँ दृष्टव्य यह है कि ब्रह्मा, विष्णु, महेश को भी निरंजन का पुत्र और उसके रहस्य को जानने में असमर्थ बताया गया है। लेकिन यह कथाएँ केवल इस तथ्य का आभास देती हैं कि मध्यकाल में धर्म साधना के क्षेत्र में अनेक सम्प्रदाय और उप-सम्प्रदाय जन्म ले रहे थे तथा प्रत्येक सम्प्रदाय के अनुयायी अपने आराध्य को सर्वोच्च एवं सर्वश्रेष्ठ तथा अन्य देवताओं या अन्य साधना के इष्टदेवों को हीन सिद्ध करने की अनेक प्रकार से चेष्टा कर रहे थे। एतदर्थ कथाओं को गढ़ लेना एक सरल कार्य था।

यद्यपि परवर्ती अनेक सन्तों ने निरंजन को परमपुरुष से भिन्न और धोखेबाज कहा है, शिव नारायण के मत से निरंजन ने ही सभी जीवों को मोह में बाँध रक्खा है और तुलसी साहब के अनुसार निरंजन सारे जगत का आध्यात्मिक महत्व लूट लेता है,[1] यही नहीं कबीर के मुख से भी यह कहलवाने की चेष्टा की गई है कि निरंजन ठग एवं पाषण्डी था, लेकिन स्वयं कबीर ने 'निरंजन' शब्द का प्रयोग 'ब्रह्म' के लिए ही किया है। एक पद में उन्होंने 'निरंजन' का स्मरण इस प्रकार किया है :

> गोव्यंदे तूं निरंजन तूं निरंजन राया।
> तेरे रूप नाहीं रेख नाहीं, मुद्रा नहीं माया ॥टेक॥
> समद नाहीं सिषर नाहीं, धरती नाहीं गगना।
> रवि ससि दोउ एकै नाहीं, बहत नाहीं पवना॥ ॥२१६॥
> (कबीर ग्रंथावली, पृ० १६२)

एक अन्य पद में उन्होंने अपने आराध्य को 'निरंजन' संज्ञा दी है और कहा है कि हिन्दू तुरुक दोनों की पद्धतियों को छोड़कर उसी अल्लाह निरंजन से प्रम करना चाहिए।[2] सन्त सुन्दरदास ने भी निरंजन का प्रयोग निर्गुण और निराकार ब्रह्म के लिए किया है :—

> अंजन यह माया करी, आपु निरंजन राइ।
> सुंदर उपजत देखिए, बहुर्यौ जाइ बिलाइ ॥२॥
> (सन्त सुधासार, पृ० ६४८)

---

१. देखिए—डा० पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल—हिन्दी काव्य में निर्गुण सम्प्रदाय, पृ० १६२–६३।

२. देखिए—कबीर ग्रंथावली, पद ३३८, पृ० २०२।

सिद्धों और नाथ योगियों के समय में 'निरंजन' सम्प्रदाय जन्म लेकर बढ़ रहा था, अतएव उनका 'निरंजन' शब्द से परिचित होना स्वाभाविक ही है। सिद्ध सरहपाद ने परम पद को 'शून्य निरंजन' कहा है[1] और तिलोपा ने आत्मा की विशेषताओं का वर्णन करते हुए उसे 'बुद्ध' और 'निरंजन' बताया है।[2] गोरखनाथ ने निरंजन शब्द का प्रयोग उस परम तत्व के लिए किया है, जिसका न उदय है और न अस्त, जो न रात्रि है न दिवस, न शाखा है न मूल, जो न सूक्ष्म है और न स्थूल, फिर भी सर्वव्यापी है।[3] भरथरी जी के मत से 'निरंजन' पद का वही अधिकारी है, जो तत्वज्ञान से परिचित हो।[4]

जैन कवियों ने 'निरंजन' शब्द का प्रयोग परमात्मा के पर्यायवाची रूप में किया है। लेकिन उनका 'परमात्मा' ब्रह्मवादियों के परमात्मा से भिन्न है। उनके मत से आत्मा की तीन अवस्थाएँ हैं–बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा। प्रत्येक आत्मा अष्ट कर्म मल से रहित होने पर परमात्मा बन सकता है। इस प्रकार उनका परमात्मा कोई एक अखण्ड, अद्वैत तत्व नहीं है, अपितु संख्या में अनेक है। यह परमात्मा, ब्रह्मा, विष्णु, महेश आदि सभी देवताओं से बड़ा है। इसी परमात्मा के लिए योगीन्दु मुनि कहते हैं कि वह त्रिभुवन में वंदित है और हरिहर भी उसकी उपासना करते हैं (परमात्मप्रकाश १।१६)। वह परमात्मा नित्य है, निरंजन है, ज्ञानमय है, परमानन्द स्वभाव है और वही शिव है (परमात्मप्रकाश १।१७)। वह निरंजन है, क्योंकि वह रागादि सभी उपाधियों और कर्म मल रूप अंजन से रहित है। आगे उसी निरंजन तत्व की व्याख्या करते हुए योगीन्दु मुनि कहते हैं कि जिसके न कोई वर्ण है न गंध, न रस है और न शब्द या स्पर्श तथा जो जन्म-मरण के चक्र से परे है, उसी का नाम निरंजन है। जिसमें न क्रोध है न मोह, न मद है न मान, जिसका न कोई स्थान है न ध्यान, उसे निरंजन जानो। जो न पुण्यमय है न पापमय, जो न हर्ष करता है, न

---

१. सुण्ण णिरंजण परम पउ, सुइणोमाअ सहाव।
भावहु चित्त सहावता, जउ णासिज्जइ जाव ॥१३६॥
(दोहाकोश, पृ० ३०)

२. हउं जग हउं बुद्ध हउं णिरंजण।
हउं अमणसिआर भव भंजण ॥१६॥
(हिन्दी काव्यधारा, पृ० १७४)

३. उदय न अस्त राति न दिन, सरबे सचराचर भाव न भिन्न।
सोई निरंजन डाल न मूल, सर्वव्यापिक सुषम न अस्थूल ॥
(हिन्दी काव्यधारा, पृ० १५८)

४. सपत संख का जाणै मेव।
सोई होइ निरंजन देव ॥८॥
(नाथ सिद्धों की बानियाँ, पृ० ६७)

विषाद तथा जिसमें एक भी दोष नहीं है, उसी का नाम निरंजन है।[1] यहाँ दृष्टव्य यह है कि योगीन्दु मुनि ने भी 'निरंजन' के स्वरूप का ठीक उसी प्रकार से और लगभग उन्हीं शब्दों में वर्णन किया है जो 'धर्म और निरंजन मत' को मान्य है। निरंजन सम्प्रदाय में भी 'निरंजन' को इसी प्रकार सभी उपाधियों से रहित परम तत्व बताया गया है।[2] मुनि रामसिंह ने भी इसी वर्णविहीन, परमज्ञानमय, शिवरूप निरंजन से अनुराग करने का निर्देश किया है :—

> वण्णविहूणउ णाणमउ जो भावइ सब्भाउ।
> संतु णिरंजणु सो जि सिउ तहि किज्जइ अणुराउ ॥३८॥
>
> (पाहुडदोहा, पृ० ७२)

संत आनंदघन का भी विश्वास है कि जो पुरुष समस्त आशाओं का हनन करके, ध्यान द्वारा 'अजपा जाप' को अपने अन्तर में जगाता है, वह आनन्द के घन एवं चेतनता की मूर्ति निरंजन स्वामी को प्राप्त करता है।[3] और आनंदघन की गति तथा पति तो निरंजन देव ही हैं, इसलिए अब वे अन्यत्र भटकने की अपेक्षा, उन्हीं की शरण में जाना श्रेयस्कर समझते हैं, क्योंकि निरंजन देव ही सकल भयभंजक हैं, कामधेनु हैं, कामना का घट हैं तथा शरीर रूपी वन में काम रूपी उन्मत गज का विनाश करनेवाले केहरि हैं :—

---

१. जासु ण वण्णु ण गंधु रसु जसु ण सद्दु ण फासु।
जासु ण जम्मणु मरणु णवि णाउ णिरंजणु तासु ॥१६॥
जासु ण कोहु ण मोहु मउ जासु ण माय ण माणु।
जासु ण ठाणु ण झाणु जिय सो जि णिरंजणु जाणु ॥२०॥
अत्थि ण पुण्णु ण पाउ जसु अत्थि ण हरिसु विसाउ।
अत्थि ण एक्कु वि दोसु जसु सो जि णिरंजणु भाउ ॥२१॥
(परमात्मप्रकाश, पृ० २७-२८)

२. योगीन्दु मुनि के उपर्युक्त निरंजन-स्वरूप-वर्णन और निरंजन सम्प्रदाय के देवता निरंजन में कितना साम्य है, यह नीचे के श्लोक से स्पष्ट हो जाता है। धर्म पूजा विधान में निरंजन का ध्यान इस प्रकार किया जाता है :—
ओं यस्यान्तं नादिमध्यं न च कर चरणं नास्ति कायो निनादम्
नाकारं नादिरूपं न च भयमरणं नास्ति जन्मैव यस्य।
योगीन्द्रध्यानगम्यं सकलदलगतं सर्वसंकल्पहीनम्
तत्रैकोऽपि निरंजनोऽमरवरः पातु मां शून्यमूर्तिः ॥
(मध्यकालीन धर्म साधना, पृ० ७६ से उद्धृत)

३. आसा मारि आसन धरि घट में, अजपा जाप जगावै।
आनंदघन चेतनमय मूरति, नाथ निरंजन पावै ॥७॥
(आनंदघन बहोत्तरी, पृ० ३५६)

अब मेरे पति गति देव निरंजन।
भटकूँ कहाँ, कहाँ सिर पटकूँ, कहाँ करूं जन रंजन।
खंजन दृगन लगावूं, चाहूँ न चितवन अंजन।
संजन-घट-अंतर परमातम, सकल-दुरित-भय-भंजन।
एह काम गति एह काम घट, एही सुधारस मंजन।
आनंदघन प्रभु घट बन केहरि, काम मतंग गज्र गंजन ॥६०॥
(आनंदघन बहोत्तरी, पृ० ३८४)

अवधू

'अवधू' शब्द का प्रयोग कई साधना मार्गों के आचार्यों ने किया है। सहज-यानी और नाथ सिद्धों का तो यह शब्द ही है। हिन्दी के संत कवियों में कबीर और जैन मुनियों में संत आनंदघन ने इस शब्द का प्रयोग सर्वाधिक किया है। 'नाथ सम्प्रदाय' के लिए जो अन्य शब्द प्रचलित हैं, उनमें 'अवधूत मत' और 'अवधूत सम्प्रदाय' भी हैं। 'गोरक्ष सिद्धान्त संग्रह' में कहा गया है कि हमारा मत 'अवधूत मत' ही है—अस्माकं मतं त्ववधूतमेव।[1] कबीरदास ने भी जहाँ-जहाँ 'अवधू' को सम्बोधित किया है, वहाँ उनका तात्पर्य नाथयोगियों से ही है। 'अवधू' के सम्बन्ध में कहा गया है कि वह मुद्रा, निरति, सुरति और सींगी धारण करता है, नाद से धारा को खंडित नहीं करता, गगन मंडल में बसता है और दुनिया की ओर देखता भी नहीं। निर्वाण तन्त्र (चतुर्दश पटल) में कहा गया है कि 'अवधूत' वह है जो पंच तत्व का सेवन करता हुआ वीराचारी होकर रहता है, सन्यास की सभी विधियों का यथोक्त पालन करता है, दंडियों की भाँति अमावस्या के दिन मुंडन न कराके लम्बे केस और जटा आदि धारण करता है, अस्थिमाला और रुद्राक्ष को धारण करता है, दिगम्बर होकर या कौपीन मात्र धारण करके रहता है और शरीर में रक्त चन्दन और भस्म का लेप करता है।[2]

---

१. आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी—नाथ सम्प्रदाय, पृ० १ से उद्धृत।

२. शृणु देवि प्रवक्ष्यामि अवधूतो यथा भवेत्।
वीरस्य मूर्ति जानीयात् सदा तत्वपरायणः ॥
यद्रूपं कथितं सर्वं सन्यासधारणं परम्।
तद्रूपं सर्वकर्माणि प्रकुर्यात् वीरवल्लभम् ॥
दंडिनो मुंडनं चामावस्यायामाचरद्यथा।
तथा नैव प्रकुर्यात्तु वीरस्य मुण्डन प्रिये ॥
असंस्कृतं केशजालं मुक्तालंबि कचोच्चयम्।
अस्थिमाला विभूषा वा रुद्राक्षानपि धारयेत् ॥
दिगम्बरो वा वीरेन्द्रश्चाथवा कौपिनी भवेत्।
रक्त चन्दनसिक्तांगं कुर्याद् भस्मांग भूषणम् ॥
(कबीर, पृ० २६ से उद्धृत)

नाथ योगियों ने प्रायः अवधू सम्बोधन द्वारा ही सिद्धान्त-निरूपण किया है। कहीं पर वे अवधू की विशेषताएँ बताते हैं, कहीं पिंड-ब्रह्माण्ड की एकता का प्रतिपादन करते हैं, कहीं सुरति निरति की बात करते हैं तो कहीं सहज महासुख की। चर्पटीनाथ उसी को अवधूत मानते हैं जो करतल में भिक्षा ग्रहण करता है, सदैव एकाकी वन प्रदेश में अथवा श्मशान में रहता है।[1] गोपीचन्द ने प्रश्न किया कि 'हे स्वामी ! बस्ती में रहता हूँ तो कंदर्प का कोप होता है, जंगल में रहता हूँ तो क्षुधा व्यापती है, मार्ग चलता हूँ तो काया क्षीण होती है, मीठा खाता हूँ तो शरीर रोग ग्रस्त हो जाता है। ऐसी स्थिति में योग कैसे किया जाय ?' उत्तर में जलंधरी पाव कहते हैं कि हे अवधू ! भोजन में संयम से कर्दप नहीं व्याप्त होता, साधना के आरम्भ करने पर क्षुधा नहीं सताती, सिद्ध आसन में माया नहीं लगती। नाद के प्रयाण से काया नहीं छीजती, जिह्वा के स्वाद में न पड़कर मन पवन लेकर योग की साधना करनी चाहिए।[2] चर्पटनाथ भी अवधू को 'कामिणि' से दूर रहने का उपदेश देते हैं।[3] इसी प्रकार दत्त जी संयम और संतोष 'अवधू' का प्रधान लक्षण मानते हैं।[4] इससे स्पष्ट है कि प्रत्येक नाथ योगी अपने को अवधूत मानता था और अवधू की साधना की सिद्धि के लिए हठयोग की साधना के अतिरिक्त संयम, एकांत, संतोष आदि गुणों की अनिवार्यता में भी विश्वास करता था।

संतों में कबीरदास ने 'अवधू' शब्द का उल्लेख बहुत अधिक किया है। यद्यपि कबीर स्वयं 'अवधू' मार्ग के अनुयायी नहीं थे तथापि ऐसा प्रतीत होता

---

१. करतलि भिष्या विरष तलि वास।
दोइ जन अंग न मेलै पास॥
बन षंडि रहे मसाणें भूत।
चरपट कहै ते अवधूत ।४२॥
(नाथ सिद्धों की बानियाँ, पृ० ३१)

२. अवधू संजम अहारं।
कंद्रप नहीं व्यापै॥
बाई आरम्भ षुधा न संतापै।
सिध आसण नहिं लागे माया॥
(नाथ सिद्धों की बानियाँ, पृ० ५३)

३. चरपट कहै सुणौ रे अवधू।
कांमणि संग न कीजै॥
जिन्द बिंद नौ नाड़ी सोषै।
दिन दिन काया छीजै ॥१६॥
(नाथ सिद्धों की बानियाँ, पृ० २८)

४. नाथ सिद्धों की बानियाँ (दत्त जी की सबदी), पृ० ५७।

है कि वह 'अवधूत मत' से प्रभावित अवश्य थे। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने लिखा है कि "यद्यपि कबीरदास अवधूत मत को मानते नहीं तथापि अवधूत के प्रति उनकी अवज्ञा नहीं है, उसे वे काफी सम्मान के साथ ही पुकारते हैं। वे उसे कभी कुछ उपदेश दे देते हैं, कभी कुछ बूझने को ललकारते हैं, कभी उसकी साधना पद्धति की व्यर्थता दिखा देते हैं और कभी-कभी तो कुछ ऐसी शर्त रख देते हैं, जिनको अगर अवधूत समझ सके तो वह कबीरदास का गुरु तक बन सकता है।"[1] यह एक उल्लेखनीय तथ्य यह है कि कबीरदास जब 'अवधू' को संबोधित करते हैं तो उसी की भाषा का प्रयोग करते हैं अर्थात् उलटवासियों और नाद-विन्दु, गगन, मण्डल, सींगी, मुद्रा आदि में ही उसे समझाने की चेष्टा करते हैं। वह कभी कहते हैं कि 'भाई अवधू ! वही योगी मेरा गुरु हो सकता है जो इस बात का फैसला कर दे 'एक वृक्ष है, जो बिना जड़ के स्थित है, उसमें बिना पुष्प के ही फल लगे हैं, न उसके शाखा है और न पत्र और फिर भी आठों दिशाओं को उसने आच्छन्न कर रक्खा है। इस विचित्र वृक्ष के ऊपर एक पक्षी है जो बिना पैर के ही नृत्य कर रहा है, बिना हाथों के ही ताल दे रहा है, बिना जीभ के ही गाना गा रहा है। गाने वाले की कोई रूप रेखा नहीं है, पर सतगुरु अगर चाहें तो उसे दिखा सकते हैं,[2] वह कभी अवधू की वेश भूषा और क्रिया कलाप की विवेचना करने लगते हैं,[3] तो कभी 'अवधू' के समक्ष 'कुदरति की गति' का वर्णन करते हैं;[4] कभी अवधू से 'भजन[5] भेद' की बात करते हैं, तो कभी 'मतवारे[6] मन' की; कभी 'सहज समाधि[7]' की बात करते हैं, तो कभी 'माया[8]' की व्यापकता की। कहने का तात्पर्य यह है कि कबीर ने अपने सिद्धान्तों का निरूपण प्राय: 'अवधू' सम्बोधन द्वारा ही किया है। जिस प्रकार नाथ सिद्ध हर बात 'अवधू को समझाना चाहते हैं, उसी प्रकार कबीर भी।

जैन कवियों में 'अवधू' शब्द का प्रयोग वैसे तो मुनि रामसिंह (दोहा-पाहुड़, दो० नं १४४) आदि कवियों में भी मिल जाता है, किन्तु इस मत से अधिक निकट का परिचय सन्त आनंदघन को ही था। उन्होंने प्राय: 'अवधू' सम्बोधन द्वारा ही अपनी बात कही है। जिस प्रकार कबीर ने 'अवधू', 'पांडे', 'मुल्ला' और 'साधो' आदि सम्बोधनों का साभिप्राय प्रयोग किया है, वैसे ही संत आनंदघन ने भी 'साधो' या 'अवधू' को विशिष्ट प्रयोजन के लिए ही सम्बोधित किया है। आपने 'अवधू' सम्बोधन द्वारा ब्रह्म का निरूपण किया है,

---

१. कबीर, पृ० २३।
२. कबीर ग्रंथावली, पद १६५।
३. कबीर ग्रंथावली, पद ६०।
४. कबीर (कबीर वाणी) पद १२२, पृ० २६७।
५. कबीर (कबीर वाणी) पद १०६।
६. कबीर (कबीर वाणी) पद १०८।
७. कबीर (कबीर वाणी) पद ४०।
८. " " " पद ५।

या संसार की नश्वरता का वर्णन; बाह्याचार का खंडन किया है या माया का चित्रण। एक पद में तो ठीक कबीर के ही समान वह कहते है कि 'भाई अवधू! जो योगी इस पद का अर्थ लगा ले, वह मेरा गुरु हो सकता है। एक बृक्ष बिना मूल के लगा हुआ है, उसमें बिना पुष्पों के फल लगे हुए हैं, उसमें न शाखा है और न पत्र, फिर भी गगन में अमृत फल लगा हुआ है। एक वृक्ष पर दो पक्षी बैठे हुए हैं, एक गुरु हैं और दूसरा चेला। चेला चुन-चुनकर खाने में लगा हुआ है, गुरु क्रीड़ा कर रहा है। गगन मंडल के मध्य में कूप है, जिसमें अमृत का बास है। इस अमृत का पान 'सगुरु' (गुरुमुख) ही कर सकता है। गगन मंडल में गाय ने बछड़े को जन्म दिया है, दूध पृथ्वी में जमाया गया है। इस दूध का मक्खन तो बिरले ही पाते हैं, क्योंकि पूरा संसार छाछ में ही भरम रहा है। बिना डंठल के पत्र है और बिना पत्ते के तूंबा (फल)। बिना जिह्वा के गुणगान हो रहा है। गानेवाले का न कोई रूप है, न रेखा। आत्मानुभव के बिना उसका ज्ञान नहीं हो सकता। किन्तु जो उस मूर्त्ति को अपने घट के भीतर परख लेता है वह परम पद को प्राप्त होता है,'[1] इस पद में दृष्टव्य यह है कि नाथ सिद्धों की ही भाषा का प्रयोग किया गया है। पद की प्रथम तीन पंक्तियाँ कबीर से बिल्कुल मिलती हैं (देखिए, कबीर ग्रंथावली, पद नं० १६५)। यही नहीं, कवि का यह कथन कि 'तरुवर एक पंछी दोउ बैठे, एक गुरू एक चेला' मुंडकोपनिषद् के उस रूपक की याद दिला देता है, जिसमें भोगों में आसक्त जीव और विषयों से उदासीन शुद्ध आत्मा में भेद का उल्लेख एक वृक्ष पर बैठे हुए दो पक्षियों द्वारा किया गया है।[2]

---

१. अवधू सो जोगी गुरु मेरा, इस पद का करे रे निवेरा।
तरुवर एक मूल बिन छाया, बिन फूले फल लागा।
शाखा पत्र नहीं कछु उनकूं, अमृत गगन लागा।
तरुवर एक पंछी दोउ बैठे, एक गुरू एक चेला।
चेले ने चुग चुण चुण खाया, गुरू निरंतर खेला।
गगन मंडल के अध बिच कूवा, उहाँ है अमी का वासा।
सगुरा होवे सो भर भर पीवे, निगुरा जावे प्यासा।
गगन मंडल में गउआं बियानी, धरती दूध जमाया।
माखन था जो बिरला पाया, छासैं जगत भरमाया।
थड़ बिनुं पत्र पत्र बिनुं तुंबा, बिन जीभ्या गुण गाया।
गावनवाले का रूप न रेखा, सुगुरू मोहि बताया।
आतम अनुभव बिन नहि जाने, अंतर ज्योति जगावे।
घट अंतर परखे सोहि मूरति, आनंदघन पद पावे ॥९७॥
(आनंदघन बहोत्तरी, पृ० ४०३)

२. तुलनीय—द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति ॥
(मुंडक ३।१।१)

संत आनंदघन कभी तो 'अवधू' को पुकारकर उसे यह समझाना चाहते हैं कि जो 'ब्रह्म' को जान लेता है, वही परम महारस का स्वाद जान पाता है। (इसे ही सिद्धों ने सहज सुख या महासुख की संज्ञा दी है.) आनंदघन का ब्रह्म जाति, वर्ण, लिंग, रूप आदि से रहित है, इसे भी वे स्पष्ट कर देते हैं।[1] उनको ब्रह्म के स्वरूप के स्पष्टीकरण की आवश्यकता इसलिए भी पड़ी थी कि उन्होंने देखा था कि सारा जग 'राम राम' तो कहता है, लेकिन विरले पुरुष ही 'अलख' को लख पाते हैं। विभिन्न मतवाले तो सिद्धान्तों में उलझे हुए हैं और मठवाले मठ में ही अनुरक्त हैं। जटाधर और पटाधर (सिंहासनवाले) भी तत्व को नहीं जान रहे हैं। आगम के अनुयायी आगम ही पढ़ते रह गए हैं और सांसारिक लोग तो माया के दास बने ही बैठे हैं। इस प्रकार जितना संसार है, वह बहिरात्मा में ही फँसा हुआ है। घट के अंतर में स्थित परमात्मा को जाननेवाला कोई दुर्लभ प्राणी ही है। इसीलिए तो उन्होंने कहा कि जो खग के चरण चिह्नों को आकाश में या मीन-पद-चिह्न जल में खोजने की चेष्टा करते हैं, वे पागल हैं। चित्त में स्थित पंकज (ब्रह्म) को जो भौंरा बन जान ले, वही सच्चा साधक है।[2]

---

१. अवधू नाम हमारा राखे, सोई परम महारस चाखे।
ना हम पुरुष नहीं हम नारी, बरन न भांति हमारी।
जाति न पांति न साधन साधक, ना हम लघु नहिं भारी।
ना हम ताते ना हम सीरे, ना हम दीर्घ न छोटा।
ना हम भाई ना हम भगिनी, ना हम बाप न धोटा।
ना हम मनसा ना हम सबदा, ना हम तन की धरणी।
ना हम भेख भेखधर नाहीं, ना हम करता करणी।
ना हम दरसन ना हम परसन, रस न गंध कछु नाहीं।
आनंदघन चेतनमय मूरति, सेवक जन बलि जाहीं ॥२६॥

(आनंदघन बहोत्तरी, पृ० ३६६)

२. अवधू राम राम जग गावै, विरला अलख लगावै।
मतवाला तो मत में माता, मठवाला मठ राता।
जटा जटाधर पटा पटाधर, छता छताधर ताता।
आगम पढ़ि आगमधर थाके, मायाधारी छाके।
दुनियादार दुनी सें लागे, दासा सब आसा के।
बहिरातम मूढ़ा जग जेता, माया के फंद रहेता।
घट अंतर परमातम भावै, दुरलभ प्राणी तेता।
खग पद गगन मीन पद जल में, जो खोजै सो बौरा।
चित पंकज खोजै सो चीन्है, रमता आनंद भौरा ॥२७॥

(आनन्दघन बहोत्तरी, पृ० ३६८)

ऐसा प्रतीत होता है कि संत आनंदघन 'अवधूत मत' से परिचित तो थे ही, उस साधना से कुछ प्रभावित भी थे। लेकिन प्राय: जब वे 'अवधू' को उपदेश देते हैं तो उनका तात्पर्य 'साधू' या 'संत' से ही होता है। एक पद में तो उन्होंने 'साधो और अवधू' शब्द का साथ ही में समान अर्थ के लिए प्रयोग किया है :—

> 'साधो भाई ! समता रंग रमीजै, अवधू ममता संग न कीजै।
> संपति नाहिं, नाहिं ममता में, रमता राम समेटै।
> खाट पाट तजि लाख खटाऊ, अंत खाख में लेटै। ···· ॥३०॥
>
> (आनंदघन बहोत्तरी, पृ० ३७०)

वह 'अवधू' को पुकार कर कभी तो यह बताते हैं कि 'नटगागर की बाजी बांभन काजी' दोनों नहीं जान पाते हैं[1] और कभी अपने को 'सुहागन नारी' के रूप में चित्रित करते हैं।[2] इससे यह भी निष्कर्ष निकलता है कि उनका 'अवधू' बहुत कुछ कबीर के 'अवधू' के ही समान है और 'साधो' के समान 'अवधू' भी मध्य कालीन संतों के लिए संबोधन सूचक शब्द बन गया था।

---

१. आनंदघन बहोत्तरी—पद नं० ५, पृ० ३५७।

२. आनंदघन बहोत्तरी—पद नं० २०, पृ० ३६५।

द्वादश अध्याय

उपसंहार

●

इस अध्ययन के पश्चात् हम यह कह सकने की स्थिति में आ गए हैं कि जैन कवियों और लेखकों द्वारा भारतीय भाषाओं, विशेष रूप से प्राकृत, अपभ्रंश, हिन्दी, गुजराती और राजस्थानी में संख्या और स्तर दोनों दृष्टियों से महत्वपूर्ण कार्य किए गए हैं। मैंने उनके कार्य के एक पक्ष का ही अध्ययन किया है। लेकिन राजस्थान के विभिन्न शास्त्र भाण्डारों के निरीक्षण से पता चलता है कि उनके द्वारा गद्य-पद्य में विभिन्न विषयों पर रचनाएँ लिपिबद्ध हुई हैं। अपभ्रंश भाषा का विशाल, किन्तु अप्रकाशित, साहित्य उनके योगदान का साक्षी है। उन्होंने चरितकाव्य, रासाकाव्य, बावनीकाव्य, चौबीसी, बत्तीसी आदि अनेक काव्य-पद्धतियों को जन्म दिया और प्रभूत मात्रा में लौकिक-पौराणिक आख्यानों के सहारे खण्डकाव्यों, चम्पूकाव्यों और महाकाव्यों की रचना की।

लेकिन प्रश्न उठता है कि फिर भी साहित्य में उनको उचित स्थान क्यों न मिल सका? उनकी क्यों उपेक्षा हुई? मेरे विचार से इसके तीन कारण हो सकते हैं:—

१. अधिकांश सामग्री का अप्रकाशित एवम् हस्तलिखित रूप में होना।

२. जैन मुनियों और धर्माचार्यों की संकीर्णता के कारण उसके अध्ययन में कठिनाइयाँ।

३. उपलब्ध सामग्री के भी समुचित अध्ययन के प्रति रुचि का अभाव।

इस अध्ययन के परिणामस्वरूप कई तथ्य प्रकाश में आए हैं, जिन्हें संक्षेप में इस प्रकार रक्खा जा सकता है:—

(१) अनेक अज्ञात कवि और रचनाएँ प्रकाश में आईं। नए कवियों में आनन्दतिलक, लक्ष्मीचन्द और महयंदिण (अपभ्रंश) तथा ब्रह्मदीप (हिन्दी) उल्लेखनीय हैं। नई रचनाओं में अध्यात्म पंचासिका (द्यानतराय), अध्यात्म सवैया (रूपचन्द), आणंदा (आनन्दतिलक), आत्म प्रतिबोध जयमाल (छीहल), उपदेशदोहाशतक (पाण्डे हेमराज), खटोलना गीत (रूपचन्द), दोहापाहुड़ (महयंदिण मुनि), परमार्थ दोहा शतक (रूपचन्द), मनकरहारास (ब्रह्मदीप) और मांझा (बनारसीदास) आदि प्रमुख हैं। इनमें महयंदिण मुनि के 'दोहापाहुड़' के शीघ्र ही प्रकाशित होने की नितान्त आवश्यकता है।

(२) जैन कवियों द्वारा हिन्दी साहित्य के निर्माण, विकास और श्रीवृद्धि में काफी सहायता मिली है। हिन्दी साहित्य के आदिकाल और मध्यकाल में उन्होंने अपनी रचनाओं द्वारा हिन्दी भाषा और साहित्य दोनों की महत्वपूर्ण सेवा की है। अपभ्रंश भाषा के विकास और उसके साहित्य भाण्डार के उन्नयन में जैन कवियों का पूरा हाथ है।

(३) हिन्दी संत कवियों, विशेष रूप से कबीरदास की विचारधारा के पल्लवन में सिद्धों और नाथों के अतिरिक्त जैन कवियों का भी प्रभाव रहा है। योगीन्दु मुनि, मुनि रामसिंह और कबीर के विचारों में अद्भुत साम्य है। यही नहीं कबीर और अन्य संतों ने १७वीं शती के जैन कवियों को भी प्रभावित किया था। कबीरदास और संत आनन्दघन के तुलनात्मक अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है। इसी प्रकार संत सुन्दरदास और जैन कवि बनारसीदास के विचार भी एक दूसरे से मिलते हैं।

(४) अपभ्रंश और हिन्दी में रहस्यवादी काव्य की अविच्छिन्न परम्परा प्रकाश में आई है। इस प्रकार प्राचीन युग में जिस स्वानुभूति प्रधान गुह्य साधना का आरम्भ हुआ, वह मध्यकाल से होती हुई वर्तमान समय तक चली आई है।

(५) जैनों पर प्रायः यह आरोप लगाया जाता रहा है कि उनकी रचनाएँ धार्मिक संकीर्णता से ग्रस्त हैं। उनमें केवल शुष्क उपदेश और नीरस सिद्धान्तों का पिष्टपेषण हैं। अतएव वे साहित्य की सीमा में नहीं आतीं। इस अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि जैन रचनाएँ मात्र नीरसता और शुष्कता का भाण्डार नहीं हैं अपितु उनमें भी काव्य रस का चरम परिपाक मिलता है और किसी भी भाषा के वे गौरव ग्रंथ बन सकते हैं।

(६) यह भी स्पष्ट होता है कि रीतिकाल केवल 'शृङ्गार काल' ही नहीं था, अपितु उस युग में भी आनन्दघन, भैया भगवतीदास और द्यानतराय सदृश श्रेष्ठ संत कवि हुए अर्थात् जिस समय अन्य कवि शृङ्गार वर्णन द्वारा काम भावना का प्रसार कर सामन्तों और दरबारियों की विलास लिप्सा की तृप्ति में सहायक बन रहे थे, उस समय भी जैन कवि राजकीय ऐश्वर्यों और आर्थिक

लोभों का संवरण किए हुए जनता को अध्यात्म की पीयूष वर्षा से रस-स्नात कर रहे थे। इस प्रकार वे हिन्दी साहित्य को एकांगी बनने से भी बचा रहे थे। खेद है कि उत्तर मध्य युग के एक पक्ष के पूरक ये महाकवि हिन्दी के इतिहास-लेखकों द्वारा विस्मृत कर दिए गए।

(७) बनारसीदास, भैया भगवतीदास, संत आनन्दघन और रूपचन्द हिन्दी के उच्च कोटि के कवि हुए हैं। इनमें से बनारसीदास को हिन्दी का प्रथम आत्म-चरित लेखक और प्रौढ़ गद्य लेखक (ब्रजभाषा में) होने का भी गौरव प्राप्त है। हिन्दी साहित्य का इतिहास इन कवियों और तथ्यों को ध्यान में रखते हुए पुनः लिखा जाना चाहिए।

परिशिष्ट

खोज में प्राप्त नई रचनाओं के हस्तलेखों से उद्धृत अंश

आणंदा[1]

आनन्दतिलक

चिदानन्दु सो णन्दु जिणु सयल सरीरहं सोई।
महाणन्दि सो पूजियई आणन्दा रे! गगणि मंडलु थिरु होई ॥१॥
अपु णिरञ्जणु परम सिउ, अप्पा परमाणन्दु।
मूढ़ कुदेवण पूजियइ, आणन्दा रे! गुरु विणु भूलउ अन्धु ॥२॥
अठ्टसठ्टि तीरथ परिभमई मूढ़ा मरइ भमन्तु।
अप्प विन्दु ण जाणहि, आणन्दा रे! घट महिं देव अणन्तु ॥३॥
भिंतरि भरिउ पाउमलु, मूढा करहि सण्हाणु।
जे मल लाग चित्तमहि आणन्दा रे! किम जाय सण्हाणि ॥४॥
झाण सरोवरु अमिय जलु, मुणिवरु करइ सण्हाणु।
अठ्ट कम्म मल धोवहिं, आणन्दा रे! णियडा पाहुं णिव्वाणु ॥५॥
वेणी संगमि जिण मरहु, जलणिहिं झंप मरेहु।
साणग्गि हि तणु जालि करि, आणन्दा रे! कम्म पटल खडलेहु ॥६॥
सत्थु पढन्तउ मूढ़ मरइ, पालई जण विवहारु।
काई अचेयण पूजियई, आणन्दा रे! नाही मोज्झु दुवारु ॥७॥
वउ तउ संजमु सीलु गुण सहय महव्वय भारु।
एकण जाणई परम कुल आणन्दा! भमीयइ बहु संसारु ॥८॥
केइ केस लुचावहिं, केइ सिर जट भारु।
अप्प विन्दु ण जाणहिं आणन्दा! किम यावहिं भवपारु ॥९॥
तिणि कालु वाहि खसहिं, सहहिं परीसहं भारु।
दंसण णाणइं चाहिरउ आणन्दा! मरि सै ए जमु कालु ॥१०॥
पाखि मासि भोयणु करहिं पणिउ गासुनि रासु।
अप्पा ज्झाइण जाणहिं आणन्दा! तिहणइ जम पुरिवासु ॥११॥
बाहिरि लिंग धरेवि मुणि जु सइ मूढ णिवन्तु।
अप्पा इक्क ण झावहि आणन्दा! सिवपुरि जाइ णिभन्तु ॥१२॥
जिणवरु पुज्जइ गुरु थुणहि सत्थइं माणु कराइ।
अप्पा देव ण चिंतवहिं आणन्दा! ते णर जमपुरि जाइ ॥१३॥

---

१. आमेर शास्त्र भाण्डार में सुरक्षित प्रति से।

जोणीरुसिद्धहं साईयउ अरिज्झिय तं झाएहि ।
मोखु महापुरु णीयडउ आणन्दा ! भव दुहु पाणिय देहि ॥१४॥
जिणु असमत्थुवि मुांण भणइ, तारण मल्लु न होई ।
मारगु तिहुवण अक्खियउ, अणन्दा ! अप्पा करइ सु होई ॥१५॥
जिम वइसाणर कट्ठमहि कुसुमइ परिमलु होई ।
तिंह देह मइ बसइ जिव, आणन्दा ! बिरला बूझइ कोई ॥१६॥
हरिहर बंभु वि सिव णहो मणु बुद्धि लक्खिउण जाई ।
मध्य सरीरहे सो बसइ अणन्दा ! लीजहिं गुरुहिं पसाई ॥१८॥
फरस रस गन्ध वाहिरउ रुब बिहूणउ सोई ।
जीव सरीरहं विणु करि अणन्दा ! सदगुरु जाणई सोई ॥१९॥
देउ सचेयणुत्साइयाई तंजिय परि विवहारु ।
एक समईत्साणा रहहिं अणन्दा ! धग धग कम्म पयालु ॥२०॥
जापु जपइ वहु तव तवई तो विण कम्म हणेई ।
एक समउ अप्पा मुणइ आणन्दा ! चउ गइ पाणिउ दोई ॥२१॥
सो अप्पा मुणि जीव तुन्हु अणहंकरि परिहारु ।
सहज समाधिहिं जाणियई आणन्दा ! जे जिण सासणि सारु ॥२२॥
अप्पा संजमु सील गुण अप्पा दंसण णाणु ।
वउ तउ संजम देउ गुरु आणन्दा ! ते पावहि णिव्वाणु ॥२३॥
परमप्पउ जो झावइ सो साच्चउ विवहारु ।
सम्मकु बोधइ बाहिरउ आणन्दा ! कण विणु गहिउ पयालु ॥२४॥
माय बप्प कुल जाति विणु णउ तसुरोसुण रांव ।
सम्यक् दिठ्ठिहि जाणियइ आणन्दा ! सदगुरु करई समाउ ॥२५॥
परमाणन्द सरोवरहं जे मुणि करइ पवेस ।
अमिय महारसु जइ पिबई आणन्दा ! गुरुस्वामिहि उपदेसु ॥२६॥
महि साघहि रमणिहिं रमहिं रमहिं जे चक्काहि हवेइ ।
णाण बलेण जिणेव मुणि आणंदा ! सिवपुरि णियेडा होहि ॥२७॥
सिक्ख सुणइ सदगुरु भणइं परमाणंद सहाउ ।
परम जोति तसु उल्हसई आणंदा ! कीजइ णिम्मलु भाउ ॥२९॥
इंदिय मण बिछोहियउ चेतणु करइ प्रवेसु ।
उदय करंत उवारियउ आणंदा ! सुणउ जाणण देउ ॥३०॥
गयकू भत्थलि जेम दिढ केसरि करई पहारु ।
परम समाहि ण भुल्लहिं आणंदा ! दहियउ दुइ णिरकारु ॥३१॥
पुव्व किय मल खिज्जुरई णया ण होणइं देइ ।
अप्पा पुणु मणु रंमियउ आणंदा ! केवलणाण हवेई ॥३२॥
देव बजावहि दुन्दहिंहि थुणहिं जि बंभु मुरारि ।
इंद फणिदवि चक्कवइ आणंदा ! तिणिवि लागइ पायाई ॥३३॥
केवलणाणवि उपज्जई सदगुरु वचन पसाउ ।
जग सु चराचर सो मुणौ आणंदा ! रहरजु सहजु सुभाई ॥३४॥

सदगुरु तुठा पावयई मुक्ति तिया घर वासु।
सो गुरु निम्नुम्नाइय आणंदा ! जब लगु हियडइ सासु ॥३५॥
गुरु जिणवरु गुरु सिद्ध सिउ, गुरु रयणत्तय सारु।
सो दरिसावइ अप्प परु आणंदा ! भव जल पावइ पारु ॥३६॥
कुगुरुह पूजिम सिर घुणहु तीरथ काइ भमेहु।
देउ सचेयणु संघ गुरु आणंदा ! जो दरिसावहि भेव ॥३७॥
पढइ पढ़ावइ आचरइ सो णरु सिवपुर जाई।
कम्मह ण भवणि दलण्णि आणंदा ! भवियण हियइ समाई ॥३८॥
सुणतहं आणंद उल्लसई मस्तकि णाण तिलकु।
मुक दुमणि सि सोहवई आणंदा ! साहु गुरु पालाहु जोगु ॥३९॥
समरस भावें रंगिया अप्पा देखइ सोई।
अप्पउ जाणइ पर हणई आणंदा ! करई णिरालंब होई ॥३०॥
सुणतह हियडइ कलमलई मस्तकि उपज्जइ मूल।
अणखु वढावइ बहु हियइ आणंदा ! मिछा दिठ्टी जोगु।,४१॥
हिंदोला छंदि गाइयइं आणंदि तिलकु जिणाउ।
महाणंदि दखालियउ आणंदा ! अवहउ सिवपुरि जाई ॥४२॥
बलि काजउ गुरु आपणइ, फेडी मनह भरांति।
बिणु तेलहिं बिणु बातियहिं आणंदा ! जिणदरिसावयउ भेव ॥४३॥
दसद गुरु चारणि जउ हउ, भणइ महा आणंदि।
... ... ॥४४॥

॥ इति आणंदा समाप्त ॥

दोहाणुवेहा[1]

लक्ष्मीचन्द

पणविवि सिद्ध महा रिसिहि, जो परभावहं मुक्कु ।
परमाणंद परिठ्ठियउ, चउ गइ गमणहं चुक्कु ॥१॥
जइ बहिउ चउ गइ गमण, तो जिणउत्तु करेहि ।
दो दह अणुवेहा मुणहि, लहु सिव सुक्खु लहेहि ॥२॥
अद्धुय असरणु जिणु भणइं, संसारु वि दुइ खाणि ।
एकत्तुवि अण्णतु मुणि, असुइ सरीरु वियाणि ॥३॥
आसव संवर णिज्जर वि, लोया भाव बिसेसु ।
धम्मुवि दुल्लह बोहि जिय, भावें गलइ किलेसु ॥४॥
जल बुव्वउ जीविउ चवलु, धणु जोव्वण तडि तुल्लु ।
इसउ वियाणि वि मा गमहि, माणुस जम्मु अमुल्लु ॥५॥
जइ णिच्चु वि जाणियइ, तो परिहरहि अणिच्चु ।
तं काइं णिच्चुवि मुणहिं, इम सुय केवलि बुत्तु ॥६॥
असरणु जाणहिं सयलु जियु, जीवहं सरणु ण कोइ ।
दंसण णाण चरित्त मउ, अप्पा अप्पउ जोइ ॥७॥
दंसण णाण चरित्त मउ, अप्पा सरणु मुणेइ ।
अण्णु ण सरणु वियाणि तुंहु, जिणवरु एम भणेइ ॥८॥
तइ लोउ वि महु मरणु बहु, हउं कहु सरजहु जाम ।
इम जाणे विणु थिरु रहइ, जो तइ लोयकु साम ॥९॥
पंच पयारह परिभमइ, पंचइ बंधिउ सोइ ।
जाम ण अप्पु मुणेहि फुडु, एम भमंतिहु जोइ ॥१०॥
इक्किलउ गुणगण तिलउ, वीयउ अत्थि ण कोइ ।
मिच्छादंसणु मोहियउ, चउगइ हिंडइ सोइ ॥११॥
जइ संद्दसणु सो लहइ, तो परभाव चएइ ।
इक्किल्लव सिव सुहु लहइ, जिणवर एम भणेइ ॥१२॥
अण्णु सरीरु मुणेहिं जिय, अप्पउ केवलि अण्णु ।
तो अणु विसयलु वि चयहि, अप्पा अप्पउ मण्णु ॥१३॥

---

१. आमेर शास्त्र भांडार जयपुर में सुरक्षित प्रति से ।

जिम कठ्ठइ उहणहं मुणहि, वड्ढमानरु फुडु होइ।
तिम कम्मह उइणहं भविय, अप्पा अण्णु ण होइ ॥१४॥
सत्त घाडमउ पुग्गलु वि, किमि कुलु अमुइ निवासु।
तहिं णाणिउं किमइं करइ, जो छंडइ तव पासु ॥१५॥
असुइ सरीरु मुणेहि जइ, अप्पा णिम्मलु जाणि।
तो असुइ वि पुग्गलु चयहि, एम भणंति हु णाणि ॥१६॥
जो स सहाव चएवि मुणि, परभावहिं परणेइ।
सो आसउ जाणेहि तुहुं, जिणवर एम भणेइ ॥१७॥
आसउ संसारह मुणहि, कारणु अण्णु ण कोइ।
इम जाणेविणु जीव तुहुं, अप्पा अप्पउ जोइ ॥१८॥
जो परियाणइं अप्प परु, जो परभाउ चएइ।
सो संवर जाणेवि तुहुं, जिणवर एम भणेइ ॥१९॥
जय जिय संवरु तुहुं करहि, भो ! सिव सुक्खु लहेहि।
अण्णु वि सयलु परिहरहु, जिणवर एम भणेहि ॥२०॥
सहजाणंद परिट्ठियइं, जो परभाव ण विति।
ते सुहु असुहु वि णिज्जरहिं, जिणवरु एम भणंति ॥२१॥
स सरीरु वि तइ लोउ मुणि, अण्णु ण वीयउ कोइ।
जहिं आधार परिठ्ठियउ, सो तुहुं अप्पा जोइ ॥२२॥
सो दुल्लह लाहु वि मुणहिं, जो परमप्पय लाहु।
अण्णु ण दुल्लह किंपि तुहु, णाणि बोलहिं साहु ॥२३॥
पुणु पुणु अप्पा झाइवइ, मण-वय-काय-त्ति-सुद्धि।
राग रोस बे परिहरिवि, जइ चाहहि सिव सिद्धि ॥२४॥
राग रोस जो परिहरिवि, अप्पा अप्पहि जोइ।
जिणसामिउ एमउ भणइं, सहजि उपज्जइ सोइ ॥२५॥
जो जोवइ सो जोइयइ, अण्णु ण जोयहिं कोय।
इमि जाणेविणु सम रहं, सइं यहु पइयड होय ॥२६॥
को जोवइ को जोइयइ, अण्णु ण दीसइ कोइ।
सो अखण्ड जिणु उत्तियउ, एम भणंतिहु जोइ ॥२७॥
जो सुण्णु वि सो सुण्णु मुणि, अप्पा सुण्णु ण होइ।
सल्लु सहावें परिहवइं, एम भणंति हु जोइ ॥२८॥
परमाणंद परिट्ठियहि, जो उपज्जइ कोइ।
सो अप्पा जाणेवि तुहुं, एम भणन्ति हु जोइ ॥२९॥
सुधु सहावें परिणवइ, परभावहं जिण उत्तु।
अप्प सहावें सुण णवि, इम सुइकेवलि उत्तु ॥३०॥
अप्प सरूवहं लइ रहहिं, छंडय सयल उपाधि।
भणइं जाइ जोईहिं भणउ, जीवह एह समाधि ॥३१॥
सो अप्पा मुणि जीव तुहुं, केवल णाणु सहावु।
भणइ जोई जोईहि जिउ, जइ चाहहि सिवलाहु ॥३२॥

जोइय जोउ निवारि, समर सताइ परिठ्ठियइ ।
अप्पा अण्णु विचारि, भणइं जोइहि भणिउ ॥३३॥
जोइय जोयइ जीओ, जो जोइज्जय सो जि तुहुं ।
अण्णु ण वीयइ कोइ, भणइं जोइ जोइहिं भणिउ ॥३४॥
सोहं सोहं जि हउं, पुणु पुणु अप्पु मुणेइ ।
मोक्खहं कारिण जोइया, अप्पु म सो चिंतेइ ॥३५॥
धम्मु मुणिज्जहिं इक्कु पर, जइ चेयण परिणामु ।
अप्पा अप्पउ झाइयइ, सो सासय सुहु धामु ॥३६॥
ताईं भूप विडंवियओ, णो इत्थहि णिव्वाणु ।
सो न समीहहिं तत्तु तुहुं, जो तइलोय पहाणु ॥३७॥
हत्थ अहुट्ठ जु देवलि, तहि सिव संतु मुणेइ ।
मूढा देवलि देव णवि, भुल्लउ काइं भमेइ ॥३८॥
जो जाणइ ति जाणियउ, अण्णु णय जाणइ कोइ ।
धंधइ पडियउ सयलु जगु, एम भणंति हु जोइ ॥३९॥
जो जाणइ सो जाणियइं, यहु सिद्धंतइं सारु ।
सो झाइज्जइ इक्कु पर, जो तइलोयह सारु ॥४०॥
अज्झवसाण णिमित्तइण, जो बंधिज्जइ कम्मु ।
सो मुच्चिज्जइ तो जि परु, जइ लब्भइ जिण धम्मु ॥४१॥
जो सुहु असुहु विवज्जियउ, सुद्ध सचेयण भाउ ।
सो धम्मु वि जाणेहिं जिय, णाणी बोल्लहिं साहु ॥४२॥
धेयहं धारणु परिहरिउ, जासु पइठ्ठइ भाउ ।
सो कम्मेण हि बंधयइं, जहिं भावइ तहिं जाउ ॥४३॥
सो दोहउ अप्पाण हो, अप्पा जो ण मुणेइ ।
सो झायतहं परमपउ, जिणवरु एम भणेइ ॥४४॥
वउ तउ णियमु करंतयहं, जो ण मुणइ अप्पाणु ।
सो मिच्छादिठ्ठि हवइ, णहु पावहि णिव्वाणु ॥४५॥
जो अप्पा णिम्मलु मुणइ, वय तव सील समाणु ।
सो कम्मक्खउ फुडु करइ, पावइ लहु णिव्वाणु ॥४६॥
ए अणुवेहा जिण भणय, णाणी बोलहिं साहु ।
ते ताविज्जहिं जीव तुहुं, जइ चाहहिं सिव लाहु ॥४७॥

॥ इति अणुवेहा ॥

दोहापाहुड़[1]

महयंदिण मुनि

।। ॐ नमोवीतरागाय नमः ।।

जयत्यशेषतत्वार्थ प्रकाशिप्रथितश्रियः ।
मोहध्वांतौघनिर्भेदि ज्ञानज्योतिर्जिनेशिनः ।।१।।
नमोस्त्वनन्ताय जिनेश्वराय············ ·····।
···।।२।।
बारह विउणाजिण णवमि किय बारह अक्खरक्क ।
महयंदिण भवियायणहो णिसुणहु थिरमणथक्क ।।३।।
भव दुक्खह [illegible] वीरचंदसिस्सेण ।
भवियह पडिबोहणकया, दोहाकव्वमिसेण ।।४।।
एक्कु जु आखरु सारु, दुइज जण तिण्णि वि मिल्लि ।
चउतीसगल्ल तिणिसय, विरचिय दोहा वेल्लि ।।५।।
तेतीसह छह छंडिया, विरचिय सत्तावीस ।
बारह गुणिया तिण्णिसय, हुअ दोहा चउवीस ।।६।।
कुगुरु कुदेउ कुधम्म जिय, परिहरि कुतउ कुमग्गु ।
मिच्छाभाव परिच्चयवि, सम्मदंसणि लग्गु ।।१२।।
खीरह मंझहं जेम घिउ, तिलइ मंझि जिम तिलु ।
कट्ठिउ वासणु जिम बसइ, तिम देहहि देहिल्लु ।।२३।।
क्खुद्द भाव जिय परिहरहि, सुहभावहिं मणु देहि ।
तवं वय णियमहि संजमहिं, दुक्कियकम्म क्खवेहि ।।२४।।
गोरउ कालउ दुब्बलउ, बलियउ एउ सरीरु ।
अप्पा पुणु कलि मल रहिउ, गुणचंतउ असरीरु ।।४०।।
घोकइ पढइ सुअक्खरइ, अणहकहइविचारि ।
अप्पणु किंप ण आयरइ, ते हिंडइ संसारि ।।५२।।
चेयणु अप्पा एकु पर, पुग्गलु दव्वु अयाणु ।
जोइय महयंदिण कहिउ, एउ परमत्थिण जाण ।।६२।।

---

1. आमेर शास्त्र भांडार जयपुर में सुरक्षित प्रति से ।

छायातरु सिवपंथडइ, जिनवर त्तुंगु विसाणु ।
क्खणि बीसमहि जे तासु तलि, सुहु बंधहि णिव्वाणु ।।६९।।
छिर्णहिं झाण कुट्ठारिण, मूलहो माया बेल्लि ।
पइसिवि जिणवर वरसमइ, समर महावहि खेल्लि ।।७०।।
छीरह नीरह हंसु जिम, जाणइ जुव जुव भाउ ।
तिम जोइय जिय पुग्गलहिं, करहि त सिवपुरि ट्ठाउ ।।७१।।
छुडु अंतरु परियाणि जइ, बाहरि तुट्टइ नेहु ।
गुरुहं पसाइ परमपउ, लब्भइ निस्संदेहु ।।७२।।
जव तव वेयहि धारणहिं, कारणु लहण न जाइ ।
देहप्पुवि गुरु बिरहियहं, जोइण सउ पडिहाइ ।।९१।।
झंपिवि घरि पंचेंदियइ, णिय णिय विसयहं जंत ।
किन पेछहि झाणट्ठियउ, जिण उवएस कहंत ।।१०२।।
ते किं देवें किं गुरुणें, धम्में णय किं तेण ।
अप्पह चित्तहं णिम्मलउ, पच्चउ होइ ण जेण ।।१५८।।
तोसु रोसु माया मयणु, मउ मछरु अहंकारु ।
कोहु लोहु जइ परिहरहिं, ता छिज्जइ संसारु ।।१६०।।
थप्पिय थावर जंगमहिं, जंगम देवं ण भंति ।
परिभावहि मणि अप्पणइं, सीस कि सिलह तरंति ।।१६४।।
थोडउ अछइ यह विसउ, भाउ म देसिम अत्थु ।
जिम अप्पहं पुणु तिम परहं, चिंतहि इउ परमत्थु ।।१७२।।
दमु दय संजमु णियमु तउ, आजंमु वि किउ जेण ।
तासु मरंतहं कवणु भउ, कहियउ महइंदेण ।।१७६।।
दैवह दोसु म देहि तुहुं, खल संयम चल भाय ।
हिंडइ घरि घरि असइ जिम, दिंति जुवाणहं ताव ।।१८३।।
धम्मु ण मत्थइ मुंडियइं, अंगि न लग्गइ छारि ।
मण वय कायहि होय फुडु, परिहरियइ परिवारि ।।१८८।।
घरि मणु मक्कडु अप्पणउं, घंल्लंतउ आलाउ ।
तउ तरुडालहि जइक्खसिउ, फलह ण कडुवउ साउ ।।१९९।।
नव कारहिं पंचहिं सहिउ, करइ जु मुणिस णासु ।
पंचाणुत्तरि मोक्खिलहु, निछउ होइ णिवासु ।।२००।।
निच्चु म देहु ण बिहउ थिरु, मरणुविअविणाभाय ।
इव जाणंत्तुवि जीव तुहु, धम्मु ण करहि कयावि ।।२०२।।
नूनं नरय पडंतयहं, जिणवरु करइ परत्त ।
परमत्थिण भत्तिय सहिउ, जइ सुमरिज्जइ मित्त ।।२०५।।
फीट्टी एवहि भंतडी, महुचित्तहं परमत्थु ।
सिरि गुरु फुडु विच्चारियउ, कहियउ जिणहि वयत्थु ।।२२७।।
फुडु एत्तिउ मइ जाणियउ, झाणे केवलणाणु ।
केवलणाणें नित्तुलउ, पाविज्जइ निव्वाणु ।।२२८।।

फणहरि मुक्कउ कंचुवउ, जं विसु तेण मुएहि ।
जिण लिंगेण व तइयएण, विसय ण चित्तु मुएहि ॥२३५॥
बाल मरणु मुणि परिहरहिं, पंडिय मरणु मरेहि ।
बारहंजिन सासण कहिय, अणुवेक्खउ सुमरेहि ॥२३७॥
बुज्झहि अप्पा [illegible] परु परु परियाणेहि ।
ता महइंदिण तउ कहिउ, सिवपउ सइ पावेहि ॥२४०॥
बंभणु खत्तिउ वइसु वरु, जोइहि धवनु न होइ ।
वइभरुलेविणु जो चडइ, सो कालउ धवलेइ ॥२४६॥
भल्लउ जइ [illegible], इच्छहि तो करि एहु ।
दोस अट्ठारह वज्जियउ, झायहि जिणवरु देउ ॥२४८॥
भेउ ण जोवहु पुग्गलहं, पइ भाविउ ण कयावि ।
ते पुछंत्तु वि परिभमहिं, महु परमप्पा दावि ॥२५४॥
मे परियणु मे धणु धणु, मे सुअ मेदा गाइं ।
झूउ चित्तंतह जीव तुहुं, गयभव कोडि सयाइं ॥२६६॥
मोक्खु सु वुच्चइ जिणसमइ, जो कम्माहं अभाउ ।
सच्चारित्तु वि मणहि जिय, जेत्थु न पुण्णु न पाउ ॥२६८॥
मउ मच्छरु माया मयणु, मण कारसहु माणु ।
सव्व पयारइ परिहरहिं, पावहि तउ निव्वाणु ॥२७१॥
रूव गंध रस फंसडा, सद्द लिंग गुण हीणु ।
अछइ सी देहडिय सउ, घिउ जिम खीरह लीणु ॥२७७॥
रेचय पूरय कुंभयहि, इड़ पिंगलहि म जोइ ।
नाद विंद कलवज्जियउ, संतु निरंजणु जोइ ॥२७८॥
लब्भहिं हय गय गोहणइं, मणि कंचण वरगांव ।
दुलहउ भवसायर तरणि, जिणदेसणजियणांव ॥२८४॥
लेज्जहु लइयउ करहु जिम, हिंडइ देस असंक्ख ।
कम्म निबद्धउ जीवत्तहु, तिम चउरासी लक्ख ॥२९०॥
सिवतंदुल जिम सालियहिं, नीरुहु आसि कढंति ।
तिम अप्पा अप्पहि सहिउ, सिज्झइ अवसु ण भंति ॥३१०॥
संकलु कंचणु लोहमउ, बंधह कारणु जेम ।
पुण्णु पाव बंधण निविड, विण्णिवि जीवह तेम ॥३१८॥
हियय सरोवरु हंसठिउ, जिम भवणट्ठिउ दीउ ।
अछइ महयंदिण कहिउ, [illegible] ॥३२२॥
हसिहंथि मभु कव्वं, [illegible] ।
जे लक्खणे अक्खुणा, अहपि निलक्खणो मुक्खो ॥३३१॥
छवंज्जय दह चारिसुर, [illegible] परिचत्त ।
महयंदिण सेसकरहं, वारकव्वदिय सम्मत्त ॥३३२॥
विण्णि देव गुरु तिण्ण, सरस्सइ संभवि ।
सुवण सत्थु अब्भथवि, दुजण परिहरिवि ॥३३३॥

किय बारक्ख म कक्क, सलक्खण दोहाहिं।
भवियहं पडिबोहत्थु, जिणागम सोहाहिं ॥३३४॥
जो पढ़इ पढ़ावइ संभलइ, देविणुदविलिहावइ।
महयंदु भणइं सो नित्तुलउ, अक्खइ सोक्खु परावइ ॥३३५॥

॥ इति दोहापाहुडं समाप्तं ॥

संवत १६०२ वर्षे बैसाखसुदि १० तिथौ रविवासरे नक्षत्र उत्तरफाल्गुनक्षत्रे राजाधिराजसाहि आलमराजे। नगर चंपावती मध्ये ॥ श्री पार्श्वनाथ चैत्यालए ॥ श्री मूलसिंघे नव्याम्नावये वताकार गणे सरस्वती गदे भट्टारक श्री कुन्दकुन्दाचार्यान्विये। भट्टारक श्री पद्मनन्दीदेवातत्पट्टे भट्टारक श्री सुभचन्द्रदेवा तत्पट्टे भट्टारक श्री जिन चन्द्रदेवातत्पट्टे भट्टारक श्री प्रभाचन्द्रदेवा तत् सिष्य मंडलाचार्य श्री धर्मचन्द्रदेवा। तदाम्नायेषंडेलवात्मान्वये समस्तगोठिक सास्त्रकल्याण व्रतं निमित्ते अर्ज्जिका विनय श्री सजोग्यूदत्तं। ज्ञानवान्यानदानेन। निर्भयो। अभइट्ठानतः। अंबदानातसुषी नित्यं निव्वाधीभेषजाद्भवेत् ॥छ॥

आतम प्रतिबोध जयमाल[1]

छीहल

(रचनाकाल-सं० १५७५)

पणविवि अरहंतहं गुरु णिग्गंथह केवलणाण अणंतगुणी ।
सिद्धहं पणवेप्पिणु कमर उलेप्पिणु सोहं सासय प (र) म मुणी ।।छ।।

हउं दंसण णाण चरित्त सुद्धु ।
हउं देह पमाणुवि गुण समिद्धु ।।
हउं परमाणंदु अखंड देसु ।
हउं णाण सरोवर परम हंसु ।।
हउं चेयण लक्खण णाण पिंडु ।
हउं परम णिरंजण गुण पयंडु ।।
हउं सहजाणंद सरूव सिंधु ।
हउं सुद्ध सहाव अखंड बुद्धु ।।
हउं णिक्कल हउं पुणु णिरुकसाय ।
हउं कोह लोह गय वीयराय ।।
हउं केवलणाण अखण्ड रूव ।
हउं परम जोयि जोई सरूव ।।
हउं रयणत्तय चउविह जिणंदु ।
हउं बारह चक्केसर णरिंदु ।।
हउं णव पडिहर णव बासदेव ।
हउं णव हलहर पुणु कामदेव ।।

घत्ता-छालिह गुण सायरु, वसु गुण दिवायरु ।
आयिरिहि छत्तीस गुण ।
पणदह सासणु धम्म पयासणु हउ
अणवीस गुण ससिणि मुणि ।।

"इति आत्मसम्बोधन जयमाल समाप्त:"

---

१. दिगम्बर जैन मन्दिर बड़ा तेरहपथियों (जयपुर) की प्रति से ।

श्री चूनरी[1]

भगवतीदास

(रचनाकाल-सं० १६८०)

आदि आदि जिनेसर बदौं पइं मण वय काइ त्रिसुद्धि हो।
सारद पद प्रणमूं सदा उपजै निर्मल बुद्धि हो॥
मेरी सील सुरंगी चूंनड़ी ॥१॥
तुम्ह जिनवर देहि रंगाइ हो बिनवइ सषी पिया सिव सुन्दरी।
अरुण अनुपम माल हो मेरी भव जल तारण चूंनड़ी ॥२॥
समकित वंस्त्र बिसाहिले ज्ञान सलिल संगि सेइ हो।
मल पचीस उतारि कै दिढिपन साजी देइ जी ॥मेरी० ३॥
देस दया गहि पुरभला, जिण सासण धर्म सुजाण हो।
रंग रंगीले छी पिया तिहां चारित बसैं सुजाण हो॥
मेरी सिधिकधूकी चूंनड़ी ॥४॥
दया धर्म के छीं पिया नेम संजम सेल लगाइ हो।
सुमति घटकड़ी पोतीए गुपति सुमांई लाय हो॥
मेरी मोह निवारण चूंनड़ी ॥५॥
पंच महाव्रत कांति सुं हरदै लाइ अनूप हो।
मन में दान बिछाइ कइ सौंध सुकावहु धूप हो ॥मेरी० ६॥
अंत अकिंचन पुर में षरे अजब फूट सुहाल हो।
क्रीया ते वाणी अमृती बूरा भाव रसाल हो ॥मेरी० २५॥
सीरा सिषिरणि षीर ही दाल भात ए पांच हो।
पंच परम गुरु मंत्र हइ हृदय न टालहु रंच हो ॥मेरी० २६॥
बड़े पथौंड़े सागले काचर पापड़ सोइ हो।
पांच अणुबृत जांणीए लौंन खटाइ सोइ हो ॥मेरी० २७॥
दूध दही घीव ईष रस सुनि सिक्षा व्रत चारि हो।
मेवा जाति अनेक जे गुण ग्रन्थ विचारि हो ॥मेरी० २८॥
उपसमरस पाणी चलूं क्षय उपसमरस सींक हो।
क्षयक मुष तंबोल दे छोतिन रहे अलीक हो ॥मेरी० २९॥

---

१. प्रति मगोरा, जि० मथुरा निवासी पं० बल्लभराम जी के पास सुरक्षित।

बड़ जानी गणधर तहां भले परोसण हार हो।
सिव सुन्दरी के व्याह कौं सरस भई ज्यौंणार हो ।।मेरी० ३०।।
त्रियक श्रेणी मारग भला तिस चाले जिणराय हो।
घातीय कर्म विडारि कैं सिद्धै पहुंचे जाय हो ।।मेरी० ३१।।
मुक्ति रमणि रंग स्यौं रमैं वसु गुण मंडित सोइ हो।
अनंत चतुष्टय सुप घणां जन्म मरण नहिं होइ हो ।।मेरी० ३२।।
सहर सुहावै बूडीए भणत भगौतीदास हो।
पढ़ै गुणै सो हृदै धरइ जो गावैं नर नारि हो ।।मेरी० ३३।।
... ... ।
लिषै लिषावै चतुर ते उतरे भव पार हो ।।मेरी० ३४।।
राजबली जहाँगीर कै फिरइ जगति तस ग्रांण हो।
शशि रस वसु विदा धरहु संवत सुनहु सुजांण हो ।।मेरी० ३५।।

।। इति श्री चूनरी समाप्त ।।

स्फुट पद[1]

रूपचन्द

चेतन चेति चतुर सुजान।
कहा रंग रच रह्यौ पर सौ, प्रीति करि अति वान ॥१॥चे०॥
तुं महन्तु त्रिलोकपति, जिय जान गुन परधान।
यह चेतन हीन पुदगलु, नाहिं न तोहि समान ॥२॥चे०॥
होय रह्यौ असमरथु अप्पु न, परु कियौ पजवान।
निज सहज सुख छोडि परबस, पर्यौ है किहि जान ॥३॥चे०॥
रह्यौ मोहि जु मूद यामे, कहा जानि गुमान।
रूपचन्द चित्त चेति परु, अपनौं न होइ निदान ॥४॥चे०॥

पद[2]

औरन सो रंग न्यारा न्यारा, तुम सूं रंग करारा है।
तू मन मोहन नाथ हमारा, अब तो प्रीति तुम्हारा है ॥१॥औ०॥
जोगी हुवा कान फंडाया, मोटी मुद्रा डारी है।
गोरख कहै त्रसना नहीं मारी, घरि घरि तुम ची न्यारी है ॥२॥औ०॥
जग मे आवै बाजा बजावै, आछी तान मिलावै है।
सबका राम सरीखा जान्या, काहे को भेष लजावै है ॥३॥औ०॥
जती हुआ इन्द्री नहीं जीती, पंच भूत नहिं मार्या है।
जीव अजीव को समझा नाहीं, भेष लैइ करि हार्या है ॥४॥औ०॥
वेद पढ़ै अरु बराभन कहावै, बरम दस नहीं पाया है।
आत्म तत्व का अरथ न समज्या, पोथी मा जनम गुमाया है ॥५॥औ०॥
जंगल जावै भस्म चढ़ावै, जटा व धारी कैसा है।
परभव की आसा नहिं मारी, फिर जैसा का तैसा है ॥६॥औ०॥
काजी किताब को खोलि कै बैठे, क्या किताब में देख्या है।
बकरी की तो दया न आनी, क्या देवैगा लेखा है ॥७॥औ०॥
जिन कंचन का महल बनाया, उनमें पीतल कैसा है।
डरे गरे में हार हीरे के, सब जुग का जी कहता है ॥८॥औ०॥
रूपचन्द रंग मगन भया है, नेम निरंजन प्यारा है।
जनम मरण का डर नहीं, वाकु चरना सरन हमारा है ॥९॥औ०॥

---

१. अभय जैन ग्रंथालय, बीकानेर की प्रति से।
२. छाबड़ों का मन्दिर, जयपुर में सुरक्षित प्रति से।

दोहापरमार्थ[1]

रूपचन्द

अपनौ पद न बिचारहु, अहो जगत के राइ ।
भव बन छाइ कहा रहे, सिवपुर सुधि बिसराइ ॥१॥
भव बन बसत अहो तुम्हे, बीते काल अनादि ।
अब किन घरहि संभारहु, कत दुख देखत बादि ॥२॥
परम अतेन्द्री सुख सुनौ, तुमहि गयो सु भुलाइ ।
किंचित इन्द्री सुख लगे, विषयन रहे लुभाइ ॥३॥
विषयन सेवत हुउ भले, तृष्णा तउ न बुझाइ ।
जिम जल खारा पीवतइ, बाढ़इ तिस अधिकाइ ॥४॥
विषयन सेवत दुख भलइं, सुख तुम्हारइ जानु ।
अस्थि चवत निज रुधिर ते, ज्यउ सचु मानत स्वान ॥७॥
विषयन सेवत दुख बढ़इ, दुखहु किन जिय जोइ ।
खाज खुजावत ही भला, पुनि दुख दूनउ होइ ॥९॥
लागत विषय सुहावने, करत जु तिन महि केल ।
चाहत हउ तुम कुसल ज्यउं, बालक फनि स्यउ खेल ॥१४॥

चेतन

चेतन सहज सुख ही बिना, इहु तृष्णा न बुझाइ ।
सहज सलिल बिन कहउ क्यउ, उसन प्यास बुझाइ ॥३०॥
चेतन तुमहि कहा भयउ, घर छाड़े बेहाल ।
संग पराए फिरत हउ, विषय सुखन कइ ख्याल ॥३१॥
सिव छंडे भव मंडहू, यहव तुम्हारउ ज्ञान ।
राज तजइ भिख्या भमइ, सो तुम कियउ कहान ॥३५॥
तन की संगति जरत हउ, चेतन दुःख अरु दाप ।
भाजन संग सलिलउ तपइ, ज्यउं पावक आताप ॥३९॥
खीर नीर ज्युं मिलि रहे, कउन कहइ तनु अउरु ।
तुम चेतन समझत नहीं, होत मिले मैं चउरु ॥४०॥
स्वपर विवेक नहीं तुम्हइ, परस्यउ कहत जु अप्पु ।
चेतन मति विभ्रम भए, रजु विषइ ज्यउ सप्पु ॥४९॥

---

१. श्री बधीचन्द मन्दिर, जयपुर के शास्त्र भांडार में सुरक्षित प्रति से ।

परमात्मा शरीर में

घट भीतर सो आप हइ, तुमहि नहीं कछु यादि।
वस्तु मुट्ठी मइ भूलिकह, इत उत देखत बादि ॥५३॥
पाहन माहि सुवर्ण ज्यउं, दारु विषइ अंत भोजु।
तिम तुम व्यापक घट विषइ, देखहु किन करि खोजु ॥५४॥
पुष्पन विषइ सुवास जिम, तिलन विषइ जिम तेल।
तिम तुम व्यापक घट विषइ, निज जानइ दुहु खेल ॥५५॥
दरिशन ज्ञान चरित्रमइ, वस्तु बसइ घट माहि।
मूरिख मरम न जानही, बाहिर सोधन जाहि ॥५६॥

दर्शन ज्ञान चरित्र

दरिशन वस्तु जु देखियइ, अरु जानियइ सु ज्ञान।
चरण सुथिर ता तिह विषइ, तिहूं मिलइ निरवान ॥५८॥
रतन त्रय समुदाय बिन, साध्य सिद्धि कहुं नांहि।
अंध पंगु अरु आलसी, जुरे जरहि दउ मांहि ॥५९॥
दरिशन ज्ञान चरित्र ए, तीन्यउ साधक रूप।
ज्ञाइक मात्र जु वस्तु हइ, ताही कइ जु सरूप ॥६२॥

निश्चय और व्यवहार नय

विंजन पर्यय नित्य ज्यउ, निहचइ नइ सम वाइ।
व्यवहार नय सु वस्तु हइ, छणक अर्थ पर्याइ ॥७६॥
निहचइ नइ परभाव कइं, करता सु भुगता नाहि।
व्यवहारइ घटकार ज्यउं, सु करइ भुगतइ ताहि ॥८०॥
सुद्ध निरंजन ज्ञानमइ, निहचइ नइ जो कोइ।
प्रकृति मिलइ व्यवहार कइ, मगन रूपह सोइ ॥८१॥
निहचै मुक्त सुभाव ते, बंध कहयउ व्यवहार।
एवमादि नय जुगति कइ, जानहुं वस्तु विचार ॥८३॥

जप-तप सिद्धि-दायक नहीं

चेतन चित्त परिचइ विना, जप-तप सबह निरत्थु।
कण बिन तुस ज्यउं फटकतइ, आवइ कछू न हत्थु ॥८६॥
चेतन स्यउं परिचइ नहीं, कहा भए व्रत धारि।
सालि बिहूना खेत की, वृथा बनावत वारि ॥८७॥
ग्रंथ पढ़ै अरु तप तपै, सहै परीसह साहु।
केवल तत्व पिछान बिनु, कहूं नहीं निरवाहु ॥९४॥

गुरु-महत्व

गुरु बिन भेद न पाइय, को पर को निज वस्त।
गुरु बिन भव सागर विषइ, परत गहइ को हस्त ॥९७॥
गुरु माता अरु गुरु पिता, गुरु बंधव गुरु मित्त।
हित उपदेसइ कमल ज्यउ, बिगसावइ जन चित्त ॥९९॥
गुरुनि लखायउ मइ लख्यउ, वस्तु रम्य पर दूरि।
मनसि सुरम कहना लहइ, सूत्र रह्यउ भरपूरि ॥१००॥
रूपचन्द सदगुरन की, जन बलिहारी जाइ।
अपुन जे सिवपुर गए, भव्यन पंथ लगाइ ॥१०१॥

"इति रूपचन्द कृति दोहा परमार्थ संपूर्ण।"

अध्यात्म सवैया[1]

रूपचन्द

सुगुरु सुदेव जाकी कीजै बिध सेव,
सदा धरीयै सुध्यान ग्यान आतम सुभाव है।
आतमा अनूप रूप परम सुजीव जान,
करुनानिधान महामोह को अभाव है॥
धरीयै सहज धीर हिरदै धरम सांचौ,
ताहि माहि राचौ कुन आप निज भाव है।
चंद गुरुदेव सेव सुख है सरूप जाकौ,
यहै घट तीरथ भौ, सिन्धु कौ नाव है॥१९॥
पर मैं न जानै आप, आप ही रह्यौ व्याप,
ऐसो सुध ग्यान है निदान मोछ पंथ कौ।
देव गुरु धरम सौ धरी मन ठीक ऐसी,
न मैं न मिथ्याती काहू ऐसो मन सन्त कौ॥
जग्यौ है विवेक घट त्याग्यौ है अग्यान हट,
गयो है भरम नठ सुमति के कन्त कौ॥
घट में प्रगट भयौ सिंघ सारदूल ग्यान,
गयो वल घट सो मिथ्यात मयमन्त कौ॥२२॥
भूल गयौ निज सेज महासुख, मान रह्यौ सुख सेज पराई।
आस हुतासन तेज महा, जिहि सेज अनेक अनन्त जराई॥
थित पूरी भई जु [illegible] कौ, हति भेद विग्यान घटा जुभराई।
उमग्यौ समिता रस मेघ महा, जिह वेग ही आस हुतास सिराई॥
काहू न मिलायौ जाने करम संजोगी सदा,
छीर नीर पाइयौ अनादि ही का धरा है।
अमिल मिलाय जड़ जीव गुन भेद न्यारे,
न्यारे पर भाव परि आप ही में धरा है॥
काहू भरमायौ नाहि भर्म्यौ भूल आपन ही,
आपने प्रकास कै विभाव भिन्न धरा है।
साचौ अविनासी परमातम प्रगट भयौ,
नास्यौ है मिथ्यात वस्यौ जहाँ ग्यान धरा है॥९५॥

इसी प्रकार के १०१ कवित्त सवैया छन्दों में यह ग्रन्थ पूर्ण हुआ है। अन्त में लिखा है 'इति श्री अध्यातम रूपचन्द कृत कवित्त समाप्त।'

---

१. श्री बधीचन्द मन्दिर, जयपुर के शास्त्र भाण्डार में सुरक्षित प्रति से।

खटोलना गीत

रूपचन्द

भव रति मंदिर पौढियो, खटोला मेरो कोपादिक पग चारि।
काम कपट सीरा दोऊ, चिन्ता रति दोऊ पाटि ॥१॥
अविरति दिढ़ बाननि बुनो, मिथ्या माई विसाल।
आशा अडवाइनि दई, शंकादिक वसु साल ॥२॥
रचिउ गठिउ मन बाढ़ई, बहु विधि कर्म सहाय।
प्रथम ध्यान दोउ कारने, वा सिरखा नीलाइ (?) ॥३॥
राग दोष दोउ गडुवा, कुमति सुकोमल सौरि।
जीव पथिक तंह पौढियो, पर परिणति संग गौरि ॥४॥
मोह नींद सूतैं रहिउ, लागी विषय हवास।
पंच करण चोरनि मिलै, मूसउ सकल अवास ॥५॥
अनादि काल सोतै गयो, अजहूँ न जागइ मान।
मोह नींद टूटै नहीं, क्यों पावै निरवान ॥६॥
सोते सोते जागिया, ते नर चतुर सुजान।
गुरु चरणायुध बोलियो, समकित भयो बिहान ॥७॥
काल रमन तब बीतई, ऊगो ज्ञान सुभानु।
भ्रान्ति तिमिर जब नाशियो, प्रगटउ अविचल थानु ॥८॥
छोडि खटोला तुरत ही, धरिवि दिगम्बर वेष।
गुप्त रतन तीनों लिए, ते रि गए शिव देश ॥९॥
सिद्ध सदा जहाँ निवसहीं, चरम शरीर प्रमाण।
किंचिइन मयनोभित, मूसा गगन समान ॥१०॥
परम सुखामृत पीव के, पाई सहज समाधि।
अजर अमर ते होइ रहै, नासी सकल उपाधि ॥११॥
सो अब हौं जागिसी, कब लहिहौं अवकाश।
मोह नींद कब टूटसी, कब लहिहौं शिववास ॥१२॥
रूपचन्द जन बीनवै, हूजौ तुव गुण लाहु।
ते जागा जे जागसी, ते हउं बन्दउ साहु ॥१३॥

॥ इति खटोलना गीत समाप्त ॥

---

१. आमेर शास्त्र भाण्डार, जयपुर में सुरक्षित प्रति से।

मनकरहारास

ब्रह्मदीप

श्री वीतरागाय नमः

मन करहा भव बनि मा चरइ,
तदि विष वेल्लरी बहूत ।
तहं चरंतहं वहु दुक्खु पाइयउ,
तब जानहि गो मीत ।।मन० १।।
अरे पंच पयारिइ तूं रुलिउ,
नरय निगोद मझारी रे।
तिरिय तनै दुख ते सहै,
नर सुर जोनि मझारी रे ।।मन० २।।
लख बावन जोनी लहै,
थावर गतिहि मझारी रे।
छह लखइ ··· लेन सिउ,
अजहु न तिजइ बिसारी रे ।।मन० ३।।
अरे लख बारह जोनी फिरइ,
नर सुर जोनि मझारी रे।
चउदह मणु वत णेह सिहु,
अजहुँ न समुझइ सोइ रे ।।मन० ४।।
अरे दोइ सहस सायर वसिउ,
वरु कायहं मझारी रे।
मुकति तणा फलु न लहिउ,
फिरि थावरहं मझारी रे ।।मन० ५।।
कर्म्म असंख्याते गए,
तव वे इन्द्री होई रे।
ते इन्द्री दुर्ल्लभ भई,
इउ भव हींडउ सोई रे ।।मन० ७।।

---

१. आमेर शास्त्र भांडार, जयपुर में सुरक्षित प्रति से ।

अन्तिम अरे पढत सुणत मन उल्हसइ,
जइ हिंडइ रुचि होई।
कर्म्म काटि मुकतिह वरइ,
जनमन बिछडइ सोई ।।मन० १९।।
भीमसेणि टोडउ मल्लउ,
जिन चैत्यालय आइ रे।
ब्रह्मदीप रासौ रचो,
भवियहु हिए समाइ ।।मन० २०।।
इति मनकरहा समाप्त

पद (राग विहानडौ)[1]

औधू सो जोगी मोहि भावै, सुध निरंजन ध्यावै ।।
सील डंड सुरतर समाधि करि, जीव जन्त न सतावै।
ध्यान अगनि वैराग्य पवन करि, इंधण करम जरावै ।।औधू०।।१।।
मन करि गुपत गुफा प्रवेश करि, समकित सींगी बावै।
पंच महाव्रत भसम साधि करि, संजम जटा धरावै ।।औधू०।।२।।
ग्यान कछोटा दो कर खप्पर, दया धारणा धावै।
सुमति गुपति मुद्रा अनुपम, सिवपुर भिख्या लावै ।।औधू०।।३।।
आप ही आप लखे घट भीतरि, गुरु सिख कौन कहावै।
कहै ब्रह्मदीप सजन समझाई, करि जोति में जोति मिलावै ।।औधू०।।४।।

पद (राग गौड़ी)[2]

सोहं हंसा गगन समान।
गगन सुन्न हंसा ग्यान प्रवान ।।
आदि न अन्त रूप नहि रेषा।
जोगी न जतिय दिगंबर भेषा ।। सोहं० ।।१।।
सरवर एक भरौ नहिं भीजै।
सरबि घटै पानी न ढहीजै ।। सोहं० ।।२।।
घटि उमड़ै जल दह दिस जाइ।
घट विघटै जल गगन समाइ ।। सोहं० ।।३।।
एक लौ आवै एक लौ जाइ।
ब्रह्मदीप राखहु लिवलाइ ।। सोहं० ।। ।।४।।

---

१. आमेर शास्त्र भांडार, जयपुर में सुरक्षित प्रति से।
२. पं० लूणकरण जी पांडया मंदिर, जयपुर में सुरक्षित प्रति से।

समाधितन्त्र

जसविजय उपाध्याय

आदि
समरि भगवती भारती, प्रणमी जिन जगबंध।
केवल आतम बोध को, करि सों सरस प्रबन्ध ॥१॥

केवल आतम बोध है, परमारथ शिव पंथ।
तामें जिनको ममनता, सोई भावनि यंथ ॥२॥

भोग ज्ञान जिउ बाल को, बाह्य ज्ञान की दौर।
तरुण भोग अनुभव जिस्यो, मगन भाव कछु और ॥३॥

अंत
दोधक सत कैं ऊपरयौ, तंत्र समाधि विचार।
धरो एह बुध कंठ में, भाव रतन को सार ॥१०२॥

ज्ञान विभाग चरित्र ये, नंदन सहज समाधि।
मुनि सुरपती समता शची, रंग रमे अगाधि ॥१०३॥

कवि जस विजय ए रचे, दोधक सतक प्रमाण।
एह भाव जो मन धरै, सो पावै कल्याण ॥१०४॥

मति सर्वंग समुद्र है, स्याद वाद नय शुद्ध।
षडदर्शन नदीयां कही, जाणों निश्चय बुद्ध ॥१०५॥

---

१. सरस्वती भांडार, मेवाड़ में सुरक्षित प्रति से।

उपदेश दोहाशतक[1]

पांडे हेमराज

(रचना काल—सं० १७२५)

दिव्य दृष्टि परकासि जिहिं, जान्यौ जगत असेस ।
निसप्रेही निरदुंद निति, बंदौं त्रिविध गनेस ।।१।।
कुपथ उथपि थापत सुपथ, निसप्रेही निरगंथ ।
असे गुरु दिनकर सरिस, प्रगट करत सिवपंथ ।।२।।
गनपत हिदय विलासिनी, पार न लहै सुरेस ।
सारद पदि नमि कै कहौं, दोहा हितोपदेस ।।३।।
आतम सरिता सलिल जँह, संजम सील बखानि ।
तहाँ करहि मंजन सुधी, पहुँचै पद निरवाणि ।।४।।
सिर साधन कौ जानिये, अनुभौ बड़ो इलाज ।
मूढ सलिल मंजन करत, सरत न एकौ काज ।।५।।
ज्यौं इन्द्री त्यौ मन चलै, तौ सब क्रिया अकत्थि ।
ताते इन्द्रीदमन कौ, मन मरकट करि हत्थि ।।६।।
पढ़ै ग्रंथ इन्द्री दवै, करै जु बरत विधान ।
अप्पा पर समुझै नहीं, क्यौं पावै निरवाण ।।८।।
कोटि जनम लौं तप तपै, मन बच काय समेत ।
सुद्धातम अनुभौ बिना, क्यौं पावै सिब खेत ।।१८।।
ठौर ठौर सोधत फिरत, काहे अंध अबेव ।
तेरे ही घट में बसै, सदा निरंजन देव ।।२५।।
पढ़त ग्रंथ अति तप तपत, अब लौं सुनी न मोष ।
दरसन ज्ञान चरित्त स्यौं, पावत सिव निरदोष ।।२७।।
कोटि बरस लौं धोइए, अढ़सठि तीरथ नीर ।
सदा अपावन ही रहै, मदिरा कुंभ सरीर ।।३०।।
तब लौं विषय सुहावनौ, लागत चेतन तोंहि ।
जब लौं सुमति बधू कहै, नही पिछानत मोंहि ।।४६।।

---

१. ठोलियों के मंदिर, जयपुर तथा बधीचन्द जैन मंदिर, जयपुर की हस्तलिखित प्रतियों के आधार पर लेखक द्वारा सम्पादित ।

खीर नीर ज्यों मिलि रहे, ज्यों कंचन पाखान।
त्यौं अनादि संयोग भनि, पुदगल जीव प्रवान ॥५८॥

सिव सुख कारनि करत सठ, जप तप बरत विधान।
कर्म्म निर्जरा करन कौ, सोहं सबद प्रमान ॥५९॥

ग्रीषम बरषा सीत रितु, पुनि तप तपत त्रिकाल।
रतनत्रय बिनु मोक्ष पद, लहै न करत जंजाल ॥७१॥

धोवत देह न धोइए, लगी चित्त रज गूढ़।
दर्पण के प्रतिबिम्ब मल, मांजत मिटै न मूढ़ ॥७९॥

उतनी सांगानेरि कौ, अब कामागढ़ वास।
तहां हेम दोहा रचे, स्वपर बुद्धि परकास ॥९८॥

कामागढ़ सू बस जहां, कीरति सिंघ नरेस।
अपनो खग वलि बस किए, दुर्जन जिनेक देस ॥९९॥

सत्रह सै र पचीस कौ, वरनै संवत सार।
कातिग सुदि तिथि पंचमी, पूरन भयो विचार ॥१००॥

एक आग रे एक सौ, कीए दोहा छंद।
जो हित दै बांचै पढ़ै, ता उरि बढ़ै अनंद ॥१०१॥

अध्यातम पंचासिका दोहा[1]

द्यानतराय

आठ कर्म के बंध में, बंधे जीव भव वास।
कर्म हेर सब गुण भरे, नमो सिद्ध सुखरास ।।१।।

जगत मांहि चहुं गति विषैं, जनम मरण बस जीव।
मुक्ति नाहिं तिहुंकाल में, चेतन अमर सदीव ।।२।।

मोक्ष माहि सेती कभी, जग में आवै नाहिं।
जग के जीव सदीव ही, कर्म करि सिव जाहिं ।।३।।

सुभ भावन ते पुन्य है, असुभ भाव ते पाप।
दुहु आच्छादित जीव सो, जान सकै नहिं आप ।।७।।

चेतन कर्म अनादि के, पावक काठ बखान।
खीर नीर तिल तेल ज्यौं, खान कनक पाखान ।।८।।

जो जानै सो जीव है, जो मानै सो जीव।
जो देखै सो जीव है, जीवै जीव सदीव ।।३५।।

पुद्गल सो चेतन बंध्यौ, यह कथनी है हेय।
जीव बंध्यौ निज भाव सौं, यही कथन आदेय ।।३८।।

तीन भेद व्यवहार सौं, सरब जीव सब ठाय।
बहिरन्तर परमातमा, निहचै चेतनराय ।।४४।।

जा पद में सब पद बसैं, दरपन ज्यौं अविकार।
सकल विकल परमातमा, नित्य निरंजन सार ।।४५।।

बहिरातम के भाव तजि, अंतर आतम होय।
परमातम ध्यावै सदा, परमातत ह्वै सोय ।।४६।।

बूंद उदधि मिलि होत दधि, बाती फरस प्रकास।
त्यौं परमातम होत हैं, परमातम अभ्यास ।।४७।।

सब आगम को सार जो, सब साधन को देव।
जाको पूजें इन्द्र सम, सो हम पायो देव ।।४८।।

---

१. लाला बाबू राम जैन, करहल, जि० मैनपुरी के पास सुरक्षित प्रति से (खोज रिपोर्ट १९३२—३४, पृ० १२९)

सोहं सोहं नित जपै, पूजा आगम सार।
सत्संगत में बैठना, यही करै ब्यौहार ॥४९॥
अध्यातम पंचासिका माँहि कह्यो जो सार।
द्यानत ताहि लगे रह्यो, सब संसार असार ॥५०॥

॥ इति ॥

फुटकल पद

आतम[1] रूप सोहावना कोई जान रे भाई।
जाके जानत पाइए, त्रिभुवन ठकुराई ॥ आतम० ॥१॥
मन इन्द्री न्यारे करौ, मति और बिचारौ।
विषय विकार सबै मिटैं, सहजै सुख धारौ ॥ आतम० ॥२॥
बाहिर ते मन रोक कै, जब अन्तर आया।
चित्त कमल सु लह्यो, तहां चिन्मूरति पाया ॥ आतम० ॥३॥
पूरक कुभंक रेचक तै, पहिले मन साधा।
ग्यान पवन मन एकता, भई सिद्ध समाधा ॥ आतम० ॥४॥
जिहि बिधि जिहि मन बस किया, तिन आतम देखा।
द्यानत मौनी ह्व रहै, पाई सुख रेखा ॥ आतम० ॥५॥

[2]आयो सहज बसंत खेलैं सब होरी होरा ॥ टेक ॥
उत बुधि दया छिमा बहु ठाढ़ी, इत जिय रतन सजे गुन जोरा ॥आयो०॥१॥
ज्ञान ध्यान डफ ताल बजत है, अनहद शब्द होत घनघोरा।
धरम सुराग गुलाल उड़त है, समता रंग दुहूँ ने फोरा ॥ आयो० ॥२॥
परसन उत्तर भरि पिचकारी, छोरत दोनों करि करि जोरा।
इततै कहैं नारि तुम काकी, उततें कहैं कौन को छोरा ॥आयो०॥३॥
आठ काठ अनुभव पावक में, जल बुध शांत भई सब ओरा।
द्यानत शिव आनन्द चन्द छबि, देखैं सज्जन नैन चकोरा ॥आयो०॥४॥

---

१. छाबड़ों का मंदिर (गुटका नं० ५०), जयपुर की प्रति से।
२. द्यानत पद संग्रह (पद नं० ८६) जिनवाणी प्रचारक कार्यालय, कलकत्ता।

गुरु[1] समान दाता नहिं कोई ।।टेक।।
भाव प्रकास न नासत जाको, सो अँधियारा डारै खोई ।।गुरु।।

मेघ समान सबन पै बरषै, कछु इच्छा जाके नहि होय ।
नरक पसूं गति आग मांहि तै, सुरग मुकत सुख थापै जोय ।।१।।

तीन लोक मंदिर में जानौ, दीपक सम परकासक लोय ।
दीप तले अँधियार भर्यो है, अंतर बहिर विमल है सोय ।।२।।

तारन तरन जिहाज सुगुर है, सख कुटुम्ब डोवै जग तोय ।
द्यानत निसि दिन निरमल मन मै, राखौ गुरु पद पंकज दोय ।।३।।

ऐसा[2] सुमिरन कर मेरे भाई, पवन थंभै मन कितहु न जाई ।।टेक।।
परमेसुर सो सांच रहीजै, लोक रंजना भय तज दीजै ।।ऐसा०।।१।।

जप अरु नेम दोउ बिधि धारै, आसन प्राणायाम संभारै ।
प्रत्याहार धारणा कीजै, ध्यान समाधि महारस पीजै ।।ऐसा०।।२।।

सो तप तपो बहुरि नहिं तपना, सो जप जपो बहुरि नहिं जपना ।
सो व्रत धरो बहुरि नहिं धरना, ऐसो मरो बहुरि नहिं मरना ।।ऐसा०।।३।।

पंच परावर्तन लखि लीजै, पांचो इन्द्रियन की न पतीजै ।
द्यानत पांचो लच्छि लहीजै, पंच परमगुरु सरन गहीजै ।।ऐसा०।।४।।

---
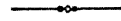
१. छाबड़ो का मंदिर (गुटका नं० ५०), जयपुर की प्रति से ।
२. बधीचन्द मंदिर, जयपुर की प्रति से (द्यानत पद संग्रह, पद नं० ७८, जिनवाणी प्रचारक कार्यालय, कलकत्ता में भी सुरक्षित) ।

संदर्भ-ग्रंथ-सूची

हिन्दी

१. अर्धकथानक—बनारसीदास, सं० श्री नाथूराम प्रेमी, हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय, बम्बई, जुलाई १९४३।

२. अध्यात्म पदावली—सं० राजकुमार जैन, भारतीय ज्ञानपीठ, प्र० संस्करण १९५४।

३. अपभ्रंश साहित्य—डा० हरिवंश कोछड़, भारतीय साहित्य मंदिर, फव्वारा, दिल्ली।

४. आचार्य केशवदास—डा० हीरालाल दीक्षित, लखनऊ विश्वविद्यालय, सं० २०११ वि०।

५. कबीर—हजारी प्रसाद द्विवेदी, हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर प्राइवेट लिमिटेड, बम्बई, छठा संशोधित संस्करण, मई १९६०।

६. कबीर ग्रन्थावली—सं० श्यामसुन्दरदास, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, छठा संस्करण, सं० २०१३।

७. कबीर की विचारधारा—डा० गोविन्द त्रिगुणायत, साहित्य निकेतन, कानपुर, द्वितीय संस्करण, सं० २०१४।

८. कबीर का रहस्यवाद—डा० रामकुमार वर्मा।

९. कबीर साहित्य का अध्ययन—पुरुषोत्तमलाल, साहित्य रत्नमाला कार्यालय, बनारस, प्र० संस्करण, सं० २००८।

१०. काव्य, कला तथा अन्य निबन्ध—जयशंकर प्रसाद, भारती भंडार, लीडर प्रेस, इलाहाबाद, तृतीय संस्करण, सं० २००५।

११. कुन्दकुन्दाचार्य के तीन रत्न—गोपालदास जीवाभाई पटेल, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, प्र० संस्करण, फरवरी १९४८।

१२. ग्रियर्सन कृत द मार्डन वर्नाक्यूलर लिटरेचर आफ हिन्दुस्तान का हिन्दी अनुवाद—अनु० किशोरीलाल गुप्त, हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय, वाराणसी, प्र० संस्करण, नवम्बर १९५७।

१३. गोरखबानी—सं० डा० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, सं० १९९९।

१४. घनआनन्द और आनन्दघन—आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, प्रसाद परिषद, काशी, प्रथमावृत्ति, सं० २००२।

१५. चिन्तामणि (भाग २)—रामचन्द्र शुक्ल, सरस्वती मन्दिर जतनवर, काशी, द्वितीय आवृत्ति, सं० २००६।
१६. जैनदर्शन—प्रो० महेन्द्रकुमार, जैन ग्रन्थमाला, काशी, प्रथम संस्करण विजयादशमी, सं० २०१२ वि०।
१७. जैन कवियों का इतिहास—मूलचन्द बत्सल, जैन साहित्य प्रचारक समिति, जयपुर।
१८. जैन धर्म – पं० कैलाशचन्द्र शास्त्री, भारतीय दिगम्बर जैन संघ, चौरासी मथुरा, तृतीय संस्करण, १९५५।
१९. जातक (प्रथम खंड)-भदन्त आनन्द कौसल्यायन, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, बुद्धाब्द २४८५।
२०. जायसी ग्रन्थावली—रामचन्द्र शुक्ल, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, पंचम संस्करण, सं० २००८ वि०।
२१. जैन शतक—भूधरदास, जिनवाणी प्रचारक कार्यालय, हरीसेन रोड, कलकत्ता, द्वि० आवृत्ति, सन् १९३५।
२२. तुलसीदास – डा० माताप्रसाद गुप्त, प्रयाग विश्वविद्यालय, हिन्दी परिषद, प्र० संस्करण, मई सन् १९४२।
२३. तांत्रिक बौद्ध साधना और साहित्य—नागेन्द्रनाथ उपाध्याय, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, प्र० संस्करण, सं० २०१५।
२४. दोहाकोश—सं० राहुल सांकृत्यायन, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद, पटना-३, प्रथम संस्करण, विक्रमाब्द २०१४।
२५. धर्म विलास (द्यानत विलास)—द्यानतराय, जैन ग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय, बम्बई, प्रथम संस्करण, फरवरी १९१४।
२६ द्यानतपद संग्रह—द्यानतराय, जिनवाणी प्रचारक कार्यालय, हरीसेन रोड, कलकत्ता-७।
२७. नाथ सम्प्रदाय—हजारी प्रसाद द्विवेदी, हिन्दुस्तानी एकेडेमी, उ० प्र०, इलाहाबाद, १९५०।
२८. नाथ सिद्धों की बानियाँ—सं० हजारी प्रसाद द्विवेदी, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, प्र० संस्करण, सं० २०१४।
२९. पुरानी हिन्दी—चन्द्रधर शर्मा गुलेरी, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, प्र० संस्करण, सं० २००५।
३०. पुरातत्व निबंधावली—राहुल सांकृत्यायन, इंडियन प्रेस लिमिटेड, प्रयाग।
३१. बौद्ध धर्म दर्शन—आचार्य नरेन्द्रदेव, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद, पटना-३, प्र० संस्करण, १९५६।
३२. बनारसी विलास—बनारसीदास, नानूलाल स्मारक ग्रंथमाला, जयपुर, सं० २०११।
३३. ब्रह्मविलास—भैया भगवतीदास, जैन रत्नाकर कार्यालय, मुंबई, द्वितीय बार, सन् १९२६।
३४. बौद्ध दर्शन—बलदेव उपाध्याय, शारदा मंदिर, बनारस, प्र० सं० १९४६।

३५. बौद्ध गान ओ दोहा (बंगला में)—सं० [illegible] प० हर प्रसाद शास्त्री, बंगीय साहित्य परिषद, कलकत्ता द्वितीय मुद्रण [illegible] १३३८।
३६. मध्यकालीन धर्म साधना - हजारी प्रसाद द्विवेदी, साहित्य भवन लिमिटेड, इलाहाबाद, प्र० संस्करण, १९५८।
३७. मिश्रबन्धु विनोद (द्वि० भाग)—गंगा पुस्तकमाला कार्यालय, लखनऊ, द्वितीय बार सं० १९८४।
३८. मोह विवेक युद्ध—बनारसीदास, वीर पुस्तक भंडार, जयपुर, वीर निर्वाण सं० २४८१।
३९. मध्यकालीन प्रेम साधना—परशुराम चतुर्वेदी, साहित्य भवन प्राइवेट लिमिटेड, इलाहाबाद, प्र० संस्करण १९५२।
४०. राजस्थान का पिंगल साहित्य - मोतीलाल मेनारिया, हितैषी पुस्तक भंडार, उदयपुर, प्र० संस्करण, १९५२।
४१. रहस्यवाद और हिन्दी कविता—गुलाबराय, सरस्वती पुस्तक सदन, मोती कटरा, आगरा, प्र० संस्करण, सं० २०१३।
४२. सूफी मत साधना और साहित्य - प्रो० रामपूजन तिवारी, ज्ञानमंडल लिमिटेड, बनारस, प्र० संस्करण, सं० २०१३।
४३. समयसार नाटक—बनारसीदास।
४४. सूर पूर्व ब्रजभाषा और उसका साहित्य—डा० शिवप्रसाद सिंह, हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय, वाराणसी-१, प्र० संस्करण, अक्टूबर १९५८।
४५. संत काव्य—परशुराम चतुर्वेदी, किताब महल, इलाहाबाद, प्र० संस्करण, सन् १९५२।
४६. सिद्ध साहित्य—डा० धर्मवीर भारती, किताब महल, इलाहाबाद, प्र० संस्करण, १९५५।
४७. संत सुधा सार—सं० वियोगी हरि, सस्ता साहित्य मंडल प्रकाशन, नई दिल्ली, १९५३।
४८. सुंदर दर्शन—डा० त्रिलोकी नारायण दीक्षित, किताब महल, इलाहाबाद, प्र० संस्करण, १९५३।
४९. संत कबीर-रामकुमार वर्मा, साहित्य भवन लिमिटेड, इलाहाबाद, १९४३।
५०. हिन्दी काव्य में निर्गुण सम्प्रदाय—डा० पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल, अवध पब्लिशिंग हाउस, पानदरीबा, लखनऊ, प्र० संस्करण, सं० २००७ वि०।
५१. हिन्दी साहित्य का बृहत् इतिहास (भाग १)—सं० डा० राजबली पांडेय, काशी नागरी प्रचारिणी सभा, सं० २०१४ वि०।
५२. हिन्दी जैन साहित्य का संक्षिप्त इतिहास - कामता प्रसाद जैन, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, फरवरी १९४७।
५३. हिन्दी काव्य धारा - राहुल सांकृत्यायन, किताब महल, इलाहाबाद, प्र० संस्करण, १९४५।
५४. हिन्दी के विकास में अपभ्रंश का योग—नामवर सिंह, साहित्य भवन लिमिटेड, इलाहाबाद, प्र० संस्करण, फरवरी १९५२।

५५. हिन्दी जैन साहित्य का इतिहास—नाथूराम प्रेमी, जैन ग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय, मुंबई सं० १९७३।

५६. हिन्दी साहित्य का इतिहास—रामचन्द्र शुक्ल, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, ग्यारहवां संस्करण, सं० २०१४।

५७. हिन्दी नाटक, उद्भव और विकास - डा० दशरथ ओझा, राजपाल ऐण्ड सन्स, काश्मीरी गेट, दिल्ली।

५८. हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास—डा० रामकुमार वर्मा, प्र० रामनरायन लाल, इलाहाबाद, तृतीय बार, सन् १९५४।

५९. हिन्दी साहित्य का आदिकाल—आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी, बिहार राष्ट्र भाषा परिषद, पटना-३, द्वितीय संस्करण, सं० २०१३।

६०. हिन्दी साहित्य (द्वितीय खंड)—सं० डा० धीरेन्द्र वर्मा, भारतीय हिन्दी परिषद, प्रयाग, प्र० संस्करण, सं० २०१५ वि०।

६१. हिन्दी साहित्य की भूमिका हजारी प्रसाद द्विवेदी, हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय, बम्बई, चौथी बार, सितम्बर १९५०।

६२. हिन्दी साहित्य का अतीत—विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, वाणी वितान प्रकाशन, ब्रह्मनाल, वाराणसी, प्र० संस्करण, सं० २०१५।

संस्कृत

१. अध्यात्म रहस्य—पं० आशाधर।

२. इष्टोपदेश टीका—श्री पूज्यपाद, सं० शीतल प्रसाद मूलचन्द किसनदास कापड़िया, सूरत, प्रथमावृत्ति, वीर नि० सं० २४४९।

३. कठोपनिषद—गीताप्रेस, गोरखपुर।

४. केनोपनिषद—गीताप्रेस, गोरखपुर।

५. कौलज्ञान निर्णय—सं० डा० प्रबोधचन्द्र बागची, कलकत्ता संस्कृत सिरीज।

६. तत्वानुशासन—रामसेनाचार्य।

७. पुरुषार्थसिद्ध्युपायः—श्री अमृतचन्द्र सूरि, जैन एसोसिएशन रोहतक, प्रथमावृत्ति, सन् १९३३।

८. प्रश्नोपनिषद—गीताप्रेस, गोरखपुर।

९. मुण्डकोपनिषद—गीताप्रेस, गोरखपुर।

१०. श्वेताश्वतरोपनिषद—गीताप्रेस, गोरखपुर।

११. श्रीमद्भागवत गीता—गीताप्रेस, गोरखपुर।

१२. श्रीमद्भागवत—गीताप्रेस, गोरखपुर।

१३. समाधितन्त्र—श्री पूज्यपाद, वीर सेवा मन्दिर, सरसावा, सहारनपुर, प्र० संस्करण, वि० सं० १९९६।

प्राकृत

१. अष्टपाहुड़—कुन्दकुन्दाचार्य, मुनि श्री अनन्त कीर्ति ग्रन्थमाला समिति, बम्बई, प्रथमावृतिः, वीर नि० स० २४५० ।
२. कार्तिकेयानुप्रेक्षा—स्वामी कार्तिकेय, भारतीय जैन सिद्धान्त प्रकाशिनी संस्था, श्याम बाजार, कलकत्ता, प्र० आवृत्ति, वीर नि० स० २४४७ ।
३. पंचास्तिकाय—कुन्दकुन्दाचार्य, परमश्रुत प्रभावक मंडल, जावेरी बाजार, बम्बई, द्वितीयावृत्ति, वि० सं० १९७२ ।
४. भावपाहुड़—कुन्दकुन्दाचार्य ।
५. मोक्खपाहुड़—कुन्दकुन्दाचार्य ।
६. समयसार—कुन्दकुन्दाचार्य, भारतीय ज्ञानपीठ, वाराणसी, प्र० सं० १९५० ।

अपभ्रंश

१. तत्वसार—देवसेन ।
२. दोहाकोष—सिद्ध सरहपाद, सं० राहुल सांकृत्यायन, बिहार राष्ट्र भाषा परिषद, पटना-३, प्रथम संस्करण, वि० सं० २०१४ ।
३. दोहाकोष—डा० प्रबोध चन्द्र बागची, कलकत्ता विश्वविद्यालय, कलकत्ता, १९३५ ।
४. परमात्मप्रकाश—योगीन्दुमुनि, सं० श्री ए० एन० उपाध्ये, परमश्रुत प्रभावक मंडल, बम्बई, १९३७ ।
५. पाहुड़दोहा—मुनि रामसिंह, कारंजा जैन पब्लिकेशन सोसाइटी, कारंजा (बरार) १९३३ ।
६. सावयधम्मदोहा—देवसेन, सं० डा० हीरालाल जैन, कारंजा जैन सिरीज, कारंजा, १९३२ ।
७. योगसार—योगीन्दु मुनि, परमश्रुत प्रभावक मंडल, बम्बई, १९३७ ।

English

1. A History of Indian Literature (Vol. II) M. Winternitz, University of Calcutta, 1933.
2. An Introduction to Tantric Buddism—Dr. Shashibhushan Dasgupta, University of Calcutta 1950.
3. Encyclopedia of Religion and Ethics—Dr. Tasitory.
4. Gorakhnath and the Kanphata Yogis—W. Briggs, Religious Life of India Series, Calcutta, 1938.
5. Indian Philosophy—Chandra Dhar Sharma.
6. Indian Philosophy (I)—Dr. Radhakrishnan, London, George Allen and Unwin Ltd., 1941.

7. Mysticism and Logic—Bertrand Russell, Penguin Books, Reprinted 1954.
8. Mysticism in Maharashtra—R. D. Ranade, Aryabhushan Press Office, Poona-2, Ist Edition, 1933.
9. Mysticism—Evelyn Underhile, Mathuen and Co. Ltd., London, 1957.
10. Obscure Religious Cults—Dr. Shashibhushan Dasgupta, University of Calcutta, 1946.
11. Religious Consciousness—J. B. Pratt.
12. Samayasar of Kundakunda-Edited by Prof. A. Chakravarti, Bhartiya Jnanapitha, Kashi, Ist Edition, May 1950.
13. Shakti and Shakta—Sir John Woodroffe, Ganesh & Co. (Madras) Ltd. Madras-17, Fourth Edition 1951.
14. Theory and Art of Mysticism—Radhakamal Mukerjee.

कोष और खोज विवरण

१. जिन रत्न कोष—हरि दामोदर वेलनकर, भंडारकर ओरियन्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट, पूना, १९४४।
२. पाइअसद्दमहण्णवो—पं० हरगोविन्ददास त्रिकमचंद सेठ, प्रथम संस्करण, कलकत्ता, १९२८।
३. राजस्थान में हिन्दी के हस्तलिखित ग्रन्थों की खोज (प्रथम भाग) मोतीलाल मेनारिया, हिन्दी विद्यापीठ, उदयपुर, सन् १९४२।
४. राजस्थान में हिन्दी के हस्तलिखित ग्रन्थों की खोज (तृतीय भाग) उदयसिंह भटनागर, साहित्य संस्थान, राजस्थान विश्वविद्यापीठ, उदयपुर, सन् १९५२।
५. राजस्थान में हिन्दी के हस्तलिखित ग्रन्थों की खोज (चतुर्थभाग) अगरचन्द नाहटा, साहित्य संस्थान, राजस्थान विश्वविद्यापीठ, सन् १९५४।
६. राजस्थान के जैन शास्त्र भांडारों की ग्रन्थ सूची (भाग २)—सं० श्री कस्तूरचन्द कासलीवाल, श्री दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र महावीर जी, महावीर पार्क रोड, जयपुर।
७. राजस्थान के जैन शास्त्र भांडारों की ग्रन्थ सूची (भाग ३)—सं० श्री कस्तूरचन्द कासलीवाल, जयपुर, वि० सं० २०१४।
८. हस्तलिखित हिन्दी ग्रन्थों का पन्द्रहवां त्रैवार्षिक विवरण, (खोज रिपोर्ट सन् १९३२-३४) नागरी प्रचारिणी सभा, काशी।
९. हस्तलिखित हिन्दी ग्रन्थों का सोलहवाँ त्रैवार्षिक विवरण (खोज रिपोर्ट सन् १९३५-३७) नागरी प्रचारिणी सभा, काशी।
१०. हस्तलिखित हिन्दी ग्रन्थों का सत्रहवां त्रैवार्षिक विवरण (खोज रिपोर्ट सन् १९३८-४०) नागरी प्रचारिणी सभा, काशी।

हस्तलिखित ग्रन्थों की सूची

१. अध्यात्म पंचासिका—द्यानतराय, १८वीं शताब्दी, प्रति श्री बाबूराम जैन, करहल, जि० मैनपुरी के पास सुरक्षित।
२. अध्यात्म सवैया—रूपचन्द्र, १७वीं शताब्दी, एक प्रति बधीचन्द मन्दिर, जयपुर और दूसरी ठोलियों के मन्दिर, जयपुर में सुरक्षित।
३. अध्यात्म बावनी-(ब्रह्म विलास) ब्रह्मदीप, प्रति लूणकरण जी पांड्या मंदिर, जयपुर में सुरक्षित।
४. आणदा—आनन्दतिलक, १२वीं शताब्दी, प्रति आमेर शास्त्र भांडार, जयपुर में सुरक्षित, दूसरी प्रति अभय जैन ग्रन्थालय, बीकानेर में श्री अगरचन्द नाहटा के पास सुरक्षित।
५. आत्म प्रतिबोध जयमाल—छीहल, १६वीं शताब्दी, प्रति दिगम्बर जैन मन्दिर बड़ा, तेरहपंथियों, जयपुर में सुरक्षित।
६. इग्यारह अंग स्वाध्याय—यशोविजय, प्रति अभय जैन ग्रन्थालय, बीकानेर में सुरक्षित।
७. उपदेशदोहाशतक—पांडे हेमराज, १८वीं शताब्दी, ठोलियों का मन्दिर, जयपुर तथा बधीचन्द जैन मन्दिर, जयपुर में प्रति सुरक्षित।
८. खटोलना गीत—रूपचन्द, १७वीं शताब्दी, प्रति आमेर शास्त्र भांडार, जयपुर में सुरक्षित।
९. गीत परमार्थी—रूपचन्द, १७वीं शताब्दी, प्रति आमेर शास्त्र भांडार, जयपुर में सुरक्षित।
१०. गीत संग्रह—यशोविजय, प्रति वर्द्धमान ज्ञान मन्दिर, उदयपुर में सुरक्षित।
११. दिगपट खण्डन यशोविजय, प्रति अभय जैन ग्रन्थालय, बीकानेर में सुरक्षित।
१२. दोहाणुवेहा—लक्ष्मीचन्द, रचनाकाल ११वीं शताब्दी, प्रति आमेर शास्त्र भण्डार, जयपुर में सुरक्षित।
१३. दोहापाहुड—महयन्दिण मुनि, प्रति आमेर शास्त्र भाण्डार, जयपुर में सुरक्षित।
१४. परमार्थदोहाशतक—रूपचन्द, १७ वीं शताब्दी, इसकी एक प्रति लूणकरण जी के मन्दिर जयपुर में, दूसरी प्रति बड़े मन्दिर, जयपुर में, तीसरी प्रति बधीचन्द मन्दिर, जयपुर में और चौथी प्रति अभय जैन ग्रन्थालय बीकानेर में सुरक्षित है।
१५. फुटकल पद—द्यानतराय, १८वीं शताब्दी, पद छाबड़ों का मन्दिर, जयपुर तथा बधीचन्द जैन मन्दिर, जयपुर में सुरक्षित हैं।
१६. फुटकल पद - रूपचन्द, १७वीं शताब्दी, ६२ पद जयपुर के विभिन्न शास्त्र भांडारों में तथा ६९ पद अभय जैन ग्रन्थालय, बीकानेर में सुरक्षित हैं। दोनों संग्रहों में कुछ पद समान हैं।
१७. फुटकल पद—ब्रह्मदीप, पद आमेर शास्त्र भांडार, जयपुर के गुटकों में सुरक्षित।

१८. मनकरहारास-- ब्रह्मदीप, लिपिकाल सं० १७७१, प्रति आमेर शास्त्र भांडार, जयपुर में सुरक्षित।
१९. माँझा - बनारसीदास, १७वीं शताब्दी, बधीचन्द जैन मन्दिर, जयपुर में प्रति सुरक्षित।
२०. योगसार—योगीन्दु मुनि, रचनाकाल ८वीं-९वीं शताब्दी, प्रति आमेर शास्त्र भांडार, जयपुर में, दूसरी प्रति ठोलियों का मन्दिर, जयपुर में सुरक्षित है।
२१. श्री चूनरी—भगौतीदास, रचनाकाल सं० १६८०, प्रति मथुरा निवासी पं० बल्लभराम जी के पास सुरक्षित।
२२. श्रीपाल रास--यशोविजय, रचनाकाल सं० १७३८ प्रति वर्द्धमान ज्ञान मन्दिर, उदयपुर में सुरक्षित।
२३. समाधितन्त्र--यशोविजय, प्रति सरस्वती भांडार, मेवाड़ में सुरक्षित।
२४. समताशतक—यशोविजय, प्रति अभय जैन ग्रन्थालय, बीकानेर में सुरक्षित।
२५. संयम तरंग—ज्ञानानन्द, प्रति अभय जैन ग्रन्थालय, बीकानेर में सुरक्षित।

हिन्दी पत्र पत्रिकाएँ

१. अनेकान्त—वर्ष ५, किरण १-२, फरवरी-मार्च १९४२, वीर सेवा मन्दिर, १-दरियागंज, दिल्ली।
२. अनेकान्त—वर्ष ७, किरण ४-५, दिसम्बर-जनवरी, १९४४-१९४५ वीर सेवा मन्दिर, १-दरियागंज, दिल्ली।
३. अनेकान्त—वर्ष १०, किरण २, अगस्त १९४९, वीर सेवा मन्दिर, दिल्ली।
४. अनेकान्त—वर्ष ११, किरण ४-५ जुलाई १९५३, ,, ,,
५. अनेकान्त—वर्ष १२, किरण ७, दिसम्बर १९५३, ,, ,,
६. अनेकान्त—वर्ष १२, किरण ९, फरवरी १९५४, ,, ,,
७. अनेकान्त—वर्ष १४, किरण १०, मई १९५७, ,, ,,
८. कल्याण—योगांक, गीता प्रेस, गोरखपुर।
९. जैन हितैषी—अंक ५-६ (फाल्गुन-चैत्र) वीर नि० सं० २४३६, जैन ग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय, बम्बई।
१०. जैन हितैषी—अंक ७-८, (वैशाख-ज्येष्ठ) वी नि० सं० २४३६।
११. वीणा—वर्ष १२, अंक १, सं० १९९५ इन्दौर।
१२. वीर वाणी—वर्ष २, अंक १, ३ अप्रैल, १९४८, मनिहारों का रास्ता, जयपुर।
१३. वीर वाणी—वर्ष २, अंक ६, १८ जून, १९४९ ,, ,,
१४. वीर वाणी—वर्ष २, अंक १९-२०, १८ जनवरी, १९४९ ,, ,,
१५. वीर वाणी—वर्ष ३, अंक १४-१५, सन् १९५० ,, ,,
१६. वीर वाणी - वर्ष ३, अंक ११, सन् १९५० ,, ,,
१७. वीर वाणी वर्ष ५, अंक २-३, मई-जून, १९५१ ,, ,,
१८. वीर वाणी—वर्ष ६, अंक २३-२४, सन् १९५२ ,, ,,
१९. वीर वाणी—वर्ष १०, अंक १४-१५, सन् १९५६ ,, ,,

अनुक्रमणिका

नामानुक्रमणिका

अ

अंगिरा १३६
अगरचन्द नाहटा ५६, ५७ ५८, ८, ८७, ६४, ६५, १०६, १२६, १२७
अजयपाल २१५
अभयराज ६१
अमृतचन्द्र १८, ७५, १३६
अमितगति १८
अमीर खुसरो १२१
अर्हद्बलि आचार्य ५०

आ

आदिनाथ २१२, २१३
आनंद १०३
आनंदघन १८, २६, १०३, १०४, १०५, १०६, १०७ १०६, ११०, १११, १६६, १७०, १७४, १८५, २१७, २१८, २२०, २२१, २२४, २२६, २३१, २३२, २३३, २३४, २३५, २३६, २५५, २५६ २६२, २६४, २६५, २६६, २६७
आनंदतिलक १८, २५, ५६, ५७, ५८, ५६, ६०, १६५, १८२, १६०, १६१, २२५, २४४, २४५, २५१, २६६
आर० डी० रानाडे १७, १५८
आशाधर १५३

इ

इन्द्रजीत सिंह ११५

उ

उदय सिंह भटनागर ३८

ए

एकनाथ ४७
ए० चक्रवर्ती १३१
ए० एन० उपाध्ये १६, २४, ३४, ३५, ३७, ३८, ३६, ४२, ४४, ४३, ४६, ५०, ६०, ६१
एलाचार्य ३०
ए० वी० अण्डरहिल १५६

औ

औरंगजेब ११४, १२४

ऋ

ऋषभदेव १६, १७, १८

क

कंथाधारी २१२
कण्हपा २४, ४०, २०५, २०७, २४३, २४८
कबीर ७, २३, २६, ५६, ७३, ७४, ८०, ८२, ८४, ६०, १०३, १०६, १०६, १६६, १६८, १६६, १७६, १८६, २१४, २२२, २२३, २२४, २२५ २२६, २२७, २२८, २२६, २३०, २३१, २३३, २३४, २३५, २३८, २४६, २४७, २५३, २५६, २५७, २६०, २६१, २६२, २६३, २६५, २६६
कमरिपा ३६
कृष्णपाद २१५
कल्याणी मल्लिक (डा०) २१४
कस्तूरचन्द कासलीवाल ५६, ५७, ६२, ७७, ८१, १२३
काणेरी जी २१५, २१७, २२०

कामताप्रसाद जैन ३८, ६६, ७४, ७७, ८७, ११५
कार्तिकेय स्वामी १८, २४, ३४, ३५, ३६, १२१, १४२, १५३, १५४, १७३
किमूर (डा०) २०३
किशोरी शरण ६४
कीर्तिचन्द्र ६१
कीर्ति सिंह १२३
कुँवर पाल ७१,७२
कुन्दकुन्दाचार्य १२,१५,१८,२१, २३, २४, २८, २६, ३०, ३१, ३३,३४,३५,३६,४५, ५१,५२,६२, ६३,७५, १३३,१३५, १३६, १३८,१४१ १५३,१७६,१६४
कुक्करीपा ३६
कुमुदचंद्र ७४
कुल्लूक भट्ट १०
केशवदास २६,११४,११५

ख

खरगसेन ६६,७०

ग

गंगाधर ६६
गम्भीर विजय १०६
गाँधी ३८
गुण्डरीपा ३६
गुणभद्र १८
गुलाल साहब ८४,२३६,२५४
गोपाल ७८
गोपाल साहु ५६,५७
गोपीचंद २१७,२६१
गोपीनाथ कविराज २४६
गोरखनाथ ७३, १६७, २१२, २१४, २१५, २१६,२१७,२१६,२२०,२४३,२५३, २५८
गोरक्षपा ४०
गोविन्द त्रिगुणायत (डा०) २०३,२४?,२५३
गौतम गणधर २८
गौतम बुद्ध ४६,१६६
गृद्ध पृच्छ ३०

घ

घनमल ६६
घनानंद १०३
घोड़ाचोली २१५

च

चंड ३८,४०,४२
चन्द्रकीर्ति १३७
चन्द्रधर शर्मा १२
चन्द्रधर शर्मा गुलेरी ४०
चतुर्भुज ७१
चतुर्मुख २२
चर्पटनाथ २१२,२१५,२२०,२६१
चरनदास २३६
चाहण सौगाणी ६२
चिदानंद २७
चित्रगुप्त ७३
चेतन ६४
चैनसुखदास २५
चौरंगीनाथ २१४, २१५, २१७

छ

छीहल १८, २५, ६६, ६७, ६८, २४६, २६६

ज

जगजीवन ७१, ७२, ७७, ७६, २३६, २५४
जगत प्रसाद २१
जगत राय १२५, १२६
जहाँगीर ८६, ६०
जायसी ७, २३, १२१
जिनदास ६६
जेठमल ६६
जे० बी० प्रेट १५६

झ

झाभू १२६

ट

टेंटणपा ४०
टैसीटरी ७६

ड

डोम्बिपा ३६

त

तिलोपा २०४, २०६, २४२, २४८, २५८
तिहुनासाहु ८३
तुकाराम ४७
तुलसीदास २३, २६, ३८, ४६, ७२, ७३ ७४, १२२, १८२
तुलसी साहब २५७

द

द्यानतराय २६, २७, ७१, ७२, ८७, १०६, १२४, १२५, १२६, १५३, १५५, १६०, १६७, २५५, २६६
दण्डी ४०
दत्त जी २१५
दरिया साहब २३६
दयाबाई २५४
दयासिंह ९५
दशरथ साहु ११३
दादू २३, ७८, ८४, १०५, २३६, २४७ २५३
दारिकपा ३६
दासगुप्त (डा०) २०२
दीपचन्द २७
दूलनदास २४७
देवचन्द्र १०६
देवसेन १८, ४३, ५२, ६१, १६६, १६७
दौलतराम १८,२७

ध

धनपाल २२
धरनीदास २३६
धरसेन ४०
धर्मचन्द्र ६२, ६३
धर्मदास ७१, ८४, २३६, २५४
धर्मपाल २०५
धर्मवीर भारती (डा०) २०४, २१४, २४१, २४४

भामरा ४०

न

नन्ददास २६
नागार्जुन १३७ २१२, २१५
नागेन्द्रनाथ उपाध्याय २०३
नाथूराम प्रेमी ६६, ७७, ८५, ८७, ९३, ९४, १०३, ११२, १२६
नादिरशाह १२५
नानक २२४
नामदेव ४७
नेमिचन्द्र १८
नेमिनाथ १६, १२३, २२५

प

पतंजलि २११
पद्मनन्दी ३०, ३५, ६२, ६३
पन्नालाल ३४
परमहंस रामकृष्णदेव २३
परमानन्द जैन ६०, ८६, ९९
परशुराम चतुर्वेदी १०५
पाण्डे रूपचन्द ५०, ७०, ९१, ९२, ९३, ९४, ९५
पाण्डे हेमराज २६,२७,१२२ १२३,२६६
पार्श्वनाथ १६ ६३, २१५
पीताम्बर दत्त बडथ्वाल (डा०) २१४,२५२
पुष्पदंत २२
पूज्यपाद १२,२४,१४६,१५३,१५८,१६१, १६७
पृथ्वीनाथ २१५
पृथ्वीराज २१४
प्रबोधचन्द्र बागची २०५
प्रभाचन्द्र ६२,६३

फ

फर्रुखसियर १२४

ब

बनारसीदास १८,२६,४६,६६,७०,७१,७२, ७३ ७४, ७५,७६,७७, ७८,७९,८०, ८१, ८२,८३,८४, ८५, ८६,८७, ८८,९१,९२, ९३ ९४,९५, १००, १०६, १२२, १२४,

१३४,१४१,१५१,१५६ १६२,१६७,१८६, १६२,१६५,२१४,२२४,२३६,२३७,२३८, २४४,२४५,२५१,२६६,२६७
बनारसीदास चतुर्वेदी ७५
बर्ट्राण्ड रसेल ४,१४,१५
ब्रह्मदीप २७,५१,१०१,१०२,१७७,२६६
ब्रह्मदेव ३७,३८,४६
बल्लभराम ६०
बसवन्न ४७
बहादुरशाह १२४
बाणभट्ट ३५
बालचन्द्र ५०,६५
बिहारीदास १२४
बुधजन २७

भ

भगवतीदास २६,५०,७१,७२,८६,८७,८८, ८६,६०,१०१,१७७
भगवानदास ६१
भट्ट प्रभाकर ४४
भद्रबाहु २८,२६
भरत १६
भरथरी २१४,२४३,२५८
भागचन्द २७
भागेन्दु ३८
भादेपा ४०
भामह ४०,६१
भीखा साहब २३६,२५४
भीमसी मणिक ६४
भुसुकपा ३६,२०५,२४३,२४८
भूधरदास २७,७१,७२
भूपति ६१
भैया भगवतीदास १८,२६,२७,७१,७२, ७६,८६,८७,८८,११३,११४,११५, ११६, १२०,१२२, १४१,१४५,१४६,१५१,१५३, १५५,१७०,१७४, १७८,१८३,१८५,१८७, २६७

म

मत्स्येन्द्र नाथ २१४,२१५,२५१
मधुकर शाह ११५
मधुसूदन मोदी ३८
मनु १०
मल्ल ७८
मलूकदास ६६,२३६
मस्कीन जी १०५
महयदिण मुनि २५,६२,६३,६४,६५,२६६
महादेव जी २५३
महादेव शास्त्री २११
महानन्दि देव ५६,५७
महीपा ४०
महेन्द्र कुमार १८,१४३
महोपाध्याय रूपचन्द ६४,६५
मानसिंह १२४
मिश्रबंधु १०३,१०७,१२२
मीरा ५६, १०५
मुनि माहेन्द्रसेन ८७,८६
मुनि रामसिंह १४,१६,१८,२१,२४,२५,३१, ४०,४३,४७,४८,४६,५०,५२,५३,५५,५६, ६०,६५, १००, १०१, १५२, १६१,१६६, १७१,१७४,१७७,१८०,१८५,१६०, १६६, १६८,२०६,२०७,२०८,२०६,२१७,२१८, २१६,२२०,२२३,२२४,२२५,२२६,२२८, २३८,२४६,२५०,२५१,२५४,२५५,२५६, २६२,२६६
मुहम्मदशाह १२४
मेघविजय उपाध्याय ८४
मोतीलाल मेनारिया २६,११२,२३६

य

यशोविजय २४,२६,१०३,१०४,१०५,१०६, १११,११२,११३
योगीन्दु मुनि १८,१६,२०,२१,२४,२५,२६, ३१,३४,३६,३७,३८,३६,४०,४१,४२,४३, ४४,४५,४६,४७, ४८, ४६, ५२,५८,५६, ६०,१००,१३२,१४१,१४३, १४६, १४८, १५०,१५३,१५४,१५५,१५८,१६०,१६४, १६६,१६८,१७१,१७३,१७४,१७६,१७७, १८०,१८३,१८७,१६४,१६६,२०६,२०७,

२०८,२०६,२१५,२१८,२१६,२२०,२२३,
२२५,२२६,२२८,२४४,२४५,२४६,२५०,
२५१,२५८,२५६,२६६

र

रज्जब २३,२३६,२५३
रवीन्द्रकुमार जैन ७८
राजकुमार जैन ७७
राजमल्ल ७५
राधाकृष्णन (डा०) १२,१८,१४०
रामकुमार वर्मा (डा०) ६६,२१०
रामचन्द्र शुक्ल ६,२२,६४,६६ ७४,७५ ८४,
२१४
रामदास १५७,१८६,१६१
रामदेव ४७
रामबोला ४६
रामसेनाचार्य १३५
राहुल सांकृत्यायन ३६,४०,१६६,२०४,
२०५,२१२
रूपचंद १८,२६,५०,७१,७२,८७,६१,६२,
६३,६४,६५,६८, ६६, १००, १२२,२२०,
२४४,२६६,२६७
रैदास २४७

ल

लक्ष्मण नाथ २१५
लक्ष्मीकरां २०३,२०४
लक्ष्मीचंद २५,४३,६०,६१,१६१,१६२,
१६६,२६६
लक्ष्मीधर ४३
लाभानंद १०६
लाल जी ११३
लाल दास ७८
लुइपा ३६,२०२,२०५

व

व्याडि ४०
वक्रग्रीव ३०
वट्टकेर ३५
वर्धमान महावीर १२,१६,२८,३४
वस्तुपाल ६६
वसुबंधु १४७
वृन्दावन २७
वाचस्पति मिश्र २११
विक्रमाजीत ७०
विद्यापति २६
विण्टरनित्स २४ २६,३४,२०२
विनयतोष भट्टाचार्य २०५
विनय विजय २७, ११२
विरुपा ३६
विलियम जेम्स १३८
विश्वनाथ प्रसाद मिश्र १०३,१०७,१०८,
१११,२२२
वीरचन्द ६४
वीरदास १२४
वैरागी ७१

श

शंकराचार्य २१३
शबरपा ३६,२०५
शहीदुल्ला (डा०) २१४
शाह आलम ६२,६३
शाहजहाँ ८८,८६
शान्तिहर्ष ६५
शिवनाथ ६७
शिव नारायण २५७
शिवप्रसाद सिंह (डा०) २५,६६
शिव सिंह सरोज १०३
शिवार्य ३५
शुभचन्द्राचार्य ३५,६२,६३
शुभेन्दु ३८

स

स्वयंभू २२
समंतभद्र १४०
सर जान वुडरफ २०१
सर जार्ज ग्रियर्सन १०३
सरहपा २४,३६,५०,२०४,२०६,२०७,२०८
२४२,२४४,२४८,२५८
सिद्धार्थ ४६

सुखवर्धन　　९५

सुन्दरदास　२३,७२,८४,११६,२१६,२२४, २३६,२३७,२३८,२३६,२४७,२५२,२६६

श्रुतसागर　　३७

सूरदास　　२६,५६,७४,१०६,१२१

सोमप्रभाचार्य　　७२

ह

हजारी प्रसाद द्विवेदी (डा०)　१६,३८,३६, २०५,२१२,२१४,२१६,२४७,२५०,२५६, २६२

हरप्रसाद शास्त्री (महामहोपाध्याय) २०२, २०४

हर्मन याकोबी　　१८

हरि नारायण शर्मा　　७२

हरिराज　　६१

हरिवंश कोछड़ (डा०)　　४२

हीरानन्द　　८९

हीरालाल जैन (डा०) ३०,४३,४७,४८,५०, ५१,५२,६१,१७७

हेमचन्द्र　　४१,४२,५२,५३

क्ष

क्षितिमोहन सेन २६,१०३,१०५,१०६,१०८

ज्ञ

ज्ञानदेव　　४७

ज्ञानानंद　　२७

ज्ञान विमल　　१०७

ज्ञानेश्वर　　१८६

ज्ञानसार　　१०७

ग्रंथानुक्रमणिका

अ

अखरावट १२१

अट्ठकथा १६६

अर्धकथानक ६६,७०,७३,७४,७६,७७,७८, ८४,६१,६३,२३६

अध्यात्म पंचासिका १२८

अध्यात्म बावनी २७,१०१

अध्यात्म बारहखड़ी ६५

अध्यात्म रहस्य १५३

अध्यात्म परीक्षा १११

अध्यात्म संदोह ४२

अध्यात्म सवैया ६३,६८,२६६

अध्यात्म सार १११

अनन्त चतुर्दशी चौपाई ८८

अनुप्रेक्षा भावना ८८,८६

अनेकान्त ६२

अनेकार्थ नाममाला ७२,८८,८६

अपभ्रंश काव्यत्रयी ३८

अपभ्रंश पाठावली ३८

अभिधर्म कोष १४७

अमृताशीति ४२

अमरसिंह बोध ७३

अमरु शतक ६५

अलंकार शास्त्र ७०

अष्टपाहुड़ २१,२३,३०,५१,५२

आ

आगम विलास १२५,१२७

आणंदा २५,५६,५८,५६,६०,२६६

आत्म प्रतिबोध जयमाल २५,२६,६६,६७ ६८,२६६

आदित्त व्रत रासा ८८

आदित्यवार कथा ८८

आदिनाथ शान्तिनाथ विनती ८८

आनंदघन चौबीसी १०७

आनंदघन बहोत्तरी २६,१०८,१०६,२२६

आप्तमीमांसा १३८

इ

इग्यारह अंग स्वाध्याय ११२

इभक्तामर भाषा १२२

इष्टोपदेश २४,१४६

उ

उदर गीत ६७

उपदेश दोहा शतक २७,६३,६५,१२३ १२४,१२८,२६६

उपादन निमित्त की चिट्ठी ८६

क

कठोपनिषद ५,१४८

कबीर ग्रंथावली ५०

कबीर गोरख गुष्ट ७३

कबीर मंसूर २५६

कर्म प्रकृति विधान ७४

कल्याण मंदिर भाषा ७४

कार्तिकेयानुप्रेक्षा २४,३४,३५,१५३,१५४, १७३

केनोपनिषद ५

ख

खटोलना गीत ६३,६६,२६६

खिचड़ी रासा ८८

ग

गीता ४,६,८,२११

गीत परमार्थी ६३,६७

गीत संग्रह ११२,११३

गुणमाला प्रकरण ६५
गुरु ग्रंथ साहब २२२
गोम्मटसार ३०,५१,६१,६३,१२२
गोरखबानी २१४
गोरखनाथ की बानी ८५
गोरखनाथ के वचन ७६
गोरक्ष सिद्धान्त संग्रह २६०
गौतमीय काव्य ६५

च

चरित्र पाहुड ५२
चौरासी पाहुड २३,३०,५१
चौरासी बोल १२२

छ

छीहल बावनी २५,६७

ज

ज्योतिषशास्त्र ७०
जैन तर्क भाषा १०४
जैन बारहखड़ी ६५
जैन शतक २७
जैनेन्द्र व्याकरण २४

ट

टंडाणा रास ७२,८८

ढ

ढमाल राजमती नेमीसुर ८८

त

तत्वार्थ सूत्र १६३
तत्वानुशासन १३५
तत्वसार १६७
तत्वार्थ टीका ४२
तपकल्याणक १००
तैत्तरीयोपनिषद ५

द

द्यानतविलास २७,१२६
द्वादश अनुप्रेक्षा १२१
दतिवार की कथा ७६
दर्शन पाहुड ५२
दर्शन सार ४३ ५२
दशलाक्षणी रासा ८८
द्रव्य संग्रह ११३
दासबोध १५७,१६१
दिगपट खंडन ११२,११३
दोहाछन्दोबद्ध ६०
दोहाणुवेहा ६०,६१
दोहापरमार्थ ६६
दोहापाहुड २५,४२,४३,४७,४६, ५०, ५१, ५२, ५३, ५८, ५६, ६०,६२,६३,६४,६५, १०१, १४६, १७१, १७४, १७७, १६०, २२८,२२६,२६६

ध

धर्मविलास ८७ १२५,१२६,१५३
ध्रुव वंदना ७४

न

नयचक्र की वचनिका १२२,१२३
नय प्रदीप १०४
नय रहस्य १०४,१११
नवरस ७१,७५,७८
नाटक समयसार ७१,७४,७५,७६,८६,६२, ६३,६४,१८८
नाथ सम्प्रदाय २१२
नाथ सिद्धों की बानियाँ २१४,२१५
नाममाला ७०,७४,७५
निजात्माष्टक ४२,४३
नियमसार ३०
नेमिनाथ रासो ४७,६७
नौकार श्रावकाचार ४२,४३,६०

प

पंच कल्याण मंगल ६३,६५
पंच मंगल १००
पंच सहेली २५,६६,६७
पंचास्तिकाय १५,३०,८९
पंचास्तिकाय टीका ११२
पंथीगीत ६७
पखवाड़े का रास ८८
पद्मावत २३
पदसंग्रह २७

परमात्मप्रकाश १६, १६, २०,२१,२४,२५, ३१,३७,३८,४०,४१,४२, ४३, ४४, ४७, ४८, ४६, ५०,५२,५८,५६,६०,६१,१२३, १४३,१४८,१५३,१६५,१७७,२२३
परमार्थ वचनिका ८६
प्रकरण रत्नाकर ६४
प्रमाण वार्तिकालंकार १६३
प्रश्नोत्तर १०६
प्रश्नोपनिषद १४८
प्रवचनसार २३,३०
प्रवचनसार टीका १२२,१२३
पाइअसद्दमहण्णवो ५१
पार्श्वपुराण २७
पाहुड़दोहा १५,१६ २१,२५,३१,४७,४८, ५१,५२,१६१,२२३

ब

बनजारा ७२,८८,८६
बनारसीपद्धति ७४
बनारसी विलास ७२, ७४, ७६, ७७, ७६, ८०,८५
ब्रह्म विलास २७,७६,८६,८८,११३,११४, ११५,१५३
बारस अणुवेक्खा ३०
बारहखड़ी ६४
बाल बोधिनी टीका ७५
बालावबोध टीका १०७
बावन अक्षरी छैढाल्यौ १२५
बोधपाहुड २८,२६,३१,५२
बौद्ध दर्शन १३७

भ

भर्तृहरिशतक त्रय ६५
भारतीय साहित्यका इतिहास २६
भाव पाहुड २३,३१,३३,५२
भाव संग्रह ४३
भेदविज्ञान और आत्मानुभव १२७

म

मनकरहारास २७, ५०, ५१,७२,८८,१०१, १०२,१७७,२६७
मृगांक लेखा चरित ७२,८८
माँझा ७७,२६६
मारगन विद्या ७४
मिश्रबन्धु विनोद १०३,१२२,१२८
मुण्डकोपनिषद ४,१३६,२५५,२६३
मोक्खपाहुड १२, १५, २३, ३१, ३३, ५२, १३३,१५३,१६४
मोह विवेक युद्ध ७७,७८
मोक्षपदी ७४

य

युक्ति प्रबोध ८४
योगसार ३१,३४,३७,३८,४०,४१,४२,४३, ४४, ४७, ४८, ४६, ५०, ५८, ५६, ६०, १५१,१५३,१६०,१६४,१६८,२२३
योगीरासा ८८,८६
योगवशिष्ठ २११

र

रयणसार ३८
रसिकप्रिया ११४, ११५, ११६
राजगुह्य २१३
राजस्थान के जैन शास्त्र-भाण्डारों की ग्रंथ-सूची २५
रामचरितमानस २३,३८,७३
रामायण ७१
रे मन गीत ६७
रोहिणी व्रत कथा १२३

ल

लघुस्तवन ६५
लघुसीतासतु ७२,८८
लिंग पाहुड़ २३,३१

व

वर्णरत्नाकर २०५,२१२
विनती १००
विश्वभारती २६
वीणा २६
वीर जिनेन्द्र गीत ८८
वेद निर्णय पंचासिका ७४
वेदांत अष्टावक्र ७६,८०

वैद्यक शास्त्र २४
वैराग्य पच्चीसी ७६

श

श्वेताश्वतर उपनिषद ६,१४८
शिव पच्चीसी ७६
शीलकल्याणकोद्यान ६४

ष

षडपाहुड ३० ४७

स

संयम तरंग २७
संस्कृत नाममाला ७५
सज्ञानी ढमाल ८८
सपना गीत ६७
समवसरण ६१,६४
समता शतक ११२.११३
सम्मेलन पत्रिका २६
समयसार २३,३०,३३,७५
समाधितंत्र २४,२६,११२,१५३,१६१
समाधिरास ७२,८८
समुद्रबद्ध कवित्त ५
सर्वाङ्गयोग प्रदीपिका २१६,२३८,२५२
सर्वार्थ सिद्धिः २४
सरक्य-क्कं-वुम् २०५
स्वामी कुमारानुप्रेक्षा ४७
सावयधम्मदोहा १५,४३,५२,६०,६१
श्रावकाचार ६०, ६१
श्रावक प्रायश्चित ६४
सितपट १२२
सिद्ध सिद्धांत पद्धति ऐण्ड अदर वर्क्स आफ नाथ योगीज़ २१४
सिद्धहेमचंद्रशब्दानुशासन ४१,५२
सिद्धांत चंद्रिका वृत्ति ६५
श्री चूनड़ी २६,८८,६०
श्रीपाल रास ११२
श्रीमद्भागवत १६,१७,१८,२११
सुगंध दसमी कथा ८८
सुंदर ग्रंथावली ७२
सुभाषित तंत्र ४२
सूक्तिमुक्तावली ७२
सूर पूर्व ब्रज भाषा और साहित्य २५,६६
सूत्र पाहुड ५२

ह

हिन्दी साहित्य का बृहत् इतिहास ३८,४३
हेमी नाममाला ६५
हेवज्रतंत्र २४८

ज्ञ

ज्ञान कल्याणक १००
ज्ञानदशक १२८
ज्ञानपच्चीसी ७६,८०
ज्ञान बिंदु १०४
ज्ञान सार १११